भर्तृहरि का वाक्यपदीय

पुण्यराज की दृष्टि में

कान्ता भाटिया

भर्तृहरि का वाक्यपदीय
पुण्यराज की दृष्टि में

डॉ० कान्ता रानी भाटिया
भारतीय महिला महाविद्यालय
दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली वाराणसी
(भारत)

भारतीय विद्या प्रकाशन
1. १, यू० बी०, जवाहर नगर, बैंगलो रोड, दिल्ली-११०००७
2. कचौड़ी गली, पो० बा० 1108, वाराणसी-२२१००१

प्रथम संस्करण : 1992

मूल्य : 250.00

मुद्रक :
ए० आर० प्रिंटर्स,
डी-102, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-११००५३

सम्पादकीय

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि डॉ० कान्ता भाटिया का विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ "भर्तृहरि का वाक्यपदीय पुण्यराज की दृष्टि में" प्रकाशित होकर विद्वानों के समक्ष आ रहा है। यह ग्रन्थ विशेषतः दो कारणों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

पहला कारण तो यह है कि क्योंकि पुण्यराज की टीका वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड अर्थात् वाक्यकाण्ड पर है जिसमें वाक्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विश्लेषण भाषा वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से बड़ी ही सूक्ष्मेक्षिका से किया गया है। संस्कृत-व्याकरण के समस्त वैयाकरण-निकाय में जहाँ दूसरे भाषिक-तत्वों और दार्शनिक आधार-बिन्दुओं का वर्णन बड़ी गम्भीरता से किया गया है, वहाँ वाक्य के सम्बन्ध में कोई जानकारी वाक्यपदीय के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलती। यहाँ तक कि आकर ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में मौन प्रतीत होते हैं। पाणिनि की अमरकृति अष्टाध्यायी में 'वाक्य' का वर्णन अत्यन्त अल्प और सीमित है, जो सम्भवतः विद्वानों की दृष्टि से ओझल ही रहता है। इसीलिए सम्भवतः नव्यव्याकरण के सिद्धान्त-कौमुदी आदि प्रक्रिया-ग्रन्थों में वाक्य-सम्बन्धी प्रकरण का सर्वथा अभाव है। नव्य-परम्परा के व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक ग्रन्थों में भी वाक्य के सम्बन्ध में विश्लेषण इतना विशद नहीं है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के भाषिक-दार्शनिक आधारों का पूरक व्याडिकृत सङ्ग्रहग्रन्थ, जो लक्षश्लोकात्मक होने के कारण अत्यन्त विशालकाय रहा होगा, वाक्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का मौलिक आकर-ग्रन्थ रहा होगा, जो भर्तृहरि से पहले ही वैयाकरण विद्वानों की सङ्कुचित रुचि और विद्या के प्रति अल्प ग्राह्यवृत्ति होने के कारण नष्ट हो चुका था। भर्तृहरि के समय तक उसी के कुछ अंश पारम्परिक रूप में बच गए होंगे, जिनका परिमार्जन और विकास भर्तृहरि और उनके गुरु ने किया। वही वाक्य-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विश्लेषण, जिसका अभाव समूची वैयाकरण-परम्परा में रहा, भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीयकाण्ड में किया, जिसके आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थ के नाम में प्रारम्भ में ही 'वाक्य' शब्द रखा, और उसी पर पुण्यराज ने अपनी टीका लिखी। प्रस्तुत ग्रन्थ वाक्यपदीय के वाक्यकाण्ड पर होने के कारण अपना विशेष महत्त्व रखता है।

इस ग्रन्थ के महत्त्व का दूसरा कारण यह है कि यह पुण्यराज की टीका, जो वाक्यपदीय वाक्यकाण्ड पर है, का भी साथ-साथ अध्ययन प्रस्तुत करता है। पुण्यराज की यह टीका प्राचीनतम टीकाओं में से एक, है अतएव यह भर्तृहरि के मूल के अधिक निकट होने के कारण अधिक प्रामाणिक है। ऐसे प्राचीन और प्रामाणिक टीकाकार के दृष्टिकोण से भर्तृहरि के वाक्यकाण्ड को समझना और प्रस्तुत करना अत्यन्त महत्त्व का कार्य है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा स्पष्ट है।

सम्भवतः आधुनिक संस्कृत-वैयाकरणों को यह मालूम नहीं है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों में निहित भाषिक वक्तव्य किन्हीं भाषिक और दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं, जिनकी खोज और प्रतिपादन अष्टाध्यायी के सूत्रों की ऊहापोह और तर्क तथा युक्तिपूर्वक अर्थापत्ति द्वारा की जा सकती है। पाणिनि की वाक्य-सम्बन्धी भाषिक अवधारणाओं का अन्वेषण भी इसी आधार पर किया जा सकता है। भर्तृहरि का इस सम्बन्ध में असाधारण और अभूतपूर्व योगदान रहा है। उदाहरणार्थ पाणिनि के अनुसार वाक्य की क्या परिभाषा है और वह परिभाषा कात्यायन और मीमांसकों की वाक्य की परिभाषा से कितनी भिन्न है, यह जानकारी भर्तृहरि की वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड की कारिका संख्या 451, 452 में दी गई है, जिसकी विशद व्याख्या पुण्यराज ने की है। अतः पुण्यराजकृत टीका के प्रकाश में भर्तृहरि के वाक्यकाण्ड का अध्ययन विद्वानों के वाक्य-सम्बन्धी पाणिनीय-ज्ञान की महती क्षतिपूर्ति का साधन है जिसका उपयोग सामान्य वाक्य विज्ञान के लिए अनिवार्य है।

डॉ० कान्ता भाटिया ने इस क्षेत्र में अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण और अति गम्भीर कार्य प्रस्तुत करके एक महान् अभाव की पूर्ति की है। वे बधाई के पात्र हैं। मुझे पूरी आशा है कि उनकी यह कृति विद्वानों में आदर प्राप्त करेगी। प्रकाशक भी एतदर्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ० महावीर

प्राक्कथन

वाक्यपदीय संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों में अपना विशेष महत्व रखती है। इसका कारण यह है कि यह न केवल संस्कृत व्याकरण का ही ग्रन्थ है, अपितु इसमें संस्कृत व्याकरण का दार्शनिक पक्ष भी अपनी परिपक्व अवस्था को प्राप्त होकर प्रतिपादित किया गया है। वाक्यपदीय नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें वाक्य एवं पद के सम्बन्ध में विवेचन है। वाक्यपदीय तीन काण्डों में विभक्त है। प्रथम काण्ड ब्रह्म-काण्ड के नाम से अभिहित किया जाता है, क्योंकि इसमें शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन है। इसके साथ ही वैयाकरणों के सिद्धान्त, 'स्फोट' का भी निरूपण इसमें किया गया है। द्वितीय काण्ड वाक्यकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें वाक्य के सम्बन्ध में विचार किया गया है। तृतीय काण्ड प्रकीर्णकाण्ड अथवा पदकाण्ड कहलाता है। इसमें पद सम्बन्धी विवेचन है।

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड का समस्त वाक्यपदीय में अपना विशिष्ट स्थान है। क्योंकि इसमें आचार्य भर्तृहरि ने वाक्य के सम्बन्ध में प्रचलित भिन्न-भिन्न मतों का विवेचन किया है तथा वैयाकरणों के सिद्धान्त अखण्ड-वाक्य स्फोट की स्थापना, वाक्यों में पृथक्-पृथक् पदों की सत्ता को स्वीकार करने वाले पदवादियों के मत का खण्डन करते हुए की है। यद्यपि आचार्य भर्तृहरि को अखण्डवाक्यस्फोट ही अभीष्ट है, वाक्य-वाक्यार्थ में पद-पदार्थ की कोई सत्ता नहीं होती, फिर भी अपोद्धार बुद्धि के द्वारा पदों की कल्पना करके उनकी व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। अपोद्धार द्वारा पद-पदार्थ की कल्पना करने पर उनका विवेचन आवश्यक समझकर आचार्य भर्तृहरि ने उनके सम्बन्ध में भी प्रचलित मतों का विवेचन किया है। अतः वाक्य एवं पद दोनों के विवेचन के द्वारा 'वाक्यपदीय' नाम को सार्थक करने के कारण वाक्यकाण्ड अपना विशेष महत्व रखता है। वाक्यकाण्ड पर आचार्य भर्तृहरि द्वारा रचित स्वोपज्ञ-वृत्ति पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है, अतः वाक्यकाण्ड पर लिखी गई पुण्यराजकृत टीका ही एकमात्र टीका है जिसके द्वारा वाक्यकाण्ड के गम्भीर विषयों का सम्यक् ज्ञान हो सकता है। यद्यपि पुण्यराज की टीका का आधार आचार्य भर्तृहरि की स्ववृत्ति ही है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है कि वह पूर्णतया उपलब्ध नहीं है। वाक्यपदीय 2-13 से 76 कारिका तक तथा 152 से 182[1] कारिकाओं पर ही

1. हमें इतनी ही टीका उपलब्ध हो सकी है।

भर्तृहरि वृत्ति उपलब्ध है, अतः वाक्यकाण्ड के अन्य महत्वपूर्ण विषयों का ज्ञान पुण्यराज टीका द्वारा ही हो सकता है। भर्तृहरिवृत्ति अत्यन्त गम्भीर एवं दुरूह है, अतः जिन कारिकाओं पर यह उपलब्ध भी है उसका भी स्पष्टीकरण पुण्यराज टीका के माध्यम से ही सम्भव है। दोनों टीकाओं की तुलना करने से पुण्यराज टीका का महत्व स्पष्ट हो जाएगा। उदाहरण के लिए वाक्यपदीय 2-17 कारिका[1] की व्याख्या करते हुए आचार्य भर्तृहरि इस प्रकार लिखते हैं—

'केषाञ्चित्तु प्रक्रियान्तरवादिनामक्षादिवदश्नोत्यादिक्रियायोगविशेषे विशेषान्तरयुक्ता देवदत्तादयो वाक्यविषया नित्यं परितः परिच्छिन्नार्थवृत्तयो विशेषशब्दवाचकस्य विशेषस्य प्रतिपत्तृभिः सामान्यापहृतबुद्धिभिः परोक्षविशेषैरपरिच्छेदात् सामान्यशब्दप्रतिरूपकाः शब्दान्तराभिसम्बन्धादागन्तुना केनचिदप्यर्थेनायुज्यमाना नित्यसिद्धनियतत्वान्नियमं विशेषान्तराध्यारोपरूपं चातिक्रान्ताः केवलमनुवादमात्रेण शब्दान्तराणां यथायथमर्थाभिधानसिद्धये व्यज्यन्ते प्रतिपत्तृषु प्रयोक्तृभिर्निर्धारितविशेषा इत्यभिप्रायः।'[2]

इसी कारिका पर पुण्यराज की टीका भी द्रष्टव्य है—

'एवं तावदभिहितान्वयवादी निरस्तः। इदानीमन्विताभिधानसमाश्रयणेन पदमाद्यं पृथक् सर्वपदं साकांक्षमित्युद्दिष्टे वाक्यलक्षणे प्रदर्शयितुकाम आह—विशेषशब्दा इति। इह देवदत्त गामभ्याजेत्यत्र देवदत्तपदं गां बधानेत्यस्माद् विशिष्टमेव वक्त्रा समुदीरितं भ्रमात्तु सकलसाधारणं प्रतिभाति। उत्तरकालं गवादिपदसम्बन्धाद् विशिष्टा प्रतिपत्तिरभिव्यज्यत इति तदेव वाक्यम्। सकलविशेषणखचितश्च प्रथमतरमेवोपक्रान्तः संसृष्ट एवार्थो वाक्यार्थ इति। यथा वक्ष्यति—

पूर्वैरर्थैरनुगतो यथार्थात्मा परः परः।
संसर्ग एव प्रकान्तस्तथाद्येष्वर्थवस्तुषु॥ इति[3]

दोनों टीकाओं की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भर्तृहरि की टीका अत्यन्त गूढ़ एवं लम्बे-लम्बे समासों से युक्त है। उन्होंने उपर्युक्त कारिका की टीका एक ही लम्बे वाक्य में की है जब कि पुण्यराज की टीका में छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा विषय को सरल करके स्पष्ट किया गया है। आचार्य भर्तृहरि ने कारिका में 'केषाञ्चित्' शब्द प्रयुक्त किया है तथा वृत्ति में उसकी व्याख्या 'प्रक्रियान्तरवादिनाम्' कह कर की है। यदि पुण्यराज की टीका न होती तो यह समझना कठिन हो जाता

---

1. विशेषशब्दाः केषाञ्चित् सामान्यप्रतिरूपकाः।
शब्दान्तराभिसम्बन्धात् व्यज्यन्ते प्रतिपत्तृषु॥ —वा० प० 2-17
2. भर्तृहरि वृत्ति वा० प० 2-17 पर.
3. पु० रा० वा० प० 2-17.

कि ये प्रक्रियान्तरवादी कौन हैं। पुण्यराज ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है कि यह मत अन्विताभिधानपक्ष में प्रथम पद को वाक्य अथवा सभी साकांक्षपदों को वाक्य मानने वालों का है। उन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों में सरल उदाहरण देकर आचार्य भर्तृहरि के विषय को स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार कारिकाओं के साथ-साथ आचार्य भर्तृहरि की वृत्ति के भी विषय का स्पष्टीकरण पुण्यराज की टीका के बिना असम्भव है।

इसी प्रकार आचार्य भर्तृहरि ने जिन विषयों का संक्षिप्त विवेचन किया है अथवा निर्देश मात्र किया है, पुण्यराज ने ही अपनी टीका के द्वारा उनकी विस्तृत व्याख्या की है। उदाहरण के लिए पूर्वपक्ष के रूप में पदवादियों द्वारा दिये गये मीमांसादर्शन के लक्षणों का आचार्य भर्तृहरि केवल निर्देश कर देते हैं। इन कारिकाओं पर (77-85) उनकी वृत्ति भी नहीं मिली है। पुण्यराज ने प्रत्येक लक्षण का अर्थ स्पष्ट किया है तथा लोक, वेद एवं व्याकरण में उन लक्षणों की प्रवृत्ति दिखाकर उनकी विस्तृत व्याख्या की है।

इसके अतिरिक्त आचार्य भर्तृहरि ने शब्दार्थ-निर्णय के उपायों का भी केवल परिगणन मात्र कराया है, जब कि पुण्यराज ने उदाहरणों द्वारा उन्हें स्पष्ट किया है।

इस प्रकार पुण्यराज की टीका का वाक्यकाण्ड के अध्ययन में विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। जहाँ सम्पूर्ण वाक्यपदीय में वाक्यकाण्ड का महत्व है, वहाँ वाक्यकाण्ड के टीकाकार होने के कारण पुण्यराज का महत्व भी कुछ कम नहीं है।

स्नातकोत्तर अन्तिम वर्ष में 'व्याकरण विशेष' में एक विषय वाक्यपदीय का ब्रह्मकाण्ड भी था। सौभाग्यवश डॉ० सत्यव्रत शास्त्री (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) से उसे पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके अध्यापन का मुझ पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि मैंने तभी से मनमें निश्चय कर लिया था कि मैं वाक्यपदीय पर शोध-कार्य करूँगी। पहले मुझे शोध के लिए 'अमरकोश' पर विषय दिया गया जो सम्भवतः मेरे ही सौभाग्यवश बोर्ड द्वारा अस्वीकृत हो गया। बाद में मैंने डॉ० सत्यव्रत से वाक्यपदीय पर कार्य करने की अपनी इच्छा का निवेदन किया। उन्होंने कहा कि वाक्यपदीय पर लिखी गई पुण्यराज की टीका पर कार्य किया जा सकता है। क्योंकि उस पर शोध-कार्य नहीं किया गया। परन्तु जिसने प्राचीन पद्धति से शिक्षा ग्रहण की है वही इस विषय पर कार्य कर सकता है। मैंने उनसे इस विषय पर कार्य करने के लिये नम्र निवेदन किया तो उन्होंने स्वीकार कर लिया और मुझे 'वाक्यपदीय टीकाकार के रूप में पुण्यराज' विषय पर शोध-प्रबन्ध लिखने का सुअवसर प्राप्त हो गया। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी शोध-प्रबन्ध का संशोधित रूप है जिसे "भर्तृहरि का वाक्य पदीय पुण्यराज की दृष्टि में" नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम अध्याय पुण्यराज के जीवन, काल एवं रचनाओं के सम्बन्ध में है। अधिक प्रमाणों के उपलब्ध न होने के कारण पुण्यराज के जीवन तथा काल पर लिखने के कार्य में कई कठिनाइयाँ अनुभव की गई। बनारस संस्कृत सीरीज में 1887 में पं० गङ्गाधर शास्त्री मानवल्ली द्वारा पुण्यराज के नाम से प्रकाशित प्रथम काण्ड की टीका को प्रायः सभी विद्वानों ने[1] भर्तृहरि वृत्ति का ही संशोधित रूप माना है। अशोक अजलूज़कर ने चारुदेव शास्त्री फैलिसिटेशन वाल्यूम में 'दि आथारशिप ऑफ वाक्यकाण्ड टीका' नाम से लेख प्रकाशित किया है जिसमें उन्होंने युक्तियाँ देकर वाक्यकाण्ड टीका को हेलाराजकृत सिद्ध किया है। उनकी युक्तियों से एकान्तिक रूप से यह सिद्ध नहीं होता कि वह टीका हेलाराज की है अपितु इसके विपरीत कुछ अन्य युक्तियाँ देकर हमने यही सिद्ध किया है कि वह पुण्यराजकृत ही है।

द्वितीय अध्याय में आचार्य भर्तृहरि द्वारा निरुपित वाक्य विषयक आठ प्रचलित मतों का पुण्यराज के अनुसार विवेचन किया गया है। पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा सामान्य रूप से प्रतिपादित वाक्य-विषयक आठ लक्षणों को खण्डपक्ष एवं अखण्ड-पक्ष के अन्तर्गत विभाजित करके उनका विवेचन किया है। खण्डपक्ष का भी पुनः अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान इन दो पक्षों के अन्तर्गत पुण्यराज ने विभाजन किया है। कौन-सा वाक्यलक्षण किस पक्ष के अन्तर्गत आता है, इसको स्पष्ट करते हुए पुण्यराज उन्होंने आठों वाक्यलक्षणों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। इसी अध्याय में अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद के सम्बन्ध में पुण्यराज का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

वाक्यकाण्ड में अखण्ड वाक्य स्फोट की स्थापना तथा खण्डपक्ष (पदवाद अर्थात् वाक्य में पदों की सत्ता) का खण्डन किया गया है। तृतीय अध्याय में आचार्य भर्तृहरि द्वारा वर्णित अखण्डपक्ष के विरोध में लगाए गए दोषों का विवेचन तथा उनका निराकरण करते हुए अखण्ड वाक्य स्फोट की स्थापना का पुण्यराज के अनुसार विवेचन किया गया है।

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यार्थ के सम्बन्ध में प्रचलित छः मतों का प्रदर्शन किया है। पुण्यराज ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है कि वाक्य के आठ लक्षणों में से किस वाक्य लक्षण को मानने पर कौन-सा वाक्यार्थ होता है। चतुर्थ अध्याय में इसी का विवेचन है। इस अध्याय में छहों वाक्यार्थों (संसर्ग, क्रिया, प्रयोजन, प्रतिभा, पदार्थ, संसृष्ट अर्थ) का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है। आचार्य भर्तृहरि द्वारा सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित 'प्रतिभा' वाक्यार्थ का विवेचन इस अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है।

---

1. पं० चारुदेव शास्त्री, के. एम. शर्मा, सुब्रह्मण्य अय्यर इत्यादि.

पञ्चम अध्याय में वाक्य एवं वाक्यार्थ के सम्बन्ध में आचार्य भर्तृहरि द्वारा किये गये कुछ अन्य विवेचन को पुण्यराज के अनुसार स्पष्ट किया गया है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि आचार्य भर्तृहरि ने अपोद्धार बुद्धि के द्वारा पद एवं पदार्थ की कल्पना करके उनका भी विवेचन किया है। अतः भर्तृहरि द्वारा पद एवं पदार्थ के सम्बन्ध में किए गए विवेचन का पुण्यराज के अनुसार स्पष्टीकरण करना ही छठें एवं सातवें अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

आचार्य भर्तृहरि की कारिकाओं पर टीका करते हुए पुण्यराज का मीमांसा एवं व्याकरण विषयक ज्ञान स्पष्ट दिखाई देता है। उनके मीमांसा दर्शन एवं व्याकरण विषयक ज्ञान का ही विवेचन आठवें अध्याय में किया गया है। कारिकाओं की व्याख्या करते हुए उन्होंने मीमांसा दर्शन के लक्षणों का पाणिनीय सूत्रों में प्रयोग उदाहरण देकर प्रदर्शित किया है, जिससे उन्होंने मीमांसा एवं व्याकरण दोनों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। यह उनकी व्याकरण एवं मीमांसा दर्शन, दोनों को महत्वपूर्ण देन है।

अन्तिम अध्याय पुण्यराज की टीका की विशेषताओं एवं भाषा शैली के सम्बन्ध में है। इसमें उनकी टीका की प्रमुख विशेषताओं एवं भाषा शैली पर प्रकाश डाला गया है।

इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने में मैं डॉ० महावीर (प्राध्यापक—शिवाजी महाविद्यालय) की विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, जिनके कुशल निर्देशन तथा प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही प्रस्तुत ग्रन्थ सम्पन्न हो सका। उनके इस उपकार को शब्दों का रूप देना वस्तुतः उनकी अनुकम्पा के महत्व को कम करना है।

डॉ० सत्यव्रत शास्त्री(भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) की मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिनके प्रारम्भिक दो वर्षों के निर्देशन के द्वारा मुझे शोध-प्रबन्ध का कार्य करने की प्रेरणा मिली। बाद में उनके विदेश चले जाने पर उनके निर्देशन से वंचित रहना पड़ा।

मैं डॉ० के०ए० सुब्रह्मण्या अय्यर, पं० गौरीनाथ शास्त्री, पं० चारुदेव शास्त्री एवं अशोक अक्लूजकर की विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों एवं लेखों से मुझे इस विषय का विवेचन करने में विशेष सहायता मिली।

पं० रघुनाथ शर्मा, के० आर० पिल्ले, आभ्यंकर तथा लिमये एवं के० ए० सुब्रह्मण्या अय्यर के प्रति श्रद्धा एवं धन्यवाद प्रकट करती हूँ जिनकी वाक्यकाण्ड पर लिखी गई टीकाओं द्वारा कारिकाओं का अर्थ समझने में सहायता मिली। मैं उन अन्य सभी विद्वानों की कृतज्ञ हूँ जिनकी कृतियों द्वारा मुझे अध्ययन में सहायता मिली।

'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिनसे Junior Research Fellowship के रूप में आर्थिक सहायता प्राप्त हुई।

दिल्ली विश्वविद्यालय तथा भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के पुस्तकालयों का मैं धन्यवाद करती हूँ, जहाँ अध्ययन के लिए पुस्तकों की सहायता प्राप्त हुई।

अन्त में अपने परिवार के सभी सदस्यों का धन्यवाद करती हूँ जिनके सहयोग से गृहस्थ जीवन के उत्तरदायित्व को निभाते हुए भी मैं इस ग्रन्थ का लिखने में सफल हो सकी।

इस विषय के प्रस्तुतीकरण में कुछ त्रुटियाँ भी हो सकती हैं जिनके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

विनयावनता—
कान्ता रानी भाटिया

संकेताक्षर सूची

पु० रा०	—	पुण्यराज
वा० प०	—	वाक्यपदीय
महाभा०	—	महाभाष्य
मी०सू०	—	मीमांसा सूत्र
शाबर भा०	—	शाबर भाष्य
अ० सू०	—	अष्टाध्यायी सूत्र

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

पुण्यराज का जीवन काल एवं रचनाएं

पुण्यराज का जीवन

आचार्य भर्तृहरि के वाक्यपदीय ग्रन्थ के द्वितीय काण्ड पर उनकी स्वोपज्ञ टीका के अतिरिक्त आचार्य पुण्यराज कृत टीका उपलब्ध होती है। आचार्य भर्तृहरि की टीका खण्डित रूप में उपलब्ध होती है। उनकी टीका द्वितीय काण्ड की त्रयोदश कारिका से प्रारम्भ होकर 76 कारिका तक मिलती है। उसके बाद उनकी टीका पुन: 152 कारिका से 183 कारिका तक मिलती है और उसके बाद उनकी टीका उपलब्ध नहीं होती। अत: द्वितीय काण्ड पर जो एकमात्र सम्पूर्ण टीका मिलती है वह पुण्यराज की है। सर्वप्रथम बनारस से 1887 में पण्डित गंगाधर शास्त्री मानवल्ली ने पुण्यराज की इस टीका को प्रकाशित किया। यद्यपि पुण्यराज की टीका भर्तृहरि-वृत्ति पर ही आधारित है परन्तु वृत्ति के सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध न होने के कारण पुण्यराज की टीका का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है। वाक्यकाण्ड में अनेक ऐसे विषय हैं जिनके सम्बन्ध में कारिकाओं में बहुत कम विवेचन है तथा उन पर भर्तृहरि की टीका भी उपलब्ध नहीं होती। पुण्यराज ने उन विषयों का विस्तार से विवेचन किया है। उदाहरण के लिये आचार्य भर्तृहरि ने मीमांसा के न्यायों का निर्देश मात्र अपनी कारिकाओं में किया है। इन कारिकाओं पर भर्तृहरि की टीका उपलब्ध नहीं है। पुण्यराज ने इन कारिकाओं की व्याख्या करते हुये मीमांसादर्शन का संक्षिप्त सार अपनी टीका में प्रस्तुत किया है तथा मीमांसादर्शन के एक-एक लक्षण का उदाहरणों द्वारा अर्थ स्पष्ट किया है। इसी प्रकार शब्दार्थ-निर्णय के उपायों का आचार्य भर्तृहरि ने केवल नामत: निर्देश किया है। पुण्यराज ने एक-एक उपाय का लौकिक एवं शास्त्रीय उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण किया है। अपनी टीका में मीमांसा के न्यायों तथा शब्दार्थनिर्णय के उपायों को स्पष्ट करते हुये पुण्यराज ने व्याकरण के सूत्रों में उन न्यायों को लागू करते हुये एक नई व्याख्या प्रस्तुत की है जिससे न केवल वे भर्तृहरि की कारिकाओं को स्पष्ट करने में सफल हुये हैं अपितु उन्हें पतंजलि एवं कात्यायन की कोटि में भी रखा जा सकता है। कहीं-कहीं पर तो पुण्यराज पतंजलि एवं कात्यायन की भी आलोचना कर देते हैं। पुण्यराज ने अपनी टीका में महाभाष्य के वचनों के आशय भी स्पष्ट किये हैं तथा कात्यायनवार्तिकों के भी आशय को

स्पष्ट किया है। इस दृष्टि से पुण्यराज का संस्कृतव्याकरण के प्रति अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान स्पष्ट होता है।

अत्यन्त खेद का विषय है कि इतने महत्वपूर्ण विद्वान् के जीवन के सम्बन्ध में इतिहास में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। पुण्यराज ने स्वयं ही अपनी टीका के अन्त में साठ श्लोकों की रचना की जिनके अन्तिम दो श्लोकों में उन्होंने अपने विषय में कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने अपना नाम राजानक शूरवर्मा बताया है तथा अपना गुरु शशांकशिष्य बताया है तथा यह भी कहा है कि उन्होंने शशांकशिष्य से वाक्यकाण्ड को सुनकर ही उसकी कारिकाश्रित टीका लिखी थी।[1]

पण्डित चारुदेव शास्त्री[2] ने स्पष्ट किया है कि शशांकशिष्य कौन थे, जिनके शिष्य पुण्यराज थे। पण्डित चारुदेव शास्त्री कहते हैं कि सम्भवत: शशांक शिष्य काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के व्याख्याता सहदेव ही थे क्योंकि सहदेव ने अपनी टीका के अन्त में कहा है कि वह शशांकधर का शिष्य था जो एक प्रसिद्ध विद्वान तथा सम्पूर्ण चतुर्दश विज्ञानों में पारंगत थे। उन्हीं से उसने कश्मीर छोड़ने से पहले पाणिनिव्याकरण सीखा था।[3] सम्भवतः पुण्यराज का शशांक तथा सहदेव का गुरु शशांकधर दोनों एक ही व्यक्ति है। जिस प्रकार देवदत्त के लिये 'दत्त' तथा सत्यभामा के लिये 'सत्य' शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं उसी प्रकार शशांकधर का ही 'शशांक' प्रयोग पुण्यराज ने किया है। अशोक अक्लूज़कर भी चारुदेव शास्त्री के इस मत से सहमत हैं तथा उन्होंने चारुदेवशास्त्री द्वारा प्रदत्त काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के अन्तिम श्लोक के

---

1. विद्वज्जनानां य: खलु सर्वत्र गीयते जगति।
तत उपसृत्य विरचिता राजानकशूरवर्मनाम्ना वै॥
शशाङ्कशिष्याच्छ्रुत्वैतद् वाक्यकाण्डं समासत:।
पुण्यराजेन तस्योक्ता सङ्गति कारिकाश्रिता॥
—पु० रा०, श्लोक 58, 59

2. 'भर्तृहरि, ए क्रिटिकल स्टडी विद स्पेशल रेफरेन्स टू इट्स कमेन्ट्रीज़। (प्रोसीडिंग्स ऑफ ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स) वाल्यूम 5, 1930।

3. चतुर्दशानामपि प्रसिद्धो विद्यास्थितीनां पारदृश्वा।
शशाङ्कपूर्वधर इत्युदारं यन्नाम लोके नितरां प्रसिद्धम्॥
तदीयशिष्य: सहदेवनामा कुलेऽभिजात: खलु तोमराणाम्।
व्याख्यामिमां काव्यविचारशास्त्रे व्यक्तलघ्वीमिह वामनीये॥
कश्मीरदेशादपसर्पतो मे शब्दानुशुद्धिं त्रिमुनि निशम्य।
—पं० चारुदेव शास्त्री द्वारा उद्धृत

अतिरिक्त उसके प्रारम्भ में दिया गया एक श्लोक भी उद्धृत किया है[1] तथा पुण्यराज के अन्तिम श्लोकों के साथ उसकी तुलना करके उनमें समानता दिखाते हुये यह सिद्ध किया है कि एक का दूसरे पर साक्षात् प्रभाव पड़ा—

आकर्ण्य तस्मात्—शशाङ्कशिष्याच्छ्रुत्वा, शशाङ्क···शिष्यः—शशाङ्क शिष्यात्; सहदेवनाम—सहदेव नामा, लब्वीम्—लब्वी, अपसर्पतः—उपसृत्य, यन्नाम लोके नितराम् प्रसिद्धम्—विद्वज्जनानां यः खलु सर्वत्र गीयते जगति ।

इस समानता के आधार पर भी अक्लूजकर महोदय सहदेव को पुण्यराज का गुरु सिद्ध करते हैं ।

पुण्यराज ने अपना नाम राजानक शूरवर्मा दिया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि वह कश्मीर के रहने वाले थे । काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के रचयिता सहदेव तथा उनके गुरु 'शशांकधर' दोनों ही कश्मीर के रहने वाले थे जैसा कि 'कश्मीरदेशादपसर्पतः' प्रयोग से भी स्पष्ट हो जाता है । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पुण्यराज सम्भवतः कश्मीर के ही रहने वाले थे तथा द्वितीय काण्ड उन्होंने सहदेव से जो शशांकशिष्य के नाम से जाने जाते थे, पढ़ा था ।

नागेश ने अपनी लघुमंजूषा में पुण्यराज के लिये पुंजराज शब्द का प्रयोग किया है आभ्यंकर तथा लिमये भी पुंजराज शब्द का प्रयोग पुण्यराज के लिये करते हैं । अक्लूजकर महोदय लिखते हैं कि राजेन्द्रलात मिश्र (1807 : 112) तथा रामकृष्ण कवि (1930 : 235 Fn 3) पुण्यराज तथा सारस्वतप्रक्रिया के टीकाकार तथा ध्वनिप्रदीप एवं शिशुप्रबोधालंकार (काव्यशास्त्र के दो ग्रन्थ) के रचयिता पुंजराज को एक ही व्यक्ति मानते हैं । इसका कारण दोनों नामों में समानता तथा दोनों का ही व्याकरणग्रन्थ का टीकाकार होना है । अक्लूजकर, महोदय लिखते हैं कि दोनों का काल भी उन्हें एक मानने में बाधा नहीं डालता । सारस्वत वैयाकरण 1475 तथा 1520 ई० के मध्य में रहा माना जाता है तथा सर्वप्रथम हस्तलेख जिसमें पुण्यराज के अन्तिम श्लोक मिलते हैं 1534 ई० का माना जाता है । इस हस्तलेख के आधार पर पुण्यराज भी 1475 से 1500 ई० के मध्य में माने जा सकते हैं । अक्लूजकर महोदय कहते हैं कि यह मानना कि दोनों एक ही व्यक्ति है उचित नहीं हैं क्योंकि

1. आकर्ण्य भवतस्तस्माददयितस्य विधीयते ।
विवृत्ति सहदेवेन वामनीयस्य सम्प्रति ।।
—अशोक अक्लूजकर द्वारा उद्धृत (चारुदेव शास्त्री फेलिसिलेशन वाल्यूम) लेख का नाम 'दि आथरशिप आफ वाक्यकाण्ड टीका ।

वाक्यकाण्ड टीका का कोई भी हस्तलेख 'पुंजराज' नाम नही देता। दूसरी बात यह कि सारस्वत वैयाकरण पुंजराज का कहीं पर भी शशांकशिष्य अथवा शूरवर्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करता जबकि पुण्यराज के सम्बन्ध में ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। पुंजराज के कार्यों की सूची में कहीं पर भी यह उल्लेख नहीं आया कि उन्होंने भर्तृहरि अथवा उनकी त्रिकाण्डी से सम्बन्धित कार्य किया था। अत: अक्लूज़कर महोदय यह कहते हैं कि पुण्यराज एवं पुंजराज दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। नागेश ने भ्रमवश पुण्यराज का पुंजराज नाम दिया है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पुण्यराज कश्मीर निवासी थे तथा उनके गुरु जिनका उन्होंने शशांकशिष्य नाम दिया हैं, सम्भवत: सहदेव थे।

पुण्यराज का काल निर्णय

पुण्यराज के जीवन के समान उनका काल भी विवादास्पद है। उनके काल के विषय में निश्चित रूप में जानकारी उपलब्ध नहीं है। अतः पूर्व विद्वानों के द्वारा दिये गये मतों के आधार पर ही उनका काल निर्धारण किया जाएगा।

के० एम० शर्मा ने अपने लेख में यह मत खण्डित किया है कि पुण्यराज भर्तृहरि के समकालीन थे।[1] उन्होंने पुण्यराज की टीका से उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि वे भर्तृहरि से बहुत समय बाद हुये।

वाक्यकाण्ड 77 से 85 कारिकाओं की व्याख्या करते हुये पुण्यराज एक स्थान पर कहते हैं कि वाक्यपदीय पदकाण्ड का लक्षण समुद्देश उनके समय तक खो गया था।[2] इस कथन से न केवल यह सिद्ध होता है कि पुण्यराज भर्तृहरि के बाद हुये अपितु यह भी स्पष्ट होता है कि उन दोनों के बीच का अन्तर भी कई शताब्दियों का है क्योंकि पुण्यराज के समय तक लक्षण समुद्देश खो चुका था।

के० एम० शर्मा कहते हैं कि पुण्यराज अपनी टीका में कुमारिल के श्लोक-

---

1. ग्लीनिंग्स फ्राम दि कमेन्ट्रीज़ आन दि वाक्यपदीय (एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट).

2. आगमभ्रंशाल्लेखकप्रमादादिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।
—पु० रा० वा० प० 2-2-77.

वार्तिक से उद्धरण देते हैं[1] जिनसे यह सिद्ध होता है कि पुण्यराज कुमारिल के बाद हुए।

पण्डित रामसुरेश त्रिपाठी लिखते हैं[2] कि पुण्यराज काशिकाकार तथा भर्तृहरि-शतक के रचयिता के बाद हुए क्योंकि उन्होंने इनके उद्धरण दिये हैं।[3]

के० एम० शर्मा पुण्यराज द्वारा उद्धृत एक श्लोक का उद्धरण देते हैं जिसे वह राजशेखरकृत बताते हैं।[4] अतः उन्होंने पुण्यराज को राजशेखर से पूर्व का सिद्ध किया है। के० एम० शर्मा लिखते हैं कि वल्लभदेव ने अपनी सुभाषितावली में यह श्लोक उद्धृत किया है तथा उसे राजशेखर कृत बताया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुण्यराज राजशेखर से बाद में हुए हैं। राजशेखर दो हुए हैं—एक स्मारक

---

1. (अ) यावन्तो यादृशा ये यदर्थप्रतिपादने।
वर्णा प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥
—श्लोकवार्तिके स्फोटवादे, 69, पु० रा० वा० प० 2-63

(ब) नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
—पु० रा० वा० प० 2-84 पर उद्धृत.

2. संस्कृत व्याकरण दर्शन (पं० रामसुरेश त्रिपाठी)

3. (अ) यद्येवं कर्मणीति किं मातुर्गुणैः स्मरणमिति कथं प्रत्युदाहृतम्
—पु० रा० वा० प०, 2-198

यह कथन काशिका में 2।3।52 सूत्र पर उपलब्ध होता है। इसी कारिका की व्याख्या करते हुये पुण्यराज कारकान्तरे त्वेकैवेति वृत्तिकारः ये वचन कहते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि पुण्यराज वृत्तिकार (काशिकाकार) के बाद हुये।

(ब) मणिः शाणोल्लीढः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः,
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललनाः।
मदक्षीणो नागः स्मरविजयी हेतनिहत—
स्तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः॥
—भर्तृहरिशतक (पु० रा० द्वारा कारिका 2.247 पर उद्धृत)

4. इन्दोर्लक्ष्म स्मरविजयिनः कण्ठमूलं मुरारि—
र्दिङ्नामानां मदमलमषीभाञ्जि गण्डस्थलानि।
अद्याप्युर्वीवलयतिलकश्यामलिम्नाऽनुलिप्ता—
न्युद्भासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः॥
—पु० रा० वा० प०, 2-247

(Memorial) श्लोकों के रचयिता तथा दूसरे नाटककार एवं आलोचक राजशेखर। यह प्रश्न उठता है कि यह श्लोक किस राजशेखर का है। दोनों ही राजशेखर दसवीं शताब्दी के बाद हुए।[1] अतः दोनों में से किसी भी राजशेखर की उक्ति मानने पर पुण्यराज का समय दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बाद का सिद्ध होता है।

पुण्यराज ने वा० प० 2-257 पर एक श्लोक उद्धृत किया है।[2] जिसे कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित, मम्मट ने काव्यप्रकाश तथा हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की टीका में उद्धृत किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पुण्यराज इन सबके बाद हुए पुण्यराज ने वा० प० 2-86 में एक श्लोक का अंश उद्धृत किया है।[3] पण्डित रघुनाथ शर्मा ने पूरा श्लोक देते हुये कहा है कि वक्रोक्तिजीवित, सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन तथा सदुक्तिकर्णामृत में यह श्लोक उद्धृत है।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि पुण्यराज इन सबसे बाद में हुये। पण्डित रामसुरेश त्रिपाठी कहते हैं कि काव्य-प्रकाश की व्याख्या 'चन्द्रिका' में यह श्लोक राघवानन्द नाटक का है।

पुण्यराज द्वारा वा० प० 2-241 पर एक श्लाक उद्धृत है जिसे नागेश ने अपनी लघुमंजुषा में उद्धृत किया है।[5] मन्जूषा के टीकाकार बालम्भट्ट और

---

1. नाटककार राजशेखर का समय नवम शताब्दी का मध्य अथवा अन्त तथा श्लोकों के रचयिता राजशेखर का काल 14वीं शताब्दी माना गया है।
—वाचस्पति गोरेला एवं चन्द्रशेखर पाण्डेय।

2. हे हेलाजितबोधिसत्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे,
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनादौर्मुख्यलब्धायशो-
भारप्रद्वोहने करोषि कृपया सहायकं यन्मरोः॥
—पु० रा० वा० प०, 2-247 पर उद्धृत

3. रामोऽसौ भुवनेषु इत्यादि...। —वही, 2-86

4. रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः समृद्धि पराम्,
अस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानाति तम्।
बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकवाणाहत-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोदगीर्णैः स्वरैः सप्तभिः॥
—वक्रोक्तिजीवित, पृ० 28, सरस्वतीकण्ठाभरणे, पृ० 589, काव्यप्रकाशे, 5/109, काव्यानुशासने, पृ० 39, सदुक्तिकर्णामृत पण्डित रघुनाथ शर्मा वा० प०, 2-86

5. सतां च निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थो प्रलयं गतः॥
—पु० रा० वा० प०, 2-241 पर उद्धृत

दुर्बलाचार्य इस श्लोक को खण्डन खण्ड खाद्य के रचयिता श्री हर्ष का श्लोक मानते हैं यह श्लोक अब खण्डनखण्डखाद्य में नहीं मिलता। के० एम० शर्मा बालम्भट्ट एवं दुर्बलाचार्य के आधार पर इस श्लोक को श्री हर्ष की ही रचना मानते हैं। श्री हर्ष का समय 12वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इस आधार पर के० एम० शर्मा पुण्यराज को बारहवीं शताब्दी के पूर्व मानते हैं।

अक्लूज़कर महोदय कहते हैं कि यह श्लोक श्री हर्ष का नहीं है अपितु धर्मकीर्ति का सिद्ध हो चुका है। धर्मकीर्ति का समय छठी शताब्दी माना जाता है। अतः पुण्यराज का समय छठी शताब्दी के बाद का सिद्ध होता है। पण्डित रामसुरेश त्रिपाठी भी इस श्लोक को धर्मकीर्ति कृत मानते हैं। अक्लूज़कर महोदय पुण्यराज को केवल 60 अन्तिम श्लोकों का रचयिता मानते हुए[1] उन्हें हेलाराज का पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं। अक्लूज़कर महोदय कहते हैं कि पुण्यराज के साठ श्लोक हेलाराज को ज्ञात थे। अक्लूज़कर वाक्यकाण्डटीका को हेलाराज कृत मानते हुए कहते हैं कि हेलाराज ने अपनी टीका के अन्त में पुण्यराज के इन साठ श्लोकों को जोड़ दिया था।[2] हेलाराज का समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है अतः अक्लूज़कर साहब के अनुसार पुण्यराज दसवीं शताब्दी से पूर्व हुए। अक्लूज़कर महोदय का वाक्यकाण्ड टीका को हेलाराज कृत माननेवाला मत खण्डित हो जाने के कारण उनका उपर्युक्त मत भी खण्डित हो जाता है कि पुण्यराज हेलाराज से पूर्व हुए।

पण्डित रामसुरेश त्रिपाठी पुण्यराज का एक उद्धरण देते हैं जिसमें उन्होंने अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो शब्द प्रयुक्त किये हैं।[3] पण्डित रामसुरेश त्रिपाठी कहते हैं कि ये शब्द आनन्दवर्धन के गढ़े हुए हैं अतः वह उनसे थोड़े ही दिन बाद रहे होंगे तथा साथ ही पुण्यराज ने इन शब्दों का उल्लेख लक्षणा के साथ किया है इससे यह सिद्ध होता है कि ध्वनि की पर्याप्त चर्चा पुण्यराज के

---

1. उनके इस मत का खण्डन इसी अध्याय में आगे किया जायेगा।
2. उनके इस मत का कि पुण्यराज ने केवल साठ श्लोक ही रचे तथा वाक्यकाण्डटीका हेलाराज की है, इसका खण्डन आगे किया जाएगा।
3. एतेन श्लोकेन लक्षणा प्रदर्शिता। कदाचिन्मुख्यार्थत्यागेनैवान्यस्योपलक्षणमेतदेवाविवक्षितवाच्यमुच्यते । कदाचिन्मुख्यार्थविरामोपायपूर्वकमन्यार्थोपलक्षणमेतदेव विवक्षितान्यपरवाच्यमुक्तंविज्ञेयम्। —पु० रा० वा० प०, 2-315
4. समवायसम्बन्धनिबन्धनायां तु लक्षणायाम्
अविवक्षितवाच्यता छत्रिणो यान्तीत्यत्रैवोदाहार्या।
—अभिधा वृत्तिमात्रिका, पृ० 20 रामसुरेश त्रिपाठी द्वारा उद्धृत

समय में नहीं थी। रामसुरेश त्रिपाठी कहते हैं कि मुकुलभट्ट ने ध्वनि के भेदों का लक्षणा में अन्तर्भाव किया है। अतः पुण्यराज मुकुलभट्ट से प्रभावित जान पड़ते हैं। मुकुलभट्ट भट्टकल्लट के पुत्र तथा प्रतिहारेन्दु के गुरु थे। भट्टकल्लट अवन्ति वर्मा (855-883 ई०) के समकालिक थे। इसलिये मुकुलभट्ट का समय 900 ई० सिद्ध होता है। अतः रामसुरेश त्रिपाठी पुण्यराज को 900 ई० के बाद लेकिन 1000 ई० पूर्व हुआ मानते हैं क्योंकि अभिनव गुप्त का समय 1000 ई० है। यदि पुण्यराज अभिनव गुप्त के बाद होते तो वह ध्वनि को लक्षणा के भीतर किसी विशेष युक्ति के बिना स्वीकार नहीं कर सकते थे। इस प्रकार इन प्रमाणों के, जिनका विवेचन पूर्वाचार्यों ने कर दिया है, अतिरिक्त अन्य प्रमाण पुण्यराज के काल के विषय में उपलब्ध नहीं होते। इन प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि पुण्यराज 1000 ई० से पूर्व रहे होंगे।

पुण्यराज की रचनाएं

पुण्यराज की अब केवल वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड पर ही टीका उपलब्ध होती है। बनारस से 1887 में पण्डित गंगाधर मानवल्ली ने वाक्यपदीय के प्रथम एवं द्वितीय काण्ड पर टीका प्रकाशित की थी। कुछ विद्वान् प्रथम काण्ड की बनारस से प्रकाशित उस टीका को पुण्यराजकृत मानते हैं। जहाँ तक द्वितीयकाण्ड पर प्रकाशित टीका का प्रश्न है वह तो पुण्यराज की ही है परन्तु प्रथम काण्ड पर प्रकाशित टीका पुण्यराजकृत न होकर भर्तृहरि की स्वोपज्ञ वृत्ति का ही संक्षिप्त एवं संशोधित रूप है। सर्वप्रथम पण्डित चारुदेव शास्त्री ने ही इसका स्पष्टीकरण किया था।[1] उन्होंने कहा है कि बंगाल में जो वृत्ति प्रथम काण्ड पर प्रकाशित हुई वह बृहत् संस्करण है तथा जो टीका बनारस से प्रकाशित हुई वह उस वृत्ति का लघु संस्करण है। पण्डित चारुदेव शास्त्री ने स्पष्ट रूप में कहा है कि बृहत् संस्करण भर्तृहरि की अपनी टीका है तथा लघुसंस्करण उस वृत्ति का संशोधित रूप है। उसमें परिवर्तन द्वारा उसे सरल बनाया गया है। सुब्रह्मण्यम् अय्यर, रामसुरेश त्रिपाठी, के० आर० पिल्लै इत्यादि सभी विद्वान् इसी मत को स्वीकार करते हैं।

बनारस से प्रकाशित वाक्यपदीय प्रथमकाण्ड की टीका के प्रारम्भ में 'पुण्यराजकृतप्रकाशाख्यटीकासहितं प्रारभ्यते' वचन उपलब्ध होते हैं। इन वचनों के आधार पर यह कहना कि वाक्यपदीय प्रथमकाण्ड की टीका पुण्यराजकृत है—युक्तिसंगत प्रतीत नही होता क्योंकि प्रथम काण्ड की टीका की पुष्पिका में तो पुण्यराज

---

1. भर्तृहरि ए क्रिटिकल स्टडी विद स्पेशल रेफरेन्स टू इट्स कमेन्ट्रीज़। (पांचवीं आल इण्डिया ओरियेन्टल कान्फ्रेन्स)

का नाम निर्दिष्ट नहीं है । वहाँ तो हरिवृषभ नाम दिया गया है जो भर्तृहरि का ही सम्मान पूर्वक दिया गया नाम है—

'इतिश्रीमहावैयाकरणहरिवृषभविरचित-वाक्यपदीयप्रकाशे आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डं प्रथमं समाप्तम् ।'

जबकि द्वितीय काण्ड की टीका की पुष्पिका में स्पष्ट रूप से पुण्यराज का नाम निर्दिष्ट किया गया है—

'इतिश्रीपुण्यराजकृतवाक्यपदीयद्वितीयकाण्डटीका समाप्ता ।'

वास्तव में प्रथम काण्ड के प्रारम्भ में जो पुण्यराज का नाम दिया गया है वह प्रकाशन दोष का ही परिणाम है अन्यथा प्रथम काण्ड के अन्त में भी पुण्यराज का नाम ही होता ।

भर्तृहरि की वृत्ति एवं बनारस से प्रकाशित टीकाओं की तुलना करने पर पंडित चारुदेव शास्त्री के इस मत को और भी दृढ़ता प्राप्त हो जाती है कि बनारस से प्रकाशित टीका भर्तृहरिवृत्ति का ही लघु एवं सरलीकृत रूप है । उदाहरण के लिए वाक्यपदीय प्रथमकाण्ड की प्रथम कारिका[1] की टीका करते हुए आचार्य भर्तृहरि यह स्पष्ट करने के लिए कि संसार रूप सभी विकार शब्द ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं, बारह श्लोक उद्धृत करते हैं । बनारस से प्रकाशित टीका में अन्य कोई अन्तर नहीं है । केवल वृत्ति के कुछ शब्द उस टीका में नहीं हैं तथा बारह श्लोकों के स्थान पर केवल एक ही श्लोक उद्धृत किया गया है ।[2]

वाक्यपदीय पर भर्तृहरि स्वोपज्ञ वृत्ति तथा बनारस से प्रकाशित टीका के सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वही वाक्य जो वृत्ति में प्रयुक्त हैं बनारस टीका में भी प्रयुक्त है केवल कुछ शब्द जो वृत्ति में तो उपलब्ध होते हैं वे बनारस की टीका में नहीं है । उद्धरण भी दोनों टीकाओं में वही हैं । अन्तर केवल इतना है कि वृत्ति

---

1. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।
—वा० प०, 1-1

2. उक्तं च—ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम् ।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ।। इति
– बनारस संस्करण वा० प० 1-1 परटीका तथा द्रष्टव्य भर्तृहरि वृत्ति—

में जहाँ उद्धरणों की संख्या अधिक है वहां बनारस से प्रकाशित टीका में कम है। वाक्यपदीय प्रथमकाण्ड की तेरहवीं कारिका[1] पर दोनों टीकाओं की तुलना देखिए—

भर्तृहरिवृत्ति—अर्थस्य प्रवृत्तितत्वं विवक्षा, न तु वस्तुस्वरूपतया सत्वमसत्वं वा।

बनारसटीका—अर्थप्रवृत्तितत्वं विवक्षा न तु वस्तुनः स्वरूपेण सत्वमसत्वं वा।

वृत्ति—विवक्षा हि योग्यशब्दनिबन्धना।

बनारस टीका—विवक्षैव हि शब्दप्रयोगनिबन्धनम्।

वृत्ति—योग्यं हि शब्दं प्रयोक्ता विवक्षाप्रापितसन्निधानेष्वभिधेयेषु प्रत्यर्थमुपादत्ते। तद्यथोपलिप्समानः प्रातविषयं योग्यमेवेन्द्रियमुपलब्धौ प्राणिधत्ते।

बनारस टीका—योग्यं हि शब्दं प्रयोक्ता विवक्षाप्रापितसाधुभावेष्वर्थेषु प्रयुङ्क्ते। यथा प्रतिविषयं योग्यमेवेन्द्रियमुपलब्धौ प्राणिधत्ते। इत्यादि।

इन दोनों टीकाओं के अनुशीलन से यही स्पष्ट होता है कि वृत्ति के कुछ शब्द बनारस की टीका में नहीं प्रयुक्त हुए तथा कुछ शब्द सरलीकरण की दृष्टि से या तो समास विग्रह करके प्रयुक्त हुए हैं या कहीं-कहीं पर कठिन प्रत्ययों को हटा दिया गया है। उपर्युक्त उदाहरण में वृत्ति में प्रयुक्त 'वस्तुस्वरूपतया सत्वमसत्वं वा' के स्थान पर बनारस की टीका में 'वस्तुनः स्वरूपेण सत्वमसत्वं वा' का प्रयोग किया गया है। यहां वस्तुस्वरूपतया का विग्रह करके वस्तुनः स्वरूपेण का प्रयोग सरलीकरण की दृष्टि से किया गया है।

इसके विपरीत द्वितीय काण्ड पर भर्तृहरि की स्वोपज्ञ—वृत्ति एवं पुण्यराज की टीका की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि पुण्यराज की टीका वृत्ति पर ही आधारित है परन्तु दोनों की भाषा एवं व्याख्या की शैली सर्वथा भिन्न है। यदि बनारस की प्रथम काण्ड की टीका भी पुण्यराज की होती तो वह भर्तृहरि—वृत्ति का ही संक्षिप्त रूप न होती। वाक्यपदीयद्वितीयकाण्ड 17 कारिका पर दोनों की टीकाओं की तुलना करने पर दोनों में परस्पर भेद स्पष्ट हो जाएगा।

---

1. अर्थप्रवृत्तितत्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
   तत्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते॥
   —वा० प०, 1-13

वाक्यपदीय 2-17[1] पर टीका करते हुए भर्तृहरि ने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह मत किन आचार्यों का है उन्होंने तो यही कहा है कि कुछ प्रक्रियान्तरवादी विद्वानों का यह मत है।[2] पुण्यराज ने यह स्पष्ट किया है कि इस कारिका में अन्विताभिधान का आश्रय लेकर वाक्यविषयक आठ लक्षणों में से प्रथमपदवाक्य तथा समस्त साकाँक्ष पदवाक्य पक्षों का प्रदर्शन किया गया है।[3] दोनों की टीकाओं में कहीं पर भी भाषागत एवं शब्दगत किसी प्रकार का साम्य नहीं है। एक ओर जहां भर्तृहरि लम्बे-लम्बे वाक्यों द्वारा गम्भीर शब्दावली का प्रयोग करते हुए कारिका की व्याख्या करते हैं वहां दूसरी ओर पुण्यराज सरल तथा सर्वग्राह्य पदावली का प्रयोग करते हुए कारिका की व्याख्या करते हैं। उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने सात पंक्तियों का एक वाक्य प्रयुक्त किया है वहां पुण्यराज ने पांच छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हुए कारिका का अर्थ स्पष्ट किया है।

इस प्रकार जहां पुण्यराज की द्वितीय काण्ड को टीका भर्तृहरिवृत्ति से प्रभावित होती हुई भी उससे सर्वथा भिन्न है वहां इसके विपरीत प्रथमकाण्ड पर बनारस से प्रकाशित टीका भाषा, शब्दों एवं वाक्यों की दृष्टि से भर्तृहरिवृत्ति के समान है। दोनों में वाक्यों की समानता, विचारों की समानता एवं उद्धरणों की समानता स्पष्ट लक्षित होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथमकाण्ड पर बनारस से प्रकाशित टीका पुण्यराज कृत न होकर भर्तृहरिवृत्ति का ही संशोधित रूप है। यह संशोधन किसने किया यह अभी तक ज्ञात नहीं है। अतः यह अन्वेषणीय विषय है।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पुण्यराज ने प्रथम काण्ड पर कोई टीका नहीं लिखी। वास्तविकता तो यह है कि पुण्यराज ने प्रथम काण्ड पर भी टीका लिखी थी जो दुर्भाग्यवश अब उपलब्ध नहीं है। इसकी पुष्टि निम्न कारणों से हो जाती है—

(1) पुण्यराज जिस प्रकार से द्वितीयकाण्डटीका का प्रारम्भ करते हैं उससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने प्रथम काण्ड पर भी टीका लिखी थी। द्वितीय काण्ड

---

1. विशेषशब्दाः केषाञ्चित् सामान्यप्रतिरूपकाः।
शब्दान्तराभिसम्बन्धाद् व्यज्यन्ते प्रतिपत्तृषु॥
—वा० प०, 2-17

2. केषाञ्चित्तु प्रक्रियान्तरवादिनामक्षादिवद्...।
—भर्तृहरि वृत्ति वा० प०, 2-17

3. इदानीमन्विताभिधानसमाश्रयणेन पदमाद्यं पृथकसर्वपदं साकाङ्क्षमित्युद्दिष्टे वाक्यलक्षणे प्रदर्शयितुकाम आह।'
—पु० रा० वा० प०, 2-17

टीका के प्रारम्भ मे पुण्यराज कहते हैं कि शब्द का प्रयोजन सहित स्वरूपादिक आंशिक रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है तथा साधारण रूप से उसका वाचकत्व भी स्थापित कर दिया गया है। अब द्वितीय काण्ड में वाचकत्व से युक्त वाक्य के स्वरूप का निर्णय किया जाएगा।[1] जिस प्रकार से पुण्यराज प्रथम काण्ड का संक्षिप्त सार प्रसंग के रूप में प्रस्तुत करते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्रथम काण्ड पर टीका लिखी थी।

(2) दूसरी बात यह कि वाक्यपदीय प्रथम काण्ड के अति गम्भीर एवं द्वितीय काण्ड के अंगभूत स्फोट के प्रतिपादक विषय को छोड़कर केवल द्वितीय काण्ड की टीका करना पुण्यराज जैसे विद्वान् के लिये उचित प्रतीत नहीं होता।

(3) पुण्यराज अपनी द्वितीय काण्ड की टीका में कहते हैं कि ब्रह्मकाण्ड में सभी शंकाओं का निवारण करके स्फोट का स्वरूप निरूपित कर दिया गया है।[2] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पुण्यराज ने प्रथम काण्ड पर भी टीका लिखी थी।

जहां तक तृतीय काण्ड का सम्बन्ध है. हो सकता है कि उन्होंने इस पर टीका लिखी हो क्योंकि उन्होंने स्थान-स्थान पर तृतीय काण्ड से उद्धरण दिये हैं[3] तथा

---

1. शब्दस्य प्रयोजनसहितं स्वरूपादिकं लेशतो निर्णीतम्। तस्य च साधारण्येन वाचकत्वं व्यवस्थापितम्। इदानीं मतभेदेन केषाञ्चित्पदं वाचकमन्येषां वाक्यमिति वाचकात्मनो वाक्यस्वरूपस्य तावद्वितस्य स्वरूपप्रतिपादनाय द्वितीयकाण्डारम्भः।

—पु० रा० वा० प०, 2-1

2. ब्रह्मकाण्डे सर्वशङ्कानिवारणपूर्वकं स्फोटस्वरूपं निरूपितमेव।'

—पु० रा० वा० प०, 2-27

3. वा० प० 2-73-74 कारिका में मीमांसकों के प्रतिनिधि न्याय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज तृतीय काण्ड से निम्न उद्धरण देते हैं—

(क) आश्रयाश्रयिणोर्वाक्यान्नियमस्त्ववतिष्ठते'—वा० प०, 3/1/4

(ख) यद्वक्ष्यति—'क्रियया योऽभिसम्बन्धः स श्रुतिप्रापितस्तयोः।

—वही, 3/1/75

(ग) वक्ष्यति च—'तत्र द्रव्यगुणाभावे प्रत्येकं स्याद्विकल्पनम्।
श्रुतिप्राप्तो हि सम्बन्धो बलवान् वाक्यलक्षणात्॥

—(3/1/76) पु० रा० वा० प० 2-73-74

वा० प० 2-198 की व्याख्या करते हुए पुण्यराज साधन—समुद्देश का उद्धरण देते हैं—

साधनैर्व्यपदिष्टे च श्रूयमाणक्रिये पुनः।
प्रोक्ता प्रतिपदं षष्ठी समासस्य निवृत्तये॥

—(साधन समुद्देश) पु० रा० वा० प०, 2-198

वा० प० 2-77 कारिका की व्याख्या करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य भर्तृहरि ने अपनी स्वोपज्ञ टीका में यह स्पष्ट कर दिया है कि मीमांसकों के बारह अथवा चौबीस न्याय पदकाण्ड के लक्षणसमुद्देश में विवेचित कर दिये गये हैं। पुण्यराज कहते हैं कि यह लक्षण समुद्देश पद काण्ड में नहीं मिलता इसका कारण पुण्यराज ने लेखक प्रमाद अथवा आगमभ्रंश दिया है।[1] इससे यह निश्चित नहीं अपितु सम्भावना की जा सकती है कि उन्होंने तृतीय काण्ड पर भी टीका लिखी थी।

इस प्रकार सम्प्रति पुण्यराज की केवल वाक्यकाण्ड पर ही टीका उपलब्ध होती है जिसे सभी विद्वान[2] निर्विवाद स्वीकार कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में अशोक अक्लूजकर का लेख[3] विचारणीय है। जिसमें उन्होंने वाक्यकाण्ड की टीका को पुण्यराज का न मानकर हेलाराज का सिद्ध किया है। अतः उनके द्वारा दिये गये तर्कों की सत्यता अथवा असत्यता का विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

अशोक अक्लूज़कर के तर्क एवं उनका खण्डन

(1) अक्लूज़कर महोदय लिखते हैं कि वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड की टीका के विषय में उन्हें अब तक सत्ताईस हस्तलेख ज्ञात हो सके हैं जिनमें से आठ हस्तलेख पूरे नहीं हैं तथा एक हस्तलेख पूरी टीका से युक्त है लेकिन उसकी पुष्पिका नहीं है। दो हस्तलेखों की पुष्पिकाएं उन्हें ज्ञात नहीं हैं। इस प्रकार शेष सोलह हस्तलेख बचते हैं जिनमें से चौदह हस्तलेखों की पुष्पिकाओं में टीकाकार का नाम पुण्यराज दिया गया है तथा दो हस्तलेख टीका को हेलाराज कृत बताते हैं। अक्लूज़कर महोदय कहते हैं कि

वा० प० 2-205 की व्याख्या करते हुए पु० रा० पदकाण्ड से उद्धरण देते हैं—

द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि च।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥
पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव च।—पु० रा० वा० प० 2-205

1. एतेषां च वितत्य सोपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशाल्लेखकप्रमादादिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।
—पु० रा० वा० प०, 2-77

2. पण्डित चारुदेव शास्त्री, कुन्हनराजा, कुञ्जुनी राजा, सुब्रह्मण्यम् अय्यर, कपिलदेव द्विवेदी, रामसुरेश त्रिपाठी, गौरीनाथ शास्त्री, के० राघवन पिल्ले, आभ्यंकार-लिमये इत्यादि।

1. दि आथरशिप आफ वाक्यकाण्ड टीका (चारुदेव शास्त्री फेलिसिलेशन वोल्यूम)

वे दो हस्तलेख जिनमें टीकाकार का नाम हेलाराज दिया गया है उन चौदह हस्तलेखों से प्राचीन हैं। इसकी पुष्टि उनके लेख के द्वारा दी गई तिथियों तथा पाठों की तुलना करने से हो जाती है। लेकिन जिन चौदह हस्तलेखों में टीकाकार का नाम पुण्यराज दिया गया है उनके लिये क्या व्याख्या दी जाए ? अक्लूज़कर महोदय ने स्वयं ही यह कहा है कि "भारत का लेखक (हस्तलेखों का लेखक) वर्ग रचनाकार के विषय में इतनी रुचि नहीं लेता न ही वह इस प्रकार का ज्ञानी होता है कि ग्रन्थ के लेखक का नाम परिवर्तित कर दे।" अतः जिन हस्तलेखों में पुण्यराज को टीकाकार माना गया है उनका कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। हो सकता है कि इन चौदह हस्तलेखों से पूर्व भी हस्तलेख लिखे गये हों जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हों तथा उन हस्तलेखों में टीकाकार का नाम पुण्यराज हो। अतः दो हस्तलेखों के आधार पर टीका का रचयिता हेलाराज स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

(2) अक्लूज़कर महोदय ने हेलाराज की टीका में वाक्यपदीयद्वितीयकाण्ड की पन्द्रह कारिकाएं प्रदर्शित की है—

(1) जनयित्वा क्रिया काचित्सम्बन्धो विनिवर्तते।
श्रूयमाणे क्रियाशब्दे सम्बन्धो जायते क्वचित्॥
—वा० प० 2-197

यह कारिका हेलाराज ने वा० प० 3/1/1 पर उद्धृत की है।

(2) क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥
—वा० प०, 2-204

यह कारिका भी हेलाराज ने वा० प० 3/1/1 पर उद्धृत की है।

(3) कर्मप्रवचनीयत्वं क्रियायोगे विधीयते।
षत्वादिनिवृत्यर्थं स्वत्यादीनां विधर्मणाम्॥
—वा० प० 2-202

यह कारिका भी हेलाराज ने वा० प० 3/1/1 पर उद्धृत की है।

(4) असम्भवे प्रतिनिधिर्माभून्नित्यत्यस्य कर्मणः।
काम्यस्य वा प्रवृत्तस्य लोप इत्युपदिश्यते॥

यह कारिका हेलाराज ने वा० प० 3।1।3 की टीका करते हुए उद्धृत की है।

(5) 'वृषलैर्न प्रवेष्टव्यम्...।'—वा० प० 2-381

यह कारिकांश वा० प० 3।1।52 पर हेलाराज ने उद्धृत किया है।

(6) स्तुतिनिन्दाप्रधानेषु वाक्येष्वर्थो न तादृशः ।

पदानां प्रविभागेन यादृशः परिकल्प्यते ।।'

—वा० प०; 2-247

यह कारिका हेलाराज ने वा० प० 3/1/58-59 पर उद्धृत की है ।

(7) 'सामान्यार्थस्तिरोभूतो न विशेषेऽवतिष्ठते ।

उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तः क्वावतिष्ठताम् ।।'

—वा० प०, 2-15

यह कारिका हेलाराज द्वारा वा० प० 3-1-74 पर उद्धृत की गई है ।

(8) 'ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति ब्राह्मणकम्बले ।'— वा० प०, 2-14

यह कारिकांश हेलाराज द्वारा वा० प० 3-1-87 पर उद्धृत किया गया है ।

(9) 'अनागमश्च सोऽभ्यासः समयः कैश्चिदिष्यते ।'

—वा० प० 2-118

यह कारिकांश हेलाराज ने वा० प० 3-3-31 पर उद्धृत किया है ।

(10) 'हेतुहेतुमतोर्योगपरिच्छेदेऽनुना कृते ।

आरम्भाद् बाध्यते प्राप्ता तृतीया हेतुलक्षणा ।।

—वा० प०, 2-203

यह कारिका हेलाराज ने वा० प० 3-7-24 पर उद्धृत की है ।

(11) 'स चोपजातः सम्बन्धो विनिवृत्ते क्रियापदे ।

कर्मप्रवचनीयेन तत्र तत्र नियम्यते ।।

—वा० प०, 2-199

यह कारिका हेलाराज ने वा० प० 3-1-1 पर उद्धृत की है ।

(12) अभेदपूर्वका भेदाः···।—वा० प० 2-57

हेलाराज ने यह कारिकांश वा० प० 3-12-15 पर उद्धृत किया है ।

(13) शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते ।

अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्ण्यते ।।

—वा० प० 2-233

यह कारिका हेलाराज ने वा० प० 3-14-76 की व्याख्या में उद्धृत की है ।

(14) एकमाहुरनेकार्थं शब्दमन्ये परीक्षकाः ।—वा० प० 2-250
यह कारिकार्ध हेलाराज द्वारा वा० प० 3-14-94 में उद्धृत हैं ।

(15) क्रियानुषङ्गेण विना न पदार्थः प्रतीयते ।
—वा० प० 2-224
यह कारिकार्ध हेलाराज ने 3-14-249 पर उद्धृत किया है ।

अक्लूजकर महोदय का कथन है कि हेलाराज ने जिस प्रसंग में ये कारिकाएं उद्धृत कीं तथा इन कारिकाओं पर पुण्यराज द्वारा जो व्याख्या दी गई है उनमें परस्पर समानता है तथा अक्लूजकर महोदय ने शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते' इत्यादि कारिका की टीका तथा जिस प्रसंग में हेलाराज ने कारिका दी है उनमें समानता को पुष्ट करने वाला अंश उद्धृत किया है । वा० प० द्वितीय काण्ड में इस कारिका की टीका में ये वचन हैं 'अविद्यैव हि विद्योपायः ।' तथा वा० प० 3-14-94 की व्याख्या में जहाँ यह कारिका उद्धृत की गई है वह इस प्रकार है 'एतदुक्तं भवति अविद्यैव विद्योपाय इति ।' अक्लूजकर महोदय कहते हैं कि वाक्यकाण्डटीका हेलाराज विरचित है क्योंकि एक तो हेलाराज ने वाक्य काण्ड से कारिकाएं उद्धृत की हैं तथा दूसरा जिस प्रसंग में उन्होंने कारिकाएं उद्धृत की हैं उनकी वाक्यकाण्ड में इन कारिकाओं पर दी गई टीका के साथ समानता है । परन्तु, द्वितीय काण्ड की कारिकाओं को उद्धृत करने के कारण द्वितीय काण्ड की टीका को हेलाराज कृत मानना कैसे युक्तिसंगत है ? यदि यह कहें कि द्वितीयकाण्ड में इन कारिकाओं पर लिखी टीका तथा हेलाराज द्वारा जिस प्रसंग में ये कारिकाएं उद्धृत हैं, में समानता है अतः हेलाराज ने ही वाक्यकाण्ड टीका लिखी, उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि तृतीयकाण्ड वाक्यपदीय का ही एक अंश है तथा यह सर्वविदित है कि वाक्यपदीय के प्रथम दो काण्डों में वर्णित विषयों का विवेचन भी तृतीय काण्ड में हुआ है इसीलिए इसका नाम 'प्रकीर्णकाण्ड' पड़ा । अतः यदि हेलाराज द्वितीयकाण्ड से उद्धरण देते हैं तो इससे यह अवश्य सूचित होता है कि उन्होंने द्वितीय काण्ड पर भी टीका लिखी होगी परन्तु इस आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि वाक्यकाण्ड टीका उनकी लिखी हुई है । जहाँ तक प्रकरण की समानता की बात है यह तो सिद्ध ही है कि जब तक एक जैसा प्रकरण नहीं आता तब तक उद्धरण दिया ही नहीं जा सकता । अतः द्वितीयकाण्ड टीका एवं हेलाराज के द्वारा उद्धृत कारिकाओं में प्रकरण की समानता से यह नहीं माना जा सकता कि वाक्यकाण्ड टीका हेलाराज की है ।

(3) हेलाराज को वाक्यकाण्ड टीका का रचियता सिद्ध करने के लिए अक्लूजकर महोदय हेलाराज की एक उक्ति उद्धृत करते हैं जिसमें उन्होंने कहा है कि (व्याकरण) 'शास्त्र का अधिकार पुरुष धर्मों में भी होता है. इसका विचार वाक्यपदीय में किया गया

है।' अक्लूज़कर महोदय कहते हैं कि वाक्यकाण्डटीका वा० प० 2-79 में ही यह विचार किया गया है।[1] अतः वाक्यकाण्ड टीका हेलाराज कृत है। परन्तु इस आधार पर वाक्यकाण्ड टीका को हेलाराज कृत सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि पुण्यराज की टीका भर्तृहरि की वृत्ति पर आधारित है। यद्यपि भर्तृहरि की टीका इस कारिका पर अब उपलब्ध नहीं होती लेकिन पुण्यराज के समय में अवश्य रही होगी तथा उसमें शब्दार्थ एवं पुरुष धर्मों का विवेचन अवश्य होगा। अक्लूज़कर महोदय का यह कथन कि वाक्यकाण्डटीका में पुरुष-धर्मों का विवेचन कारिका के विषय से हटकर है, उचित नहीं है क्योंकि कारिका[2] में 'शास्त्रात् प्राप्ताधिकारोऽयं' प्रयुक्त हुआ है। अतः पुण्यराज जैसे टीकाकार के लिये, जो कि कारिका की विशद व्याख्या करते हैं, 'शास्त्र का अधिकार' किसमें है, स्पष्ट करना अनिवार्य हो जाता है अतः अक्लूज़कर महोदय का यह कहना कि वाक्यकाण्डटीका में पुरुषधर्मों का विवेचन कारिका के विषय से हटकर है तथा ऐसा विवेचन हेलाराज ने ही किया है अतः वाक्यकाण्ड टीका हेलाराज कृत है, उचित नहीं है। यद्यपि हेलाराज ने टीका में यह कहा है कि वाक्यपदीय में पुरुष-धर्मों का विवेचन किया है वह वाक्यकाण्डटीका के सम्बन्ध में न होकर भर्तृहरि-वृत्ति के संबन्ध में भी माना जा सकता है क्योंकि हेलाराज ने 'वाक्यपदीये विचारितम्' कहा है न कि 'वाक्यपदीयटीकायाम्'। वाक्यपदीय के रूप में कारिका सहित वृत्ति को विद्वान् लोग स्वीकार कर चुके हैं। अतः अक्लूज़कर महोदय का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

(4) अक्लूज़कर महोदय कहते हैं कि जिन ग्रन्थों से तृतीयकाण्ड की टीका में उद्धरण दिये गये हैं वाक्यकाण्डटीका में भी उन्हीं ग्रन्थों में उद्धरण दिये गये हैं, जैसे—

(1) **कुमारिल भट्ट**—(हेलाराज द्वारा दिये गये उद्धरण)

---

1. 'आबाधादिवद् युक्तं शब्दसंस्कारनिमित्तत्वमस्य।
पुरुषधर्मेष्वपि हि शास्त्रमधिकृतमिति विचारितं वाक्यपदीये।'
—हेलाराज वा० प०, 3-9-105

2. शास्त्रस्य तु शब्दार्थ-पुरुषधर्मेष्वधिकारः······पुरुषधर्माः वक्तृत्वप्रतिपत्तृत्वप्रभृतयः। तत्र वक्तृधर्मा आबाधः, असूयाऽसम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनादयश्चेति। प्रतिपत्तृ-धर्मास्तु कुत्स्यमानत्वप्रभृतयः एव। तत्र शास्त्रस्य प्लुतद्विर्वचनादिविधायकत्वेना-धिकार इति। —पु० रा० वा० प०, 2-79

3. अर्थित्वमत्र सामर्थ्यमस्मिन्नर्थो न भिद्यते।
शास्त्रात्प्राप्ताधिकारोऽयं व्युदासोऽस्य क्रियान्तरे॥
—वा० प०, 2-79

(2) (क) भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमिष्यते।
सक्तवो वा नोपयोक्ष्यन्ते नोपयुक्ताश्च ते क्वचित् ॥[1]

(ख) शक्तयः सर्वभावानां कार्यार्थापत्तिगोचराः।[2]

(ग) तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवत्यसौ ॥[3]

(2) जयादित्यवामन—

प्रातिपदिकार्थः सत्ता।[4]

(3) धर्मकीर्ति—

(क) शब्दाः सांकेतिकं प्राहु व्यवहाराय संस्मृताः।
तदा स्वलक्षणं नास्ति संकेतस्तन तत्र नः ॥[5]

(ख) दूरे यथा वा मरुषु महानलोऽपि दृश्यते।[6]

(ग) एकदेशेन सारूप्यात् सर्वं यथा स्यात् सर्ववेदनम्।
सर्वात्मना तु सारूप्ये ज्ञानमज्ञानतां व्रजति ॥[7]

(घ) वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाश्यते।
प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्वनिबन्धनम् ॥[8]

(ङ) सतां च निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः ॥[9]

---

1. तन्त्र वा० मी० मा० सू०-2।1।4
2. श्लोकवार्तिक शून्यवाद 254
   हेलाराज 3-7-15 पर उद्धृत।
3. श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण, 160
   हेलाराज द्वारा 3।11।30 पर उद्धृत
4. काशिका, 1-2-32 अ० सू० पर
   हेलाराज द्वारा 3-1-34 पर उद्धृत।
5. हेलाराज द्वारा 3-1-100 पर उद्धृत।
6. हेलाराज द्वारा 3-1-40 पर उद्धृत।
7. हेलाराज द्वारा 3-2-9 पर उद्धृत।
8. हेलाराज द्वारा 3-3-1 पर उद्धृत।
9. हेलाराज द्वारा 3-3-42 पर उद्धृत।

यस्मिन् सति भवत्येव ततोऽन्यस्य कल्पने ।
तद्धेतुत्वेन सर्वत्र हेतुनामवस्थितिः ।।[1]

(4) मण्डन मिश्र—

नेक्षिता जातिशब्दानां समुदायानुपातिता ।
जातिमाचक्षते ते हि व्यक्ति जातिसमाश्रया ।।[2]

वाक्यकाण्ड टीका में उद्धृत श्लोक

(1) कुमारिल भट्ट—

यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ।
वर्णा प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ।।[3]

(2) जयादित्य वामन—

यद्येवं कर्मणीति किं मातुर्गुणैः स्मरणमिति ।[4]

(3) धर्मकीर्ति—

सतां च निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च विद्यते ।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थं प्रलयं गतः ।।[5]

(4) मण्डन मिश्र—

नेक्षिता जातिशब्दानां समुदायानुपातिता ।
जातिमाचक्षते ते हि व्यक्ति जातिसमाश्रया ।।[6]

अक्लूज़कर महोदय कहते हैं कि दोनों टीकाओं में इन ग्रन्थों से उद्धरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि दोनों टीकाएं एक ही व्यक्ति के द्वारा रची गई है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है दोनों ही अलग-अलग व्यक्ति हैं। दोनों ही वाक्यपदीय के टीकाकार हैं और दोनों ने ही अपनी टीका के लिए अन्य ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा। अतः वाक्यपदीय में विषयों की समानता के कारण दोनों ही टीकाकार यदि एक ही

1. हेलाराज द्वारा 3-7-24 पर उद्धृत ।
2. स्फोटसिद्धि 9, हेलाराज द्वारा वा० प० 3-14-484 पर उद्धृत ।
3. श्लोकवार्तिक स्फोटवाद 69, पु० रा० द्वारा वा० प० 2-63 पर उद्धृत ।
4. काशिका पा० 2।3।52, पुण्यराज द्वारा वा० प० 2-200 पर उद्धृत ।
5. पु० रा० द्वारा वा० प० 2-243 पर उद्धृत ।
6. पु० रा० द्वारा वा० प० 2-157 पर उद्धृत ।

ग्रन्थ से उद्धरण दे देते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि दोनों टीकाओं का रचयिता एक ही व्यक्ति है। दो अलग-अलग व्यक्ति भी एक ही ग्रन्थ से उद्धरण दे सकते हैं क्योंकि उस ग्रन्थ में उनके विषय के पोषक उद्धरण उपलब्ध होते हैं।

(5) अक्लूज़कर महोदय कुछ शब्द तथा समास उद्धृत करते हैं जो दोनों ही टीकाओं में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे आच्छुरित, अध्यास, अयःशलाकाकल्प, कालपरिवासः, दृश्यविकल्प; अदूरविप्रकर्ष, पांसूदकवत् इत्यादि। वे कहते हैं कि जिस अर्थ में ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं अन्य ग्रन्थों में नहीं हुए। अ : दोनों टीकाओं के रचयिता हेलाराज हैं। परन्तु उन शब्दों के प्रयोग के कारण हेलाराज को टीकाकार मानना कहां तक युक्ति-संगत है? हां एक का दूसरे पर प्रभाव अवश्य माना जा सकता है।

(6) अक्लूज़कर महोदय कहते हैं कि केवल अन्तिम साठ श्लोकों के अन्त में पुण्यराज का नाम आया है। अतः पुण्यराज ने केवल टीका के अन्तिम साठ श्लोकों की रचना की। परन्तु वाक्यकाण्डटीका के अन्त में जो साठ श्लोक दिये गये हैं उनकी रचना सम्पूर्ण वाक्यकाण्ड का गहन अध्ययन किये बिना नहीं हो सकती। अतः यह कैसे मान लिया जाए कि एक विद्वान वाक्यकाण्ड जैसे क्लिष्ट विषय का परिश्रमपूर्वक अध्ययन केवल उसका साठ श्लोकों में सारांश मात्र देने के लिए करता है?

अक्लूज़कर महोदय साठ श्लोकों के अन्त में पुण्यराज का निर्देश करने वाले निम्न श्लोकों की परस्पर संगति नहीं मानते हैं—

इत्येवं वाक्यकाण्डस्य प्रमेयविषया स्फुटम्।
राङ्गतिः कीर्तिता लघ्वी समासेन निराकुला ॥57॥

विद्वज्जनानां य खलु सर्वत्र गीयते जगति।
तत उपसृत्य विरचिता राजानकशूखर्मनाम्ना वै ॥58॥

शशाङ्कशिष्याच्छ्रुत्वैतद् वाक्यकाण्डं समासतः।
पुण्यराजेन तस्योक्ता सङ्गतिः कारिकाश्रिता[1] ॥59॥[1]

अक्लूज़कर महोदय कहते हैं कि श्लोक 58 तथा 59 दोनों की परस्पर संगति नहीं है क्योंकि 58 श्लोक आर्या छन्द में विरचित है तथा उसमें राजानक शूरवर्मा को वाक्यकाण्ड में वर्णित विषयों के विवरण देने वाले श्लोकों का रचयिता माना गया है। श्लोक 59 अनुष्टुप् छन्द में है तथा उसमें पुण्यराज को श्लोकों का रचयिता माना गया है। परन्तु वास्तव में दोनों ही श्लोक पुण्यराज के ही जीवन को बताते हैं। पुण्यराज कोई काव्य तो लिख नहीं रहे कि वह छन्दों के प्रयोग पर ध्यान देते उनका

1. पु० रा० श्लोक, 57, 58, 59

तो मुख्य प्रयोजन वाक्यकाण्ड की व्याख्या करना है । अतः छन्द भेद के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों श्लोकों में संगति नहीं है । अक्लूज़कर महोदय दोनों में संगति न मानकर केवल एक श्लोक को प्रमाण मानकर पुण्यराज को केवल साठ श्लोकों का रचयिता मानते हैं । वास्तव में दोनों श्लोक पुण्यराज के ही विषय में हैं । श्लोक में यह बताने के लिये कि पुण्यराज कश्मीरवासी थे 'राजानकशूरवर्मा' नाम का प्रयोग किया गया है तथा दूसरे श्लोक में उनका नाम पुण्यराज दिया गया हैं । अक्लूज़कर महोदय 'पुण्यराजेन तस्योक्ता संगतिः कारिकाश्रिता' का अर्थ 'पुण्यराज ने कारिका से सम्बन्धित संगति अर्थात् श्लोक कहे हैं' किया है । जिसके आधार पर वह पुण्यराज को केवल श्लोकों का रचयिता ही मानते हैं । परन्तु वास्तव में इस कारिकार्ध का अर्थ यह नहीं है । 57 कारिका में यह बताया गया है कि 'इस प्रकार पुण्यराज ने वाक्यकाण्ड के वर्णित विषयों की संगति का संक्षेप में (श्लोकों द्वारा) कीर्तन किया है ।' श्लोक 59 में कहा गया है कि 'शूर-वर्मा नाम से प्रसिद्ध पुण्यराज ने शशांकशिष्य से वाक्यकाण्ड को सुनकर उसकी कारिकाओं पर आधारित संगति (व्याख्या) लिखी ।' इस प्रकार इस श्लोक में पुण्यराज की कारिकाश्रित व्याख्या (टीका) का विवेचन है तो पूर्व श्लोक में पुण्यराजरचित वाक्यकाण्ड की प्रमेय विषयक संगति (वाक्यकाण्ड के वर्ण्यविषय के अभिधायक श्लोक) का निर्देश है । अतः श्लोकों की रचना एवं टीका की रचना पुण्यराज ने ही की है । अक्लूज़कर महोदय तो यह कहते हैं कि हेलाराज ने टीका लिखी तथा पुण्यराज को हेलाराज से पूर्व का मानते हुये कहते हैं कि हेलाराज को पुण्यराज के साठ श्लोक ज्ञात थे अतः उन्होंने अपनी टीका के अन्त में उन्हें जोड़ दिया । पहली बात तो यह कि विद्वान् हेलाराज को पुण्यराज से प्राचीन मानते हैं । दूसरा यदि मान भी लें कि पुण्यराज हेलाराज से प्राचीन है तो भी हेलाराज द्वारा अपनी टीका के अन्त में श्लोक जोड़ना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वाक्यकाण्डटीका के अन्त में तथा श्लोकों से प्रारम्भ में यह निर्देश तो होना ही चाहिये कि 'यह हेलाराज कृत वाक्यकाण्ड-टीका समाप्त हुई तथा 'यह पुण्यराजकृत श्लोकों का विवेचन है ।' जो हेलाराज तृतीय काण्ड के प्रत्येक समुद्देश के अन्त में अपना एवं अपने पिता का नाम स्पष्ट रूप से देते हैं'[1] उन्होंने टीका के अन्त में अपना नाम क्यों नहीं दिया ?

वाक्यकाण्ड की टीका के अन्त में कहीं पर भी यह आभास नहीं होता कि टीका समाप्त हो गई है, अपितु श्लोकों के प्रारम्भ में 'तदयमत्र मेयसमुच्चयः' का प्रयोग टीका

---

1. 'इति भूतिराजतनय-हेलाराजकृते प्रकीर्णप्रकाशे द्रव्यसमुद्देशो नाम द्वितीयः ।
'इति भूतिराजतनयहेलाराजकृते प्रकीर्णप्रकाशे जातिसमुद्देशः ।"
—हेलाराज वा० प० प्रकीर्णकाण्ड द्रव्यसमुद्देश एवं जातिसमुद्देश

एवं श्लोकों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है। इसका अर्थ है 'अब (टीका के अन्त में) यह विषयों का (वाक्यकाण्ड के विषयों का) समुच्चय दिया जाता है।[1] इससे यही सिद्ध होता है कि श्लोक एवं टीका एक ही व्यक्ति पुण्यराज की है। इसीलिए श्लोकों के अन्त में ही उन्होंने अपना परिचय भी दिया और अन्त में यह कहा कि पुण्यराजकृत-वाक्यकाण्ड की टीका समाप्त होती है। (इति श्रीपुण्यराजकृता वाक्यपदीयद्वितीय काण्ड-टीका समाप्ता)

यदि द्वितीयकाण्ड एवं तृतीयकाण्ड की टीकाओं के 'आरम्भों' की तुलना की जाये तब भी यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों अलग-अलग व्यक्तियों की है। वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड की टीका का प्रारम्भ स्तुतिपरक श्लोकों के द्वारा हुआ है। पहला श्लोक स्तुतिपरक है, दूसरे श्लोक में पहले दो काण्डों पर लिखी गई टीका का निर्देश है तथा तीसरे श्लोक में तृतीय काण्ड की टीका के सम्बन्ध में निर्देश किया गया है।[1] जो टीकाकार तृतीय काण्ड (अन्तिमकाण्ड) का प्रारम्भ स्तुतिपरक श्लोक द्वारा करता है, उससे यही सिद्ध होता है कि प्रथम एवं द्वितीयकाण्ड की टीकाओं का प्रारम्भ भी उन्होंने स्तुतिपरक श्लोक से किया होगा। वाक्यकाण्ड की टीका का प्रारम्भ न तो स्तुति-प्रधान है और न ही श्लोकों द्वारा हुआ है।[2] उसमें तो सीधा ही सरल शब्दों में प्रथम काण्ड में वर्णित विषय तथा द्वितीयकाण्ड के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है। तृतीयकाण्ड के प्रारम्भ में टीकाकार अपनी टीका का नाम (प्रकाशोऽयम्) देते हैं, जबकि द्वितीयकाण्ड की टीका में कहीं भी प्रारम्भ में टीका का नाम नहीं है।

---

1. ॐ नमः श्रीभगवत्पाणिनिकात्यायनपतञ्जलिभ्यः,
यस्मिन्सम्मुखतां प्रयाति रुचिरं कोऽप्यन्तरुज्जृम्भते।
नेदीयान्महिमा मनस्यभिनवः पुंसः प्रकाशात्मनः,
तृप्तिं यत्परमां तनोति विषयास्वादं विना शाश्वताम्॥
वामानन्दसुधामयोजितवपुस्तत्प्रातिभं संस्तुमः॥ (1)
काण्डद्वये तथावृत्ति सिद्धान्तार्थतत्वतः।
प्रबन्धो विहितोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभिः॥ (2)
तच्छेषभूते काण्डेऽस्मिन्सप्रपञ्चे स्वरूपतः।
श्लोकार्थद्योतनपरः प्रकाशोऽयं विधीयते॥ (3)
—हेलाराज वा० प० तृतीयकाण्ड का प्रारम्भ

2. एवं शब्दस्य प्रयोजनसहितं स्वरूपादिकं लेशतो निर्णीतम्। तस्य च साधारण्येन वाचकत्वं व्यवस्थापितम्। इदानीं मतभेदेन केषाञ्चित्पदं वाचकमन्येषां वाक्यमिति वाचकात्मनो वाक्यस्वरूपस्य तावद्वितत्स्य स्वरूपप्रतिपादनाय द्वितीयकाण्डारम्भः।
—पु० रा० वा० प०, 2-1

हेलाराज तृतीयकाण्ड के अन्त में टीका समाप्त होने पर अपना परिचय पाँच श्लोकों द्वारा देते हैं। वह श्लोकों से पहले स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि भूतिराज के पुत्र हेलाराज द्वारा रचित प्रकीर्णप्रकाश में वृत्तिसमुद्देश समाप्त हुआ।[1] इसके बाद श्लोकों के अन्त में भी यह कहते हैं कि यह प्रकीर्ण प्रकाश (हेलाराज की टीका का नाम) समाप्त हुआ।[2] जबकि द्वितीयकाण्ड की टीका के अन्त में श्लोकों से पूर्व भी टीकाकार का नाम नहीं है। केवल 'तदत्र मेयसमुच्चयः' कहकर श्लोकों का प्रारम्भ कर दिया तथा[3] श्लोकों के अन्त में 'श्री पुण्यराजरचितवाक्यपदीयद्वितीयकाण्ड पर टीका समाप्त हुई'। इस प्रकार कहा है।[4] यह कहना कि द्वितीयकाण्डटीका हेलाराज ने लिखी है तथा टीका के अन्त में साठ श्लोक पुण्यराज ने लिखे हैं, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि जो टीकाकार अपने ही श्लोकों से पूर्व भी अपना नाम निर्देश करना आवश्यक समझता है, वह टीकाकार अन्य टीकाकार के श्लोकों को अपनी टीका में देने से पूर्व अपने विषय में निर्देश न करे यह कैसे सम्भव है।

परम्परा भी यही स्वीकार करती है कि वाक्यकाण्ड पर लिखी गई टीका पुण्यराज की ही है तथा अन्य विद्वान् भी इसे पुण्यराज की ही टीका मानते हैं। अतः जब तक इसके विरोध में प्रबल प्रमाण नहीं मिलते इसे पुण्यराज की मानना ही उचित है। इसी आधार पर हमने भी इसे पुण्यराज की मानकर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है।

---

1. इति भूतिराजतनयहेलाराजकृते प्रकीर्णप्रकाशे वृत्तिसमुद्देशश्चतुर्दशः।
   —समाप्तं चेदं पदकाण्डम्। हेलाराज वा० प० काण्ड तीन वृत्तिसमुदेश का अन्त
2. समाप्तोऽयं प्रकीर्णप्रकाशः।— वही
3. पु० रा० वा० प० 2 अन्त
4. इति श्रीपुण्यराजकृता वाक्यपदीयद्वितीयकाण्डटीका समाप्ता।
   —पु० रा० वा० प०, द्वितीयकाण्ड का अन्त

द्वितीय अध्याय

भर्तृहरि का वाक्य लक्षण विवेचन

(i) वाक्य विषयक आठ लक्षण

वाक्यपदीय-प्रथम-काण्ड में स्फोट का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है जिसका अर्थ है कि गौः इत्यादि शब्दों में गकार औकार तथा विसर्जनीय शब्द नहीं है अपितु इन ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त स्फोट ही अर्थ का वाचक है। अतः स्फोट ही वास्तविक शब्द है ध्वनियां नहीं। पुण्यराज कहते हैं कि वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में शब्द का स्वरूप कुछ अंश तक प्रतिपादित कर दिया गया है तथा उस स्फोट रूप शब्द का वाचकत्व भी साधारण रूप में स्थापित कर दिया गया है। अब द्वितीय-काण्ड में वाचकत्व से युक्त वाक्य के स्वरूप का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।[1] इस कथन से स्पष्ट होता है कि वाक्य ही वाचकत्व से युक्त है पद नहीं। 'शब्द' पद का प्रयोग वाक्य के लिये ही हुआ है क्योंकि वाक्य जिस समय अर्थ प्रतिपादन करता है उस समय वह निरवयव एवं अक्रम तथा एक शब्द रूप होता है। इसीलिये वाक्य के लिये 'शब्द' का प्रयोग किया गया है।

कुछ आचार्यों के अनुसार पद वाचक हैं तथा कुछ के अनुसार वाक्य। पुण्यराज ने वाक्य को ही वाचकत्व से युक्त माना है।[2] आचार्य भर्तृहरि ने वाक्य के विषय में अलग-अलग विद्वानों द्वारा स्वीकृत आठ लक्षणों की सूची प्रथम दो कारिकाओं में दी है।[3] पुण्यराज ने उन वाक्य लक्षणों का विभाजन करके यह स्पष्ट किया है कि

---

1. एवं शब्दस्य प्रयोजनसहितं स्वरूपादिकं लेशतो निर्णीतम्। तस्य च साधारण्येन वाचकत्वं व्यवस्थापितम्। इदानीं मतभेदेन केषाञ्चित्पदं वाचकमन्येषां वाक्यमिति वाचकात्मनो वाक्यस्वरूपस्य तावद्वितत्तस्य स्वरूपप्रतिपादनाय द्वितीयकाण्डारम्भः। पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
2. केषाञ्चित्पदं वाचकमन्येषां वाक्यमिति वाचकात्मनो वाक्यस्वरूपस्य···। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
3. आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥
पदमाद्यं पृथकसर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥ —वा० प०, 2-1, 2 (1)

कौन-कौन से वाक्यलक्षण अखण्ड वाक्य मानने वालों के अनुसार हैं तथा कौन-कौन से वाक्य लक्षण पदों को वाचक मानने वालों के अनुसार हैं। आचार्य भर्तृहरि के अनुसार वाक्य के निम्नलिखित आठ लक्षण भिन्न-भिन्न न्यायवादियों के अनुसार माने जाते हैं—

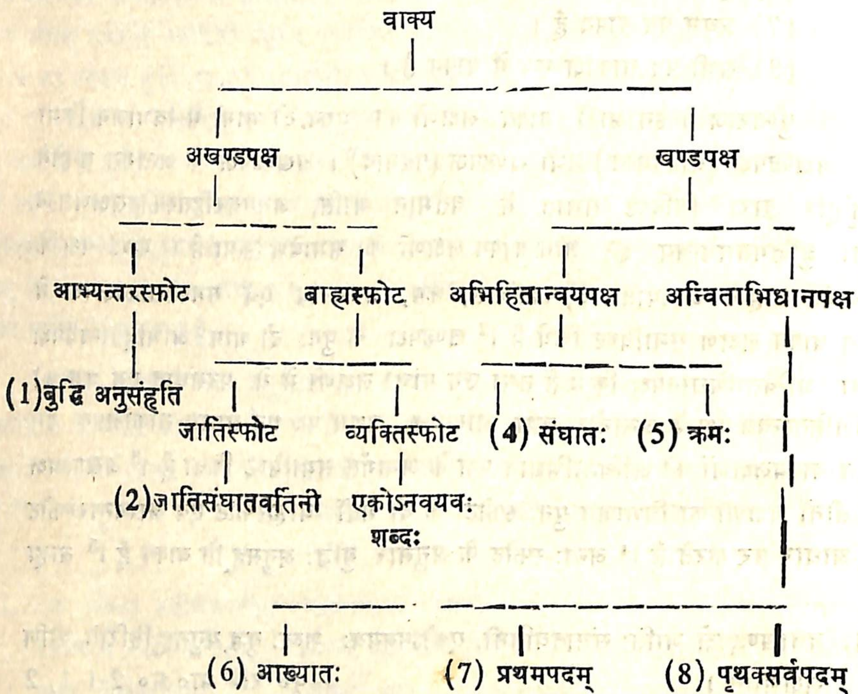
(1) आख्यात शब्द वाक्य है।
(2) पदसंघात वाक्य है।
(3) संघात में वर्तमान जाति वाक्य है।
(4) अवयव रहित, स्फोटलक्षण, एक स्वरूप वाला शब्द वाक्य है।
(5) क्रम वाक्य है।
(6) बुद्धिगत समन्वय वाक्य है।
(7) प्रथम पद वाक्य है।
(8) सभी पद साकांक्ष रूप में वाक्य हैं।

पुण्यराज ने इन आठों वाक्य लक्षणों का मुख्य दो भागों में विभाजन किया है—अखण्डपक्ष (वाक्यवाद) तथा खण्डपक्ष (पदवाद)। अखण्डपक्ष के अन्तर्गत उन्होंने भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट संघात में वर्तमान जाति, अवयवरहितस्फोटलक्षणशब्द तथा बुद्धिगतसमन्वय इन तीन वाक्य लक्षणों का समावेश किया है। खण्ड पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने आख्यातशब्द, पदसंघात, क्रम, प्रथम-पद एवं समस्तसाकांक्षपद ये पांच वाक्य लक्षण समाविष्ट किये हैं।[2] खण्डपक्ष के पुनः दो भाग अभिहितान्वयपक्ष तथा अन्विताभिधानपक्ष किये हैं तथा उन पांचों लक्षणों में से पदसंघात एवं क्रम को अभिहितान्वय पक्ष के अन्तर्गत तथा आख्यात, प्रथम पद एवं समस्त साकांक्षपद इन तीन वाक्यलक्षणों को अन्विताभिधान पक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किया है।[3] अखण्डपक्ष के तीनों लक्षणों का विभाजन पुनः स्फोट के दो भेदों बाह्यस्फोट एवं आभ्यन्तरस्फोट के आधार पर करते हैं।[4] अन्तः स्फोट के अनुसार बुद्धिः अनुसंहृति वाक्य है।[5] बाह्य

1. तत्राखण्डपक्षे जातिः संघातवर्तिनी, एकोऽनवयवः शब्दः बुद्ध्यनुसंहृतिरिति त्रीणि लक्षणानि। —पु० रा० वा० प० 2-1 1, 2
2. खण्डपक्षे तु– आख्यातशब्दः, क्रमः संघातः, पदमाद्यं, पृथक्सर्वपदं साकांक्षमिति पञ्चलक्षणानि। —वही
3. अत्रापि सङ्घातः, क्रम इत्यभिहितान्वयपक्षे लक्षणद्वयम्। आख्यातशब्दः, पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यन्विताभिधानपक्षे लक्षणत्रयमिति विभागः। —वही
4. स्फोटश्च द्विविधः— बाह्य आभ्यन्तरश्चेति। —वही
5. आभ्यन्तरस्य—पृ० 26

स्फोट के जाति स्फोट एवं व्यक्ति स्फोट ये दो अवान्तर भेद करते हुये पुण्यराज ने जाति-स्फोट के अन्तर्गत संघात में वर्तमान जाति को तथा व्यक्ति स्फोट के अन्तर्गत अवयवरहित स्फोटलक्षण शब्द को समाविष्ट किया है ।[1] उनका यह विभाजन वाक्यपदीय को एक अमूल्य देन है । इन कारिकाओं पर वृत्ति भी उपलब्ध नहीं है अतः पुण्यराज के इस विवेचन के द्वारा वाक्यलक्षणों को समझने में अत्यधिक सहायता मिलती है । निम्नलिखित तालिका के द्वारा यह विभाजन और अधिक स्पष्ट हो जाता है—

पुण्यराज द्वारा भर्तृहरि का वाक्य लक्षण विभाजन



5. आभ्यन्तरस्य तु बुद्ध्यनुसंहृतिरित्यनेनोद्देशः । —वही

1. बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविधः । तत्र जातिलक्षणस्य जातिः संघातवर्तिनीति, व्यक्तिलक्षणस्यैकोऽनवयवः शब्द इति । —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2

(ii) आठ लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षणों का इन्हीं आठ लक्षणों में समावेश

वाक्य के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने-अपने लक्षण दिये हैं। भर्तृहरि ने उन लक्षणों की पृथक् से चर्चा नहीं की क्योंकि उन्होंने सामान्य रूप से आठ लक्षण बता दिये हैं, जिनके अन्तर्गत उन लक्षणों का भी समावेश हो जाता है। भर्तृहरि ने केवल कात्यायन एवं मीमांसकों के वाक्यलक्षण की चर्चा पृथक् रूप से की है तथा उन दोनों की तुलना भी की है। पुण्यराज ने अपनी टीका में इन दोनों लक्षणों की पृथक् से विस्तृत विवेचना की है तथा इन दोनों ही लक्षणों को खण्ड पक्ष के 'संघातो वाक्यम्' लक्षण के अन्तर्गत समाविष्ट किया है।[1] इन लक्षणों के अतिरिक्त नैयायिकों एवं बौद्धों के वाक्यलक्षण पर भी उन्होंने सामान्य रूप से प्रकाश डाला है तथा उनके वाक्यलक्षणों का भी इन्हीं लक्षणों के अन्तर्गत ही समावेश किया है। नैयायिकों के वाक्यलक्षण को स्पष्ट करते हुये उनका कहना है कि उनके वाक्यलक्षण का अन्तर्भाव संघातपक्ष के अन्तर्गत हो जाता है। नैयायिकों के अनुसार वर्ण एवं पद नश्वर हैं। वे उच्चरित प्रध्वंसित हैं। अर्थात् उनका उच्चारण करते ही नष्ट हो जाते हैं। उन वर्णों अथवा पदों की स्मृति रह जाती है। परवर्ती पदों का उच्चारण करने पर पूर्व-पूर्व पदों की स्मृति से युक्त अन्तिम पद ही वाक्य है। अतः पुण्यराज के मत में संघात (संसर्ग) पक्ष में ही उनका वाक्य लक्षण अन्तर्हित हो जाता है।[2]

बौद्धों के वाक्यलक्षण का समावेश उन्होंने अखण्ड पक्ष के बुद्धि-अनुसंहृति पक्ष के अन्तर्गत माना है। उनके वाक्य लक्षण को स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि बौद्धों के अनुसार वाक्य अन्तःस्थित है। अनादि वाक्यों के विकल्प के द्वारा आहित वासना के प्रबोध से वाक्य उत्पन्न होता है। वह वाक्य वास्तव में पदों के क्रम से रहित है परन्तु वह क्रमयुक्त पदों के द्वारा चित्रीकृत सा प्रतीत होता है। जिससे वह वाक्य आन्तरिक होते हुये भी बाह्य रूप को प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार विशेष प्रकार के विकल्प के द्वारा बाह्य रूप को प्राप्त होकर विशिष्ट आकार वाला हो जाता है। अर्थात् वाक्य वास्तव में आन्तरिक है परन्तु क्रमयुक्त ध्वनियों के द्वारा बाह्यावस्था को

---

1. मीमांसकों एवं कात्यायन के वाक्यलक्षणों की चर्चा आगे की जायेगी।
2. नैयायिकादीनां तु पूर्वपूर्ववर्णस्मृतिसचिवोऽन्त्यो वर्णो नश्यदव-स्थानुभवविषयीक्रियमाणः पदं यथा, तथैव पूर्वपूर्वपदस्मृतिसचिवमन्त्यमेव पदं नश्यदवस्थानुभव विषयीक्रियमाणं वाक्यमिति प्रायशः संसर्गपक्ष एवान्तर्भवति। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2

प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उनका वाक्यलक्षण भी 'बुद्धि अनुसंहृति' के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया गया है।[1]

पुण्यराज ने 'नैयायिकादीनाम्' शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है कि वह नैयायिकों के अतिरिक्त अन्य कई आचार्यों के वाक्य लक्षणों का समावेश भी संघात पक्ष में मानते है। उन्होंने उन लक्षणों का उल्लेख नहीं किया। अतः वे कौन-कौन से लक्षण हैं यह जानना आवश्यक हो जाता है।

आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वाक्य का लक्षण देते हुये कहा है कि वाक्य उस पद समूह को कहते हैं जिसमें अर्थ की समाप्ति होती है।[2] काशिका में वाक्य का लक्षण इस प्रकार दिया गया है कि वाक्य एक अर्थ वाले पद समूह को कहते हैं।[3]

अमरकोश में कहा गया है कि सुप् एवं तिङ में अन्त होनेवाले पदों का समूह वाक्य कहलाता है अथवा कारक से अन्वित क्रिया पद की वाक्य संज्ञा होती है।[4]

इन सभी लक्षणों का अन्तर्भाव संघात पक्ष में ही हो जाता है क्योंकि सभी में पद समूह को ही वाक्य कहा गया है। अमरकोश के द्वितीय लक्षण में यद्यपि 'क्रिया' की प्रधानता है परन्तु कारक से अन्वित क्रिया को वाक्य मानना भी पदसंघात पक्ष ही है। इसीलिये पुण्यराज ने कहा है कि नैयायिकादियों के वाक्य लक्षणों का समावेश प्रायशः संघात के अन्तर्गत हो जाता है।

इस प्रकार पुण्यराज ने भर्तृहरि द्वारा वर्णित आठ लक्षणों को युक्तियुक्त मानते हुये उनको अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त माना है और कहा है कि ये आठ ही वाक्य विकल्प हो सकते हैं।[5]

---

1. वाक्यमपि तत्तदनादिवाक्यविकल्पाहितवासनाप्रबोधजन्मा क्रमवद्भिरिवाक्रमैःपदैश्चित्रीकृत इव बहीरूपतयाऽध्यस्यमानो विशिष्ट-विकल्पोल्लिख्यमान आकारविशेष एव बहीरूपतयाऽध्यस्थत इति प्रायशो बुद्ध्यनुसंहृतिरित्यस्य सोदरमेवेति न तन्मतानुसारेण वाक्यवाक्यार्थयोरिहासंग्रहो वेदितव्यः। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
2. पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ। अर्थशास्त्र अधिकरण 2, पृ० 26, अ० 10
3. एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्। —काशिका पा० सू, 8। 1।
4. सुप्तिङन्तचयो वाक्यम् क्रिया वा कारकान्विता। अमरकोश प्रथम काण्ड शब्दादिवर्ग।
5. इत्थमष्टावेव वाक्यविकल्पा मतभेदेन सम्पद्यन्त इति बोद्धव्यम्। — पु० रा० वा० प०, 2-1, 2

मीमांसकों का वाक्यलक्षण

मीमांसकों ने लौकिक वाक्य का लक्षण दिया है। उनके अनुसार वाक्य एकार्थक होता है तथा एक होता है परन्तु जब उसका विभाग किया जाये तो साकांक्ष होता है।[1] मीमांसकों के इस वाक्यलक्षण का अन्तर्भाव पुण्यराज ने संघात पक्ष के अन्तर्गत किया है।[2] आचार्य भर्तृहरि ने एक कारिका के द्वारा मीमांसकों के वाक्य-लक्षण को स्पष्ट किया है। कारिका का अर्थ है वाक्य उसे कहते हैं जिसके अवयव, भेद करने पर साकांक्ष हों तथा जो पदों की आकांक्षा से रहित हो, जो कर्मप्रधान हो, गुणयुक्त हो तथा एक अर्थ वाला हो।[3] पुण्यराज ने इस कारिका में प्रयुक्त 'कर्मप्रधानम्', गुणवद् एवं 'एकार्थम्' शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करते हुये मीमांसकों के वाक्यलक्षण का स्पष्टीकरण किया है। कर्मप्रधानम् का अर्थ है 'क्रिया प्रधानम्' क्योंकि क्रिया ही प्रधान अभिधेय के रूप में प्रयुक्त होती है।[4] 'गुणवत्' शब्द का अर्थ 'विशेषणपदयुक्त' है। एकार्थम् शब्द का अर्थ एक प्रयोजनवाला है।[5] अत: मीमांसकों का वाक्य वह है जिसमें भेद करने पर पद परस्पर साकांक्ष हो, अविभाग होने पर जिसमें निराकांक्षा हो, जो क्रिया प्रधान हो, विशेषण पद से युक्त हो तथा एक प्रयोजन वाला हो। एक अन्य स्थान पर पुण्यराज मीमांसकों का वाक्यलक्षण देते हुये कहते हैं कि मीमांसकों के अनुसार आकांक्षा योग्यता एवं सन्निधि के कारण परस्पर समन्वित पदसंघात वाक्य है।[6]

कात्यायन का वाक्यलक्षण

आचार्य भर्तृहरि ने कात्यायन वाक्यलक्षण की चर्चा मीमांसकों के वाक्यलक्षण के साथ उसकी तुलना करते हुये की है। उन्होंने कहा है कि निघात इत्यादि की व्यवस्था के लिये शास्त्र में जो वाक्यलक्षण दिया गया है उसके साथ 'साकांक्षवयवम्'

---

1. जरन्मीमांसकोक्तं लौकिकमप्यस्ति—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' इति। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
2. अनयोः संघातपक्षेऽन्तर्भावः। — वही, 2-, 1, 2
3. 'साकांक्षावयवं भेदे परानकाङ्क्षशब्दकम्।
कर्मप्रधानम् गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥" —वा० प०, 2-4
4. कर्मप्रधानं क्रियापदप्रधानमित्यर्थः।
तस्यैव प्रधानाभिधेयप्रयुक्तत्वादित्यभिप्रायः। — पु० रा० वा० प०, 2-4
5. गुणवद्विशेषणपदयुक्तम्। एकार्थमेकप्रयोजनम्। —पु० रा० वा० प० 2-4
6. यत् पुनर्मीमांसकैरुच्यते तथा पदसंघात एवाकांक्षायोग्यतासन्निधानवशात् परस्पर-समन्वितो वाक्यम्...। —पु० रा० वा० प० 2-15

इत्यादि वाक्यलक्षण की समानता नहीं है।[1] भर्तृहरि की इस कारिका के द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता कि निघातादि की व्यवस्था क्या है तथा क्यों निघातादि की व्यवस्था के लिये कात्यायन को वाक्यलक्षण देने की आवश्यकता पड़ी। पुण्यराज ने अपनी टीका में विस्तार से स्पष्ट किया है कि निघातादि की व्यवस्था क्या है, तथा क्यों कात्यायन को वाक्यलक्षण देने की आवश्यकता पड़ी। समर्थः पदविधिः[2] सूत्र पर आचार्य कात्यायन ने वाक्य का लक्षण दिया है।[3] समर्थः पदविधिः सूत्र के अनुसार पद सम्बन्धी विधियां पदों में परस्पर सामर्थ्य होने पर ही होती हैं। निघात एवं युष्मद्, अस्मद् के स्थान पर ते, में आदेश भी पद-विधियां हैं अतः जहां-जहां पदों में सामर्थ्य है वहां-वहां निघातादि कार्य हो जाने पर कुछ अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है क्योंकि कहीं-कहीं पर सामर्थ्य होने पर भी निघातादि नहीं होता तथा कहीं पर सामर्थ्य न होने पर भी निघातादि हो जाते हैं।[4] पुण्यराज उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं कि 'अयं दण्डो हरानेन' वाक्य में 'अनेन' इस सर्वनाम के द्वारा दण्ड का परामर्श होता है। अतः 'हर' के साथ भी 'अनेन' का सामर्थ्य सिद्ध होता है अतः तिङतिङः सूत्र के द्वारा अतिङन्त पद के बाद तिङन्त पद 'हर' आया है जिससे हर को अनुदात्त प्राप्त होता है परन्तु यह अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार ओदनं पच तव भविष्यति, ओदनं पच, मम भविष्यति उदाहरणों में भी 'तव' एवं 'मम' का ओदन के साथ सम्बन्ध है। अतः पच के साथ तव एवं मम का सामर्थ्य है। सामर्थ्य होने पर तेमयावेकवचनस्य सूत्र के द्वारा पद के बाद युष्मद् या अस्मद् शब्द के चतुर्थी या षष्ठी एकवचन के रूपों के स्थान पर 'ते' और 'मे' हो जाता है। इन उदाहरणों में ते एवं में की प्राप्ति होती है क्योंकि (पच) पद के बाद ही तव एवं मम आये हैं। परन्तु यहां तव एवं मम ही अभीष्ट है ते एवं मे नहीं।[5] इसके विपरीत नद्यास्तिष्ठति कूले, शालीनां ते ओदनं दास्यामि उदाहरणों में 'नद्याः' तथा 'तिष्ठति' का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अतः इनमें सामर्थ्य नहीं है। शालीनाम् एवं ते में

---

1. निघातादिव्यवस्थार्थं शास्त्रे यत्परिभाषितम्।
साकांक्षावयवं तेन न सर्वं तुल्य-लक्षणम्॥ —वा० प० 2-3
2. अ० सू०, 2।1।1
3. इह पदविधिः सामर्थ्ये सति परिभाषितः। —पु० रा० वा० प०, 2-3
4. तत्र सत्यपि पदानां सामर्थ्ये निघातादयः क्वचिन्नेष्यन्ते। —पु० रा०वा०प०2-3
5. यथा—अयं दण्डो हरानेन। ओदनं पच मम भविष्यति। ओदनं पच तव भविष्यतीति। अत्रानेनेति सर्वनाम्ना दण्डस्य परामर्शाद्धरतिना सह तस्य सामर्थ्यम्। तथा युष्मदर्थस्यौदनेन सम्बन्धात् पचत्यर्थस्य तेन सह सामर्थ्यम्। एवं च सति सामर्थ्ये 'तिङतिङ इति निघातः प्राप्नोति। तेमयावेकवचनस्येति चादेशो। न चेष्यन्ते, वाक्यभेदात्। —पु० रा० वा० प०, 2-3

भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हैं। अतः सामर्थ्य का अभाव है परन्तु फिर भी निघात एवं ते मे आदेश अभीष्ट है।[1] अतः निघातादि की अव्यवस्था न हो इसके लिये कात्यायन ने वार्तिक दिया कि समान वाक्य में ही निघात तथा युष्मद् अस्मद् के स्थान पर आदेश होते हैं ऐसा मानना चाहिये।[2] इस वार्तिक में 'समानवाक्यत्व' को स्पष्ट करने के लिये कात्यायन ने वार्तिक दिया जिसका अर्थ है अव्यय, कारक एवं विशेषण पद से युक्त आख्यात की वाक्य संज्ञा है।[3] यहीं पर कात्यायन ने दूसरा वाक्य लक्षण दिया कि वाक्य उसे कहते हैं जिसमें एक तिङन्त पद हो।[4] इस प्रकार कात्यायन के अनुसार अयं दण्डो हरानेन वाक्य में समानवाक्यत्व नहीं है क्योंकि यहां दो आख्यात पद है। अतः अयं दण्डः (अस्ति), एक वाक्य है तथा हरानेन दूसरा वाक्य है। अतः दो वाक्य होने के कारण निघात की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'ओदनं पच तव भविष्यति, ओदनं पच मम भविष्यति वाक्यों में भी पच एवं भविष्यति दो आख्यात पद हैं। अतः समानवाक्यत्व न होने के कारण 'तेमयावेकवचनस्य' सूत्र के द्वारा तव एवं मम को ते एवं मे आदेश नहीं होते,[5] जबकि 'नद्यास्तिष्ठति कूले' वाक्य में तथा शालीनां ते ओदनं दास्यामि वाक्यों में नद्या एवं तिष्ठति तथा शालीनाम् तथा ओदनम् पदों में परस्पर सामर्थ्य नहीं है फिर भी समानवाक्यत्व होने के कारण निघात तथा ते आदेश हो जाते हैं।[6] इस प्रकार आचार्य कात्यायन ने निघातादि की व्यवस्था के लिये वाक्य का लक्षण दिया।

---

1. सामर्थ्याभावेऽपीष्यन्ते। यथा—नद्यास्तिष्ठति कूले शालीनां ते ओदनं दास्यामीति। अत्र नद्यास्तिष्ठतीत्यस्य च सम्बन्धानुपपत्तः सामर्थ्यं नास्ति। इष्यंते च निघातः। तथा शालीनां युष्मदश्च सामर्थ्याभावः। इष्यते च तेमयावेकवचनस्येति युष्मदादेश इति···। —पु० रा० वा० प०, 2-3
2. इत्यालोच्य वार्तिककृता निघातादि-व्यवस्थार्थमारब्धम् —'समानवाक्ये निघात-युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः इति। —पु० रा० वा० प०, 2-3
3. 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-3
4. 'एकतिङिति च।' —वही, 2-3
   तथा महाभा अ० सू० 2-1-1 पर वार्तिक
5. एवं चायं दण्ड इत्यत्र सत्यपि सामर्थ्ये नास्ति निघातस्य प्रसङ्गोऽवध्यवधिमतो—र्भिन्नवाक्यतयावस्थानात्। अस्तीत्यध्याहारेण ह्ययं दण्ड इत्येकं वाक्यम्। हरानेनेति च द्वितीयं वाक्यम्। —वही, 2-3
6. नद्यास्तिष्ठतीत्यादौ त्ववध्यवधिमतोः पदयोः सामर्थ्याभावेऽप्येकवाक्यव्यवस्थितौ प्रवर्तन्त एवं निघातादय इति नास्त्येषामव्यवस्था।
   समानवाक्ये निघातादयो वक्तव्या इत्युक्तम्। —वही, 2-6

कात्यायनवाक्यलक्षण के सम्बन्ध में अव्याप्ति दोष का परिहार

आचार्य भर्तृहरि ने आचार्य कात्यायन के वाक्य लक्षण में अव्याप्ति दोषों का परिहार किया है।[1] आचार्य कात्यायन के वाक्यलक्षण को मानने पर एक दोष की शंका उत्पन्न होती है वह यह कि 'व्रजानि देवदत्त' उदाहरण में वाक्यलक्षण घटित नहीं होता क्योंकि देवदत्त पद न अव्यय न कारक तथा न ही विशेषण है। अतः वाक्यलक्षण के अन्तर्गत संगृहीत न होने के कारण 'आमन्त्रितस्य च' सूत्र से (8- 1-10) व्रजानि देवदत्त वाक्य में पद के बाद आनेवाले तथा पाद के आदि में न होने के कारण आमन्त्रित देवदत्त पद को अनुदात्त होना चाहिये परन्तु वाक्य न होने के कारण समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः वार्तिक के कारण निघात अर्थात् अनुदात्त नहीं हो सकता। लेकिन निघात अभीष्ट है। अतः कात्यायन का वाक्यलक्षण मानने पर व्रजानि देवदत्त में निघात की सिद्धि नहीं हो सकती।[2] इसका समाधान करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि कात्यायन ने 'आख्यातं साव्ययकारणविशेषणं वाक्यम्' लक्षण में सामान्यरूप से यह अभिधान किया है कि साव्यय, सकारक तथा सविविशेषण आख्यात की वाक्य संज्ञा है। अतः सक्रियाविशेष आख्यात की भी वाक्य संज्ञा हो सकती है।[3] पुण्यराज कहते हैं कि व्रजानि देवदत्त वाक्य में सम्बोध्यमान देवदत्त विषयक व्रजति क्रिया असम्बोध्यमान देवदत्त विषयक व्रजति क्रिया से अथवा सम्बोध्यमान यज्ञदत्तविषयक व्रजति क्रिया से पृथक् है अतः इस वाक्य में व्रजति क्रिया, विशिष्ट है अतः क्रियाविशेषण से युक्त आख्यात की वाक्य संज्ञा कात्यायन के अनुसार भी हो जाती है।[4] महाभाष्य में पतंजलि ने भी कहा है कि क्रियाविशेषण से युक्त

---

1. सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषकम्।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति॥ —वा० प०, 2-5
यथानेकमपि क्त्वान्तं तिङन्तस्य विशेषकम्।
तथा तिङन्तं तत्राहुस्तिङन्तस्य विशेषकम्। —वा० प0, 2-6
2. व्रजानि देवदत्तेत्यत्र देवदत्तेत्येतत्पदं नाव्ययं न च कारकं नापि तद्विशेषणमिति वाक्यलणेनासंगृहीतत्वादाष्टमिक आमन्त्रितस्य चेति निघातो न प्राप्नोति इति चोद्यम्। — पु० रा० वा० प० 2-5
3. आख्यातं साव्ययं सकारकं सविशेषणमिति सामान्यतयाभिधानात् सक्रियाविशेषणस्याप्याख्यातस्य वाक्यतेत्यदोषः। —पु० रा० वा० प०, 2-5
4. तथा हि—अत्र संबोध्यमानदेवदत्तविषया व्रजतिक्रिया असंबोध्यमानदेवदत्त—विषयायाः सम्बोध्यमानयज्ञदत्तविषयायाः वा पृथगेवेति विशिष्टैवात्र व्रजतिक्रिया। —वही, 2-5

आख्यात की भी वाक्य संज्ञा कहनी चाहिये ।[1] पुण्यराज की व्याख्या से ही हमें यह स्पष्ट होता है कि सक्रियाविशेषण आख्यात की वाक्य संज्ञा क्यों होनी चाहिये। महाभाष्यकार ने सक्रियाविशेषण आख्यात के उदाहरण के रूप में सुष्ठु पचति दुष्ठु पचति वाक्य दिये हैं। जबकि पुण्यराज इसके स्थान पर सुष्ठु करोति उदाहरण देते हैं। करोति के अर्थ की प्रतीति सुष्ठु इत्यादि विशेषण से विशिष्ट रूप में ही होती है अतः सुष्ठु आदि का करोति क्रिया के साथ समानाधिकरण्य है। क्रिया असत्वभूत होती है। असत्वभूतक्रिया का विशेषण होने के कारण सुष्ठु भी असत्वप्रधान है। अतः सर्वनाम तथा नपुंसकलिंग से योग होता है। क्रिया का निर्वर्त्य होने के कारण सुष्ठु का कर्मत्व न्यायसिद्ध है 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं ननुंसकलिंगता च' इस भाष्य के वचन की कोई आवश्यकता नहीं है ।[2]

एक अन्य दोष की शंका कात्यायनवाक्यलक्षण के सम्बन्ध में यह है कि 'पूर्वं स्नाति पचति ततो व्रजति ततः' इस वाक्य में कात्यायनवाक्यलक्षण को मानने पर वाक्यभेद सिद्ध होता है परन्तु ततः के बाद आने वाली 'व्रजति' क्रिया को निघात अभीष्ट है। अतः कात्यायन का वाक्यलक्षण मानने पर अभीष्ट निघात की अप्राप्ति रूप दोष उत्पन्न हो जाता है। परन्तु इस वाक्य में 'वाक्यभेद' नहीं है अपितु समान-वाक्यता है क्योंकि 'व्रजति' क्रिया ही प्रधान रूप से एक क्रिया पद है। अन्य क्रियाएं व्रजति क्रिया की विशेषण हैं। जिस प्रकार स्नात्वा, पीत्वा, भुक्त्वा व्रजति उदाहरण में स्नान, पान एवं खान कृदन्तों के द्वारा व्रजति क्रिया विशिष्ट होती है उसी प्रकार इस उदाहरण में भी स्नाति इत्यादि क्रियाओं के द्वारा प्रधान क्रिया व्रजति ही विशिष्ट होती है। अतः व्रजति क्रिया सविशेषण है तथा एक ही 'व्रजति' क्रिया है अन्य क्रियाएं उसकी विशेषण हैं अतः सविशेषण आख्यात होने के कारण पूर्वं स्नाति पचति ततो व्रजति ततः' वाक्य में भी कात्यायन का वाक्य लक्षण घटित हो जाता है। इससे तिङ-तिङः सूत्र द्वारा व्रजति को निघात की प्राप्ति हो जाती है। स्नाति के बाद आने

---

1. सक्रियाविशेषणं चेति वक्तव्यम्। —महा० भा० अ० सू०, 2-1-1 वा० 9 पर
2. क्रियायाश्च विशेषणं कदाचित् सामानाधिकरण्येन भवति। यथा—सुष्ठु करोति, शोभनं करोतीति। अत्र करोत्यर्थस्य सुष्ठ्वित्यादिविशेषण-विशिष्टस्यैव प्रतीते सुष्ठ्वित्यादीनां करोत्यादिक्रियया समानाधिकरण्यम्। एवं चासत्वभूतायाः क्रियाया विशेषणमित्यसत्वप्रधानत्वाल्लिङ्गसर्वनाम्ना नपुंसकेन योगः क्रियायाश्चेत् निर्वर्त्यत्वात् कर्मत्वमिति न्यायसिद्धमेव कर्मत्वं नपुंसकलिङ्गता चेति 'क्रिया-विशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकलिङ्गता च इति नारम्भणीयं वचनम्।
—पु०रा०, 2-5

वाले पचति क्रियापद को तिङतिङः सूत्र द्वारा निघात का निषेध हो जाता है क्योंकि अतिङः पद का सूत्र में ग्रहण इस बात को सिद्ध करता है कि तिङन्त पद के बाद आने वाले तिङन्त को निघात नहीं होता।[1] कात्यायन ने 'तिङतिङः सूत्र में अतिङः पद को निरर्थक माना है। उनके अनुसार वाक्य में एक तिङन्त पद होता है अतः समान वाक्य का अधिकार स्वीकार करना चाहिये 'अतिङः' का कोई प्रयोजन नहीं है।[2] पुण्यराज कहते हैं कि पाणिनि ने अतिङः पद का ग्रहण किया क्योंकि उनके अनुसार वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद होने पर भी एकवाक्यता हो सकती है। पूर्वं स्नाति पचति ततो व्रजति ततः वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद हैं फिर भी एकवाक्यता है। एकवाक्यता होने पर पचति को निघात की प्राप्ति के बाध के लिये अतिङः का ग्रहण सप्रयोजन सिद्ध होता है।[3] अतिङ् ग्रहण सप्रयोजन होने पर भी कात्यायन ने उसे अनर्थक बताया है उससे यह सिद्ध होता है कि उन्हें एक से अधिक तिङन्त पद होने पर वाक्यभेद पक्ष ही अभीष्ट है। कात्यायन ने अपने वाक्यलक्षण में एकवचन का प्रयोग किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उन्हें वाक्य में एक ही आख्यात पद अभीष्ट है।[4]

---

1. नास्त्यत्र वाक्यभेदः। व्रजतीत्येतत्प्राधान्येनैकं क्रियापदमत्र स्थितम्। अन्यानि क्रियान्तराणि तद्विशेषणान्येव। यथा स्नानभोजनपानैः कृदन्तैर्विशिष्यते व्रजतिक्रिया। केवलायास्त्वस्याः पृथगेवेत्येतत्सविशेषणमेकमेव वाक्यमिति वाक्यभेदाभावान्नास्ति निघातासिद्धिदोषः। —पु० रा० वा० प०, 2-6
2. वार्तिककारेण यदुक्तम् अतिङ्ग्रहणमनर्थकं समानवाक्याधिकारात्...। —वही, 2-6
3. एकवाक्यत्वे च तिङन्तादुत्तरस्य तिङन्तस्यातिङिति प्रतिषेधान्निघाताभावः। यथा वक्ष्यति—
   बहुष्वपि तिङन्तेषु साकांक्षेष्वेकवाक्यता।
   तिङां तिङ्भ्यो निघातस्य पर्युदासस्तथार्थवान्। इति
   —पु० रा० वा० प० 2-6 पर उद्धृत वा० प० 2-442
4. एवं चातिङ् ग्रहणे सप्रयोजने स्थिते वार्तिककारेण यदुक्तम्—अतिङ्ग्रहणमनर्थकं समानवाक्याधिकारादिति तत्राभिप्रायो वाच्यः। एवं वादिनस्तस्य वाक्यभेदोऽभिमतः इत्यभिप्राय आख्यातं साव्ययकारकविशेषणमित्यत्रैकवचनस्य विवक्षितत्वादिति। यथा च टीकाकारः प्रदर्शयिष्यति—
   एकतिङ्ङ्यस्य वाक्यं तु शास्त्रे नियतलक्षणम्।
   तस्यातिङ्ग्रहणेनार्थो वाक्यभेदान्न विद्यते॥ इति
   —पु० रा० वा० प० 2-6 पर उद्धृत, वा० प० द्वितीयकाण्ड की 443 कारिका।

समीक्षा

आचार्य कात्यायन के वाक्य लक्षण के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये पुण्यराज ने जो उदाहरण दिये हैं उनमे उनका 'समर्थः पदविधिः' सूत्र में प्रयुक्त 'समर्थ' के विषय में मत स्पष्ट नहीं होता। उन्होंने अयं दण्डः हरानेन वाक्य में 'दण्डः' एवं 'हर' में परस्पर सामर्थ्य माना है क्योंकि उनके अनुसार 'अनेन' सर्वनाम के साथ दण्ड का परामर्श है तथा अनेन का सम्बन्ध 'हर' के साथ है। इसलिये दण्ड का हर के साथ सामर्थ्य है। इसी प्रकार 'ओदनं पच तव भविष्यति' वाक्य में भी पुण्यराज ने पच एवं तव में सामर्थ्य माना है। यहां भी 'युष्मद्' के अर्थ का ओदन के साथ सम्बन्ध है तथा पचति के अर्थ का भी ओदन से सम्बन्ध है इसीलिये पच एवं तव में सामर्थ्य है। पुण्यराज ने इन वाक्यों में सामर्थ्य मानकर 'तिङतिङः' तथा तेमयावेकवचनस्य सूत्रों की प्राप्ति मानी है और कहा है कि यह अभीष्ट नहीं है। इसीलिये आचार्य कात्यायन को वाक्य लक्षण देने की आवश्यकता पड़ी। इसके विपरीत पुण्यराज ने 'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' तथा 'नद्यास्तिष्ठति कूले' वाक्यों में शालीनां एवं ते तथा नद्याः एवं तिष्ठति में परस्पर सामर्थ्य का अभाव माना है। उनके अनुसार इन वाक्यों में निघात एवं युष्मदस्मदादेश सामर्थ्य न होने के कारण प्राप्त नहीं होते जबकि ये अभीष्ट हैं। इसीलिये कात्यायन ने वाक्य का लक्षण दिया। यहां यह स्पष्ट नहीं होता कि पुण्यराज ने सामर्थ्य का क्या अर्थ माना है क्योंकि यदि उनके अनुसार अयं दण्डो हरानेन वाक्य एवं ओदनं पच तव भविष्यति वाक्य में दण्ड एवं हर में सामर्थ्य है तो उन्हें शालीनां ते ओदनं दास्यामि तथा नद्यास्तिष्ठति कूले वाक्यों में भी शालीनां एवं ते तथा नद्याः एवं तिष्ठति में सामर्थ्य मानना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार पच एवं तव में 'ओदनम्' के द्वारा सामर्थ्य है उसी प्रकार शालीनां एव ते में भी ओदनम् के द्वारा ही सामर्थ्य है। आचार्य भर्तृहरि के सम्बन्ध में तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनकी उस कारिका[1] पर वृत्ति उपलब्ध नहीं है, परन्तु पुण्यराज के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ऐसा लगता है कि उनके समय तक पाणिनि के कुछ सिद्धान्त, विशेषतः समर्थ सिद्धान्त, अस्पष्ट हो चुके थे। इसीलिये महाभाष्यकार ने भी समर्थ के अनेक अर्थ तथा कई मत उद्धृत किये हैं। स्वयं कात्यायन भी समर्थ शब्द के अर्थ के विषय में भिन्न-भिन्न मत उद्धृत करते हैं।

सम्भवतः पुण्यराज ने सामर्थ्य शब्द का अर्थ व्यपेक्षाभाव माना है। क्योंकि आचार्य पतंजलि ने व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य के सन्दर्भ में ही अयं दण्डो हरानेन तथा ओदनं पच तव भविष्यति वाक्य उद्धृत किये हैं।[2] परन्तु यह मत एकान्तिक रूप से स्वीकृत तथा सिद्ध नहीं हैं। आचार्य कात्यायन ने भी अपने वार्तिक में यह कहा है कि कुछ

---

1. वा० प० 2-3
2. द्रष्टव्य—अ० सू० 2।1।1 वार्तिक 5 पर महाभाष्य।

विद्वान् ही व्यपेक्षाभाव को सामर्थ्य मानते हैं।[1] आचार्य पतंजलि ने सामर्थ्य के सम्बन्ध में अनेक मतों का निर्देश किया है तथा उन पर विवाद भी उठाये हैं परन्तु अन्त में उन्होंने एकार्थीभाव को सामर्थ्य स्वीकार किया है क्योंकि उसमें कम दोष आते हैं।[2] कात्यायन ने भी सामर्थ्य शब्द का अर्थ देते हुए कहा है कि पृथक् अर्थों का एकार्थी भाव सामर्थ्य कहलाता हैं।[3]

वास्तव में सामर्थ्य शब्द का अर्थ साक्षात्—वाक्यगत सम्बन्ध है। डॉ० महावीर ने अपनी पुस्तक 'पाणिनि एज़ ग्रामेरियन' में सामर्थ्य शब्द का अर्थ देते हुये यही कहा है कि सामर्थ्य शब्द का अर्थ साक्षात् वाक्यगत सम्बन्ध होता हैं (Immediate Syntactical Relation)[4]। अयं दण्डो हरानेन तथा ओदनं पच तव भविष्यति वाक्यों में दण्ड तथा हर एवं पच एवं तव पदों में साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण सामर्थ्य का अभाव है अतः पाणिनि एवं कात्यायन दोनों के अनुसार ही इन वाक्यों में निघातादि की प्राप्ति नही होती। अतः इन वाक्यों में निघातादि की निवृत्ति के लिये कात्यायन को वाक्यलक्षण देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। क्योंकि इन वाक्यों में सामर्थ्य ही नहीं है अतः निघातादि प्राप्त ही नहीं होते। यह बात महाभाष्य के निम्न प्रमाण से सर्वथा सिद्ध हो जाती है—

आचार्य पतंजलि ने कात्यायन के वाक्य लक्षण देने का प्रयोजन स्पष्ट करते हुये कहा हैं कि नद्यास्तिष्ठति कूले तथा शालीनां ते ओदनं दास्यामि वाक्यों में सामर्थ्य के अभाव के कारण निघातादि प्राप्त नहीं होते जो अभीष्ट हैं। अतः कात्यायन के वाक्यलक्षण के अनुसार इन वाक्यों में एक वाक्यत्व होने के कारण उनकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये पतंजलि ने कात्यायन वाक्यलक्षण एवं उनके प्रयोजनों में अयं दण्डो हरानेन तथा ओदनं पच तव भविष्यति वाक्यों को नहीं दिया बल्कि शालीनां ते ओदनं दास्यामि एवं नद्यास्तिष्ठति कूले वाक्य ही दिये हैं। जिनमें पाणिनि के अनुसार सामर्थ्य (साक्षात् वाक्यगत सम्बन्ध) नहीं है। अतएव पाणिनि के अनुसार यहां निघात आदि प्राप्त नहीं थे जिसे कात्यायन एवं पतंजलि अभीष्ट मानते हैं और वाक्य का अधिकार आवश्यक समझते हैं।

इस प्रकार यद्यपि आचार्य भर्तृहरि के विषय में तो यह नहीं कहा जा सकता कि 'समर्थ सिद्धान्त' के विषय में उनका क्या मत था क्योंकि उनकी उस कारिका पर

---

1. परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। महाभा० अ० सू० 2।1।1 पर वार्तिक 4।
2. तत्रैकार्थीभावः सामर्थ्यं परिभाषा चेत्येव सूत्रमभिन्नतरकं भवति। —महाभा० अ० सू० 2।1।1
3. पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्। महाभा० अ० सू० 2।1।1। पर वार्तिक।
4. पाणिनि एज़ ग्रामेरियन – डा० महावीर। विशेष विस्तार के लिये द्रष्टव्य—समर्थ थ्योरी इन पाणिनि, डा० महावीर का लेख।

टीका उपलब्ध नहीं होती परन्तु पुण्यराज के विषय में यह निश्चित कहा जा सकता है कि वह उत्तरवर्ती परम्परा से प्रभावित हुए, जिसमें पाणिनि के कई सैद्धान्तिक पक्ष अपनी वास्तविक मूल भावना से दूर जा चुके थे।

मीमांसकों एवं कात्यायन के वाक्य लक्षणों में भेद

आचार्य भर्तृहरि ने कहा है कि मीमांसकों के वाक्यलक्षण की कात्यायन के वाक्य लक्षण के साथ तुल्यलक्षणता नहीं है।[1] पुण्यराज ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है कि कात्यायन के वाक्य लक्षण के साथ मीमांसकों के वाक्य-लक्षण की तुल्यलक्षणता क्यों नहीं है। यदि मीमांसकों का वाक्य लक्षण मानें तो ऐसे स्थलों पर जहां पाणिनि—सूत्रों का विधान नहीं होना चाहिये वहां भी उन सूत्रों की प्रवृत्ति प्राप्त होने लगती है। इसके विपरीत कात्यायन—वाक्यलक्षण पाणिनिसम्मत है। कात्यायन—वाक्य लक्षण के अनुसार अभीष्ट सिद्धि हो जाती है। नद्यास्तिष्ठति कूले तथा शालीनां ते ओदनं दास्यामि इन दोनों ही वाक्यों में मीमांसकों एवं कात्यायन दोनों के अनुसार एक वाक्यता है क्योंकि कात्यायनवाक्यलक्षण के अनुसार वाक्य में एक आख्यात पद होना चाहिये तथा मीमांसक वाक्यलक्षण के अनुसार अर्थैकत्व होना चाहिये। इस प्रकार इन वाक्यों में दोनों का ही वाक्यलक्षण घटित हो जाने से निघात एवं युष्मदस्मद् को ते तथा में आदेश सिद्ध हो जाते हैं।[2] परन्तु अयं दण्डो हरानेन, ओदनं पच तव भविष्यति इन वाक्यों में 'हर' को निघात तथा तव को ते आदेश अभीष्ट नहीं है जो कात्यायनवाक्य-लक्षण से तो बाधित हो जाते हैं क्योंकि इन वाक्यों में दो-दो क्रियापद हैं। परन्तु मीमांसकवाक्य-लक्षण के अनुसार बाधित नहीं होते क्योंकि मीमांसकों के अनुसार तो इन दोनों वाक्यों में वाक्यलक्षण घटित हो जाता है दोनों वाक्य एक प्रयोजन वाले हैं। अतः मीमांसकों का वाक्य-लक्षण मानने पर इन वाक्यों में भी निघातादि कार्य प्राप्त हो जाते हैं जो अभीष्ट नहीं है।[3] मीमांसकों के वाक्य लक्षण की अपेक्षा कात्यायन वाक्य लक्षण अधिक उपयुक्त है।[4]

कात्यायन एवं पाणिनि के वाक्य लक्षणों में भेद

पुण्यराज ने पाणिनि का वाक्यविषयक मत स्पष्ट किया है। उन्होंने पाणिनि को अखण्डवाक्यपक्ष को मानने वाले कहा है। पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य पाणिनि ने

---

1. 'साकांक्षावयवं तेन न सर्वं तुल्यलक्षणम् ॥' —वा० प० 2-3
2. शास्त्रे वाक्यकारेण निघातादिव्यवस्थार्थं यद्वाक्यलक्षणं परिभाषितं तेन मीमांसकोक्तं वाक्यलक्षणं सकलं न तुल्यलक्षणम्। तत्र क्वचिदेते समाविशतः। यथा नद्यास्तिष्ठति कूले शालीनां त ओदनं दास्यामीति। —पु० रा० वा० प० 2-3
3. अयं दण्डो हरानेन ओदनं पच तव भविष्यतीत्यादावसमावेशः। मीमांसकवाक्य-लक्षणसमाश्रयणेनात्र प्राप्नुवन्ति निघातादयः, एकप्रयोजनत्वात्। न चेष्यते। —पु० रा० वा० प० 2-3
4. तस्माद्वार्तिककारीयमेव वाक्यलक्षणं ज्यायः। —वही 2-3

तिङतिङः सूत्र दिया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद भी हो सकते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य पाणिनि के मत में वाक्य में एक तिङन्त पद हों अथवा एक से अधिक तिङन्त पद हों इससे कोई अन्तर नहीं आता। वाक्य में मुख्य आवश्यकता यह है कि उससे एक अखण्ड अर्थ की अभिव्यक्ति हो। इस प्रकार पाणिनि का मत है कि आख्यात भेद होने पर भी अर्थैकत्व से युक्त अखण्ड वाक्य ही वाचक है।[1] डॉ० महावीर ने भी अपने लेखों में यह स्पष्ट किया है कि आचार्य पाणिनि का अन्तिम लक्ष्य वाक्य ही था पद नहीं।[2]

पुण्यराज कहते हैंकि आचार्य कात्यायन के मत में वाक्य में एक आख्यात होना चाहिये इससे यह सिद्ध होता है कि उन्हें वाक्य में अलग-अलग पदों का अर्थ स्वीकार्य है। पुण्यराज ने वाक्य लक्षणों का विवेचन करते हुये कात्यायन वाक्य लक्षण को खण्डपक्ष के अन्तर्गत 'संघात' वाक्य में रखा है। 'पश्यत मृगो याति' वाक्य एक वाक्य है अथवा अनेक वाक्य हैं इस सम्बन्ध में पाणिनि एवं कात्यायन दोनों में इस में मतभेद नहीं है क्योंकि पाणिनि के अनुसार तो अनेक आख्यात होने पर भी अर्थैक्य होने के कारण एकवाक्यता सिद्ध होती ही है। वार्त्तिककार के अनुसार भी 'एकतिङ् वाक्यम्' लक्षण में एकतिङ् का अर्थ एक प्रधान तिङ् होने के कारण 'पश्यत मृगो याति' वाक्य में 'पश्यत' प्रधान तिङन्त है तथा 'याति' क्रिया अप्रधान है। अतः कात्यायन वाक्यलक्षण घटित हो जाता है। ऐसे स्थलों में कात्यायन एवं पाणिनि के मतों में अभेद है।[3] वेल्लरी सुब्बाराव[4]

1: सूत्रकारस्य त्वतिङ्ग्रहणादेकमेवाखण्डं वाक्यार्थैकत्वादाख्यातभेदेऽस्यभिप्रेतमिति गम्यते। तदभिप्रायानुसारेणैव निरूपयिष्यति—

अनेकाख्यातसद्भावेऽपि वाक्यं न्यायपथानुगैः
एकमेवेष्यते कैश्चिद्भिन्नरूपमिव स्थितम्॥ —पु० रा० वा० प० 2-6

2. 'अनभिहिते इन पाणिनि'—डा० महावीर—सारांश प्रकाशित (अप्रकाशित लेख) लेखक की अनुकम्पा द्वारा प्राप्त 'समरी आफ अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार आन पाणिनि' तथा 'वाक्य इन पाणिनि' (अप्रकाशित लेख) सारांश प्रकाश्यमान—Summary of Third International Conference South Asian Languages and Linguistics—लेखक की अनुकम्पा द्वारा प्राप्त

3. वार्तिककारस्याप्येकतिङित्यत्रैकतिङ्त्वं प्रधानतिङन्तापेक्षया प्रतिपाद्यमानं सूत्रकारानुगुण्यं भजत एवेत्यनयोर्नास्ति मतभेदः।—पु० रा० वा० प०—2-244

4. फिलासफी आफ सेन्टेन्स एण्ड इट्स पार्ट्स (वेलरी सुब्बाराव)

This definition of the sentence, however, does not, it should be understood, Preclude such cases as (Behold the animal runs; पश्य मृगो धावति .... as the actual purport of the definition is that a sentence is one that conveys an import wherein the Primary substantive happens to be the meaning of our verb word. P. 71,

भी यही कहते हैं कि कात्यायन की वाक्य की यह परिभाषा पश्य मृगो धावति, पचति भवति वाक्यों में भी घटित हो जाती है क्योंकि 'एकतिङ् वाक्यम्' का अर्थ है जिसमें एक तिङन्त का अर्थ मुख्य विशेष्यक हो। वेल्लरीसुब्बाराव कहते हैं कि पश्य मृगो धावति में मुख्य क्रिया पश्य है तथा धावति उस क्रिया का विशेषण है।

पतंजलि का वाक्य लक्षण

पुण्यराज के अनुसार आचार्य पाणिनि के समान पतंजलि भी अखण्ड पक्ष को मानने वाले हैं।[1] आचार्य पतंजलि का मत स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य में 'न लक्षणेन पदकाराः अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्', यथालक्षणमप्रयुक्ते' वचन कहे हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार पद असत्य है तथा वाक्य सत्य है। यदि पदों की सत्यता पतंजलि को अभीष्ट होती तो पदों के स्वतः सिद्ध होने के कारण 'पदकाराः' शब्द का प्रयोग न करते। पदकाराः का अर्थ है पदों को बनानेवाले। जो सत् है उसका न तो प्रारम्भ होता है न ही उनका नाश होता है। यदि पद सत्य होते तो पतंजलि यह न कहते कि लक्षणग्रन्थों के द्वारा पदकारों का अनुवर्तन नहीं करना चाहिये क्योंकि सत्य का अनुवर्तन करने का निषेध कोई नहीं करता। न ही पतंजलि यह कहते कि पदकारों को लक्षण का अनुवर्तन करना चाहिये क्योंकि जो सत् है उसी का अनुवर्तन किया जाता है उसे किसी का अनुवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' वचन भी तभी सिद्ध हो सकते हैं जब पद सत्य नहीं हो क्योंकि जो सत् होता है उसके विषय में प्रयुक्त पद एवं अप्रयुक्त पद यह विभाग नहीं हो सकता क्योंकि सत् का कभी अभाव नहीं होता। आचार्य पतंजलि ने यह कहा है कि अप्रयुक्तपद के विषय में यथालक्षण कार्य होना चाहिये। अतः उनके इन वचनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि पद असत्य होते हैं। वाक्य एक है तथा अभिन्न स्वभाव वाला है तथा पदों का विभाग अबुधबोधन के लिये कल्पित किया जाता है।[2] पुण्यराज ने जिस प्रकार से महाभाष्य के वचनों का उद्धरण देते हुये

1. सूत्रकारस्य भाष्यकारस्य चाखण्डपक्षोऽभिरुचितः। —पु० रा० वा० प०, 2-57
2. इदानीं भाष्यकाराभिप्रायेणापि स एवाभ्युपगन्तव्य इत्युपक्रम्यते। तथा च भाष्यम्—"लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्।" तथा—'यथालक्षणमप्रयुक्ते' इति। अत्र यदि पदानां सत्यता स्यात् तदा तेषां स्वत एव सिद्धत्वात् पदानि कुर्वन्तीति पदकारा इत्येतदसंगतं स्यात्। लक्षणेन च तदननुवर्तनम्, वस्तुसत्वात्तेषाम। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यमित्यप्यसंगतम्। तथाऽप्रयुक्तपदविषये पदानामसत्यत्वात् तत्प्रविभागोऽयं न सिद्ध इति यथालक्षणं लक्षणानुसारेण पदकरणमप्रयुक्त इत्येतदनुपपन्नमेव। आह-चैवं भाष्यकारः तस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्य।नि, एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पित इति।

—पु० रा० वा० प० प० 2-57

पतंजलि के मत को स्पष्ट किया है यह इनकी मौलिक देन है क्योंकि भर्तृहरि ने कहीं भी यह नहीं कहा कि पतंजलि को कौन-सा मत अभीष्ट है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रदत्त आठ लक्षणों के अन्तर्गत् ही वाक्यविषयक सभी लक्षणों का समावेश कर दिया है अतः वाक्य के उन आठ लक्षणों का पृथक्-पृथक् विवेचन करना अत्यावश्यक है।

वाक्य के आठ लक्षणों का पृथक्-पृथक् विवेचन

खण्डपक्ष—सर्वप्रथम खण्डपक्ष के अन्तर्गत् आनेवाले आख्यातों, वाक्यम् संघातो वाक्यम्, क्रमो वाक्यम्, पदमाद्यं वाक्यम् तथा पृथक् सर्वपदं साकाक्षं वाक्यम् इन पांच लक्षणों का पृथक्-पृशक् विवेचन किया जाता है—

(1) आख्यातो वाक्यम्

खण्डपक्ष के अन्तर्गत् वाक्य का एक लक्षण 'आख्यात को वाक्य मानने वालों का है। इस लक्षण का केवल यही अर्थ नहीं कि केवल आख्यात पद ही वाक्य होता है अपितु यह अर्थ है कि वाक्य का मुख्य अर्थ आख्यात ही होता है। केवल आख्यात पद की भी वाक्य संज्ञा होती है इसके साथ-साथ जहां कारकादि प्रयुक्त हुए हों वहां भी प्रधानता क्रिया-पद की ही होती है। आख्यात, विशिष्ट क्रिया के निवर्तक को कहते हैं।[1] उदाहरण के लिये 'देवदत्तः ग्रामं गच्छति' वाक्य में 'गच्छति' इस आख्यात पद में गम् धातु के द्वारा वाच्य गमन क्रिया की निर्वृत्ति के लिये ही सभी साधनों की आवश्यकता होती है। अतः आख्यात पद को वाक्य मानने वालों के अनुसार वाक्य में क्रिया पद ही मुख्य प्रतिपाद्य होता है। आचार्य भर्तृहरि ने एक कारिका दी है जिसका अर्थ है कि केवल आख्यात पद के द्वारा भी नियत साधन का ज्ञान हो जाता है अतः आख्यात पद समाप्तार्थ वाला होने के कारण वाक्य कहलाता है।[2] 'वर्षति' इस केवल एक शब्द के प्रयोग द्वारा देवः एवं जलम् इन कर्ता एवं कर्म के आक्षेप के द्वारा सम्पूर्ण अर्थ देवः जलं वर्षति का बोध हो जाता है। अतः अकेला आख्यातपद ही परिपूर्णार्थ वाला वाक्य कहलाता है।[3]

---

1. आख्याते विशिष्टैव धातुवाच्या क्रिया निर्वर्तयितुमुपक्रम्यते इत्याख्यातानां स्वरूप···। —पु० रा० वा० प०, 2-28

2. आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते।
तदप्येकं समाप्तार्थं वाक्यमित्यभिधीयते॥ —वा० प०, 2-326

3. यथा वर्षतीत्युक्ते देवो जलमिति कर्तृकर्माक्षिपात् परिपूर्णार्थत्वं वर्षति देवो जलमिति यथा वाक्यमेवं तदप्येकं पदं समाप्तार्थं परिपूर्णार्थं वाक्यमेवाभिधीयते तदुक्तमादावेव आख्यात शब्द एव वाक्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-326

पतंजलि कहते हैं कि कोई भी वाक्य ऐसा नहीं है जिसमें क्रिया पद न हो ।[1]

कात्यायन ने दोनों वाक्य लक्षणों में क्रिया पद की महत्ता पर ही बल दिया है। उनकी दूसरी परिभाषा तो केवल क्रिया पद को ही वाक्य के रूप में स्वीकार करती है। प्रभातचन्द चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक लिंग-विस्टिक स्पेकुलेशन्स आफ दि हिन्दुज़ में आख्यात के सम्बन्ध में कहा है कि शरीर में जो कार्य आत्मा का है वही कार्य वाक्य में पद का है ।[2]

आख्यातो वाक्यम् पक्ष को मानने वालों के अनुसार क्रिया ही सर्वप्रथम वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होती है। वाक्य में प्रयुक्त कर्तृकर्म इत्यादि क्रिया के ही अवबोध के हेतु होते हैं ।[3] तृतीयकाण्ड क्रियासमुद्देश में हेलाराज ने भी कहा है कि आख्यात के द्वारा साधन आदि का भी अभिधान होता है। यद्यपि साधन आदि का भी अभिधान आख्यात द्वारा होता है परन्तु क्रियारूप साध्यस्वभाव वाले व्यापार मुख्य रूप से अभिहित होने के कारण आख्यात को क्रियावाची माना जाता है तथा क्रिया प्रधान आख्यात है ऐसा कहा जाता है ।[4] हेलाराज कहते हैं कि क्रिया ही प्रधान है तथा क्रिया ही प्रधान होने के कारण वाक्यार्थ कहलाती है ।[5]

(2) संघातो वाक्यम्

संघात शब्द का अर्थ है समूह अर्थात पदों का समूह वाक्य कहलाता है। मीमांसकों एवं कात्यायन के वाक्यलक्षण का अन्तर्भाव इसी पक्ष के अन्तर्गत् माना गया है ।[6] मीमांसकों के अनुसार एक प्रयोजन वाला पद समूह वाक्य होता है तथा जब उसका विभाग किया जाए तो उसके अवयव साकांक्ष होने चाहिये इसी प्रकार कात्यायन भी अवयव कारक एवं विशेषण पदों से युक्त आख्यात की वाक्य संज्ञा मानते हैं इससे

---

1. न हि क्रियाविनिर्मुक्तं वाक्यमस्ति ।
2. What the Soul is to body, Akhyāta is to Sentence.
3. क्रियैव विशिष्टा सर्वत्र प्रथमतरमेव वाक्यार्थत्वेन प्रक्रान्ता ।

पु० रा० वा० प०, 2-1,2

तत्र वाक्ये भेदानां विशेषाणां प्रयोगोऽसौ सम्बोधनोपायमात्रमिति बोद्धव्यम ।

वही, 2-414

4. "व्यापाराः क्रियारूपाः साध्यस्वभावाः तिङन्ते प्रधानभावेन अभिधीयन्ते इति साधनार्थाभिधानेऽप्याख्यातस्य क्रियावाचित्वमुपपद्यते । क्रियाप्रधानं ह्याख्यातम् ।"

—हेलाराज क्रियासमुद्देश कारिका 40

5. क्रियैव हि प्रधानभूता चोदिता सत्यनुष्ठीयते । —हेलाराज क्रिया समुद्देश
6. अनयोः संघातपक्षेऽन्तर्भावः । —पु० रा० वा०, 1-1, 2

स्पष्ट होता है कि दोनों ही पदसमूह को वाक्य मानते हैं अन्तर केवल इतना है कि मीमांसक एक प्रयोजन की सिद्धि करने वाले पदसमूह को वाक्य मानते हैं, उसमें एक से अधिक आख्यात पद भी हो सकते हैं जबकि कात्यायन वाक्य में एक 'आख्यात' को ही आवश्यक मानते हैं।

'संघात' पक्ष स्पष्ट करते हुए पुण्यराज ने अपनी टीका में कहा है कि पद संघात आकांक्षा योग्यता एवं सन्निधि के कारण परस्पर समन्वित होने पर ही वाक्य कहलाता है।[1] अन्यथा गौः अश्वः पुरुषो हस्ती भी पदसंघात होने के कारण वाक्य कहलाता है। आचार्य भर्तृहरि द्वारा विवेचित संघात पक्ष का पुण्यराज ने दो प्रकार से विवेचन किया है। अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार तथा अन्विताभिधान पक्ष के अनुसार।[2] आचार्य भर्तृहरि ने संघातो वाक्यम् को स्पष्ट करने के लिये कारिकाएं दी है। इनका अर्थ है कि अकेले पद के द्वारा जो अर्थ अभिहित होता है, वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी वह पद उतने अर्थ का अभिधायक होता है। वाक्य में उन पदों का परस्पर सम्बन्ध होने पर उन अर्थों के सम्बन्ध से जो अधिक अर्थ उत्पन्न होता है वही वाक्यार्थ कहलाता है वह वाक्यार्थ अनेक पदों पर आश्रित है।[3] पुण्यराज अपनी टीका में यह स्पष्ट करते हैं कि इन कारिकाओं में आचार्य भर्तृहरि ने अभिहितान्वय पक्ष का आश्रयण करते हुये संघात पक्ष का प्रदर्शन किया है।[4] अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार पदों का पहले अपना अर्थ होता है तथा वाक्य में पदों का अन्वय होने पर जो उनके द्वारा अभिहित अर्थ होता है वह अन्य पदों के अर्थों के साथ मिलकर अन्य अर्थ, वाक्यार्थ को अभिहित करता है कारिकाओं का भी यही अर्थ है कि पद अकेले जिस अर्थ को देते हैं वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी उसी अर्थ को प्रदान करते हैं उसके बाद उन पदों का समुदाय में अन्वय होने पर पदार्थ के कारण जो अधिक अर्थ संसर्ग के रूप में प्राप्त होता है वही वाक्यार्थ है। कारिका में प्रयुक्त अनेकपदसंश्रयम्' का अर्थ स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि इसके द्वारा

---

1. "पदसंघात एवाकांक्षायोग्यतासन्निधानवशात्परस्परसमन्वितो वाक्यम्।"
—वही, 2-42

2. अभिहितान्वय पक्ष एवं अन्विताभिधान पक्ष का निरूपण आगे किया जाएगा।

3. केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते।
वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्॥
सम्बन्धे सति यत्तु अन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहु रनेकपदसंश्रयम्॥ —वा० पा०, 2-41, 42

4. "इदानीमभिहितान्वयपक्षसमाश्रयणेन संघातपक्षस्य प्रदर्शनार्थमाह···।"
पु० रा० वा० प०, 2-41

भर्तृहरि 'संघातो वाक्यम्' पक्ष का प्रदर्शन करते हैं।[1] इन कारिकाओं की व्याख्या करते हुये आचार्य भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में यह नहीं कहा कि इन कारिकाओं में अभिहितान्वय पक्ष का समाश्रयण करते हुए संघात पक्ष का निरूपण है। उन्होंने सामान्य रूप से ही इसको स्पष्ट करते हुये कहा हैं कि केवल शब्द जितना अर्थ प्रदान करता है वृक्षोऽस्ति, वृक्षो नास्ति, वृक्षश्छिन्नः वाक्यों में भी उतना ही अर्थ प्रदान करता है। भाव, अभाव तथा छेद इत्यादि का योग 'वृक्ष' को भिन्न जाति से युक्त होते हुये दिखाता है।[2] भर्तृहरि कहते हैं कि अन्य पद के साथ सम्बन्ध होने पर ही वीरः पुरुषः वाक्य में विशेषण विशेष्य होने के कारण जाति विशेष एवं गुण विशेष की एक अर्थ में समवाय की प्रतिपत्तिपूर्वक समानाधिकरण्य रूप आधिक्य की प्रतीति होती है, यही अधिक अर्थ वाक्यार्थ कहलाता है।[3] इस प्रकार संघात पक्ष का अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार विवेचन पुण्यराज की देन है।

संघात पक्ष को स्पष्ट करने के लिये वाक्यपदीय में और कारिकाएं दी गई हैं जिनका अर्थ है कि सभी भेदों का आनुगुण्य जिसमें है ऐसा सामान्य ही वाक्यार्थ है तथा अन्य अर्थ के संयोग के कारण वह सामान्य भेदरूप को प्राप्त कर लेता है। भेद की आकांक्षा करनेवाले उस वाक्यार्थ (सामान्यरूप वाक्यार्थ) की जो अस्पष्टता होती है इतर पद का सन्निधान उस सामान्य अर्थ को विशेष में परिवर्तित करता हुआ दूर कर देता है।[4] इन कारिकाओं में संघातपक्ष में ही अन्विताभिधान पक्ष का प्रदर्शन

---

1. केवलं पदं यस्यैवार्थस्य वाचकम्, वाक्यस्थमपि तमेवाभिदधाति। ततः समुदाये पदानां परस्परान्वये पदार्थवशादाधिक्यं संसर्ग स वाक्यार्थः। उक्तं च—'यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः स' इति। अनेकपदसंश्रयमित्यनेन संघातो वाक्यमिति दर्शितम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-41-42

2. इह यावन्तं केवलो वृक्षशब्दो जातिमात्रं भिन्नमर्थं ब्रवीति तावन्तमेव वृक्षोऽस्ति वृक्षो नास्ति वृक्षश्छिन्न इत्येवमादिष्वपि वाक्येषु प्राप्तयोगं (ग) प्रत्याययति। भावाभावच्छेदादियोगो (न) भिन्नजातियुक्तात्मकतां प्रदर्शयति।
—भर्तृहरि स्वोपज्ञ वृत्ति वा० प० 2-41

3. यत्तु पदान्तरेण सम्बन्धे वीरः पुरुषः इति विशेषणविशेष्यत्वात् समानाधिकरण्यं जातिगुणविशेषयोरेकार्थसमवायप्रतिपत्तिपूर्वकमर्थेष्वाधिक्यं दृश्यते वाक्यार्थ एवासौ।
—भर्तृहरिस्वोपज्ञवृत्ति, वा० प०, 2-42

4. सर्वभेदानुगुण्यं तु सामान्यमपरे विदुः।
तदर्थान्तरसंसर्गाद् भजते भेदरूपताम्॥
भेदानाकांक्षतस्तस्य या परिप्लवमानता।
अवच्छिनत्ति सम्बन्धस्तां विशेषे निवेशयन्॥ —वा० प०, 2-44, 45

किया गया है ।[1] अन्विताभिधान पक्ष में पद वाक्य में प्रयुक्त होने पर न केवल अपना अर्थ अपितु सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को भी अभिहित करते हैं परन्तु जब तक अन्य पदों का सम्बन्ध नहीं होता, वह वाक्यार्थ व्यक्त नहीं होता अतः अन्विताभिधान पक्ष में भी पदों का संघात होना आवश्यक है। इस अवस्था में पदों का अर्थ ही वाक्यार्थ होता है क्योंकि पदों के द्वारा पूरा वाक्यार्थ ही अभिहित होता है। पुण्यराज कहते हैं कि अन्य पदों का प्रयोग वाक्यार्थ की अस्फुटरूपता की निवृत्ति करता है ।[2]

(3) क्रमो वाक्यम्

खण्ड पक्ष के अन्तर्गत वाक्य का एक लक्षण क्रम है अर्थात् वाक्य पदों का संघात न होकर पदों का क्रम है। इस मत को माननेवाले यह कहते हैं कि यदि क्रम का वाक्य में महत्व न होता तो कोई भी पद समूह वाक्य बन सकता था। परन्तु ऐसा नहीं होता एक विशेष क्रम में रखे जाने पर ही पदों के द्वारा वाक्यार्थ बोध होता है। आचार्य भर्तृहरि क्रम को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि पदार्थों में विशेष अर्थ व्यवस्थित रहता है वह विशिष्ट अर्थ क्रम के द्वारा ही अवगत होता है। इसके अतिरिक्त शब्द—रूपवाक्य अभिधायक नहीं होता ।[3] पुण्यराज इस कारिका की विस्तृत व्याख्या उदाहरणों द्वारा करते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य भर्तृहरि ने इस कारिका में 'क्रमो वाक्यम्' पक्ष का स्पष्टीकरण किया है। देवदत्त गामभ्याज इत्यादि वाक्यों में देवदत्त इत्यादि पदों के द्वारा जो गृहीत होता है उनमें गो कर्मक अभ्याज क्रिया में देवदत्त पदार्थ कहा हैं। जो पदार्थ देवदत्त कर्ता का कर्म है तथा अभ्याज पदार्थ क्रिया है। इसका अर्थ विशिष्टक्रम में पदों को रखने पर ही विदित होता है ।[4] इसीलिये कुछ आचार्य पदक्रम को ही वाक्य मानते हैं। क्रमपक्ष को माननेवालों के अनुसार क्रम के अतिरिक्त अन्य कोई स्फोटादि वाक्य नहीं है।

---

1. अथात्र संघातपक्ष एव प्रकारान्तरेणान्विताभिधान प्रदर्शनात्…।
—पु० रा० वा० प० 2-44, 45

2. तत्र चाकाङ्क्षावसरे येयमस्फुटरूपता वाक्यार्थस्य तामितरपदार्थसन्निधिर्निवारयतीति…।
—वही, 2-45

3. सन्त एव विशेषा ये पदार्थेषु व्यवस्थिताः ।
ते क्रमादनुगम्यन्ते न वाक्यमभिधायकम् ॥
—वा० प० 2-49

4. पदार्थेषु देवदत्तादिपदवाच्येषु गोकर्मिकायामभ्याजक्रियायां देवदत्तपदार्थस्य कर्तृत्वं गोपदार्थस्य देवदत्तकर्तृकायां कर्मत्वमित्यादयो विशेषा सन्त एव पदेभ्यः प्रतीतेभ्योऽवगम्यन्ते ।"
—पु० रा० वा० प०, 2-49

(4) प्रथम पद वाक्य है।

(5) सभी सकांक्ष पद वाक्य है।

ये दोनों मत एक साथ इसलिये वर्णित किये गये हैं क्योंकि उन दोनों ही पक्षों की एक प्रकार की व्याख्या होनी है। प्रथम पक्ष के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त पहला पद ही वाक्य होता है। पुण्यराज कहते है कि साध्य एवं साधन परस्पर नियत होते हैं अर्थात् साध्य के अभिधायक पद में साधन विद्यमान रहता है तथा साधन का अभिधायक पद साध्य के अर्थ से भी युक्त होता है।[1] इसीलिये प्रथम पद वाक्य माननेवाले यह कहते हैं कि वाक्यार्थ का पहला पद ही सारे वाक्य के अर्थ का अभिधान कर देता है अतः पहला पद ही वाक्य है: उदाहरण के लिये 'देवदत्त गामम्याज' वाक्य में प्रयुक्त देवदत्त पद 'देवदत्त गां बधान' इस वाक्य में प्रयुक्त देवदत्त पद से सर्वथा भिन्न है परन्तु भ्रम के कारण दोनों एक समान प्रतीत होते हैं। प्रथम वाक्य में प्रयुक्त देवदत्त शब्द गाय के आनयन से सम्बद्ध है जबकि दुसरे 'देवदत्त' का सम्बन्ध गाय को बांधने से है अतः वाक्य का पहला पद ही समस्त वाक्य के अर्थ को बता देता है अतः प्रथम पद ही समस्त विशेषणों से युक्त होता है तथा उसी का प्रथम प्रयोग होता है अतः वही वाक्य है।[2]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि प्रथम पद ही समस्त वाक्य के अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है तो फिर वाक्य में अन्य पदों का प्रयोग क्यों होता है। अन्य पद तो व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं।[3] इसका उत्तर यह है कि वाक्यार्थ की अवगति सारे पदों का उच्चारण होने पर ही होती है अतः वाक्यार्थ ज्ञान में अन्य पदों का वैयर्थ्य नहीं है।[4] समस्त पदों के द्वारा ही वाक्यार्थावगति को मानते हुये ही कुछ विद्वान् सभी साकांक्ष पदों के द्वारा ही वाक्यार्थ ज्ञान मानते हैं।[5] इस मत के अनुसार यद्यपि

---

1. साध्यं साधनं च परस्परं नियतमेव। —पु० रा० वा० प०, 2-47
2. देवदत्त गामम्याजेत्यत्र देवदत्तपदं गां बधानेत्यस्माद् विशिष्टमेव वक्त्रा समुदीरितं भ्रमात्तु सकलसाधारणं प्रतिभाति। उत्तरकालं गवादिपदसबन्धात् विशिष्टा प्रतिपत्तिरभिव्यज्यते इति तदेव वाक्यम्। —वही, 2-17
3. यद्येकस्मादेवपदात्सकलवाक्यार्थप्रतीतिस्तर्हि इतरपदवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह। —वही, 2-18
4. प्रतिपत्तृषु वाक्यार्थस्य सिद्धिरवगतिर्व्यक्तोपव्यञ्जना।... अभिव्यक्ताभिव्यञ्जका वाक्यार्थावगतिरिति पदान्तराणां नास्त्येव वैयर्थ्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-18
5. आद्य एव पदे प्रत्येकं वा सकलस्य वाक्यार्थस्य समाप्तिरवगन्तव्या। —वही, 2-18

वाक्यार्थ प्रथम पद में रहता है परन्तु इतर पद के सान्निध्य के बिना वह अर्थ केवल प्रथम पद के द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता अतः वाक्यार्थज्ञान में सभी पदों की आकांक्षा होती है। आकांक्षा के कारण ही इतर पदार्थ के सन्निधान होने पर वाक्यार्थ प्रकाशित होता है अतः अन्य पदों के आक्षेप से युक्त पद वाक्य है।[1] इन दोनों मतों को पुण्यराज ने अन्विताभिधान पक्ष के अन्तर्गत रखा है क्योंकि अन्विताभिधान पक्ष में भी प्रत्येक पद वाक्य के अर्थ से युक्त होता है परन्तु जब तक सभी पद प्रयुक्त नहीं होते वह वाक्यार्थ अभिव्यक्त नहीं होता। इन दोनों पक्षों में भी प्रत्येक पद में वाक्यार्थ माना जाता है तथा अन्य पदों का सन्निधान उस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये आवश्यक माना जाता है।

इस प्रकार इन पांचों लक्षणों में वाक्य में पदों के ही अर्थ द्वारा वाक्यार्थ बोध माना गया हैं चाहे आख्यात पद द्वारा चाहे पदों के क्रम द्वारा चाहे प्रथम पद द्वारा अथवा सभी पदों द्वारा सभी वाक्यलक्षण वाक्य के अवयवों के अर्थों के द्वारा ही वाक्य का अर्थ मानते हैं। इसीलिये पुण्यराज ने इन पांचों लक्षणों को खण्डपक्ष के अन्तर्गत रखा है।

अखण्डपक्ष

इस पक्ष के अन्तर्गत पुण्यराज ने संघात में वर्तमान जाति, अवयव रहित स्फोट लक्षण शब्द तथा अनुसंहृत क्रम वाली बुद्धि ये तीन वाक्य लक्षण माने हैं। अखण्डपक्ष के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त होनेवाले पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं कराता अपितु सम्पूर्ण वाक्य अखण्ड रूप में ही अर्थ का ज्ञान कराता है उसमें पदों का कोई अर्थ नहीं होता। सारा वाक्य युगपत् उच्चारित करना सम्भव नहीं है इसलिये पदों का प्रयोग किया जाता हैं। पदों के द्वारा वाक्य की अभिव्यक्ति होती है वाक्यार्थ ज्ञान कराने में पदों का कोई महत्व नहीं हैं। इसी को अखण्ड वाक्य स्फोट कहते हैं अर्थात् वाक्य पदों से अतिरिक्त अखण्ड है जिसे स्फोट कहते हैं। वाक्य के उच्चारण करने पर पदों के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ उत्पन्न होता है वह अन्य अर्थ स्फोट हैं—उदाहरण के लिये देवदत्त गामम्याज वाक्य में देवदत्त, गाम्, तथा अम्याज इन अलग-अलग पदों के द्वारा देवदत्तकर्तृक गोकर्मक आनयन अर्थ अभिहित नहीं होता अपितु देवदत्त गामम्याज इस समूचे वाक्य के द्वारा ही यह अर्थ अभिहित होता है इसलिये आचार्य भर्तृहरि को अखण्डवाक्य पक्ष को मानने वाला कहा गया है। आचार्य पतंजलि एवं पाणिनि भी अखण्डपक्ष को माननेवाले हैं।

---

1. केवलमाकाङ्क्षावशादितरपदार्थसन्निधाने सति नियमः सन्नेव प्रकाशत इत्याक्षिप्तपदान्तराणि पदान्येव वाक्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-47

पुण्यराज ने अखण्डवाक्य स्फोट के भी अन्त:स्फोट एवं बाह्य स्फोट के आधार पर दो भेद किये हैं। अंतः स्फोट के अन्तर्गत उन्होंने बुद्धि: अनुसंहृति: पक्ष को रखा है। बाह्य स्फोट के दो भेद जातिस्फोट एवं व्यक्ति स्फोट मानते हुये जाति: संघात-वर्तिनी पक्ष को जातिस्फोट तथा एकोऽनवयव ाब्द: पक्ष को व्यक्ति स्फोट के अन्तर्गत माना है। अखण्डपक्ष के अन्तर्गत आनेवाले तीनों वाक्य लक्षणों का पृथक् विवेचन करना आवश्यक है।

(1) बुद्धि: अनुसंहृति: वाक्यम्

अखण्डवाक्य के अन्त:स्फोट के अनुसार वाक्य का लक्षण अनुसंहृत क्रम वाली बुद्धि है। वाक्य वक्ता के द्वारा उच्चारित किये जाने से पूर्व वक्ता की बुद्धि में विद्यमान रहता है।[1] 'वाक्य की इसी अवस्था को वाक्य माना जाता है। इस अवस्था में वाक्य अक्रम होता है तथा उसमें किसी प्रकार का विभाग नहीं होता। जब वक्ता उस अन्त: स्थित वाक्य को श्रोता को अभिव्यक्त कराना चाहता है तब वह ध्वनियों का सहारा लेता है। श्रोता के मस्तिष्क में भी अक्रम रूप में ही वह वाक्य स्थित होता है। ध्वनियां उस अक्रम वाक्यस्फोट को अभिव्यक्त कराती हैं इसीलिये पतंजलि ने भी कहा है कि स्फोट ही शब्द है ध्वनि तो शब्द का गुण है :[2]

जिस प्रकार किसी चित्र को देखने पर द्रष्टा उसके सम्पूर्ण भाग का एक-एक करके दर्शन करता हुआ उस सम्पूर्ण चित्र को अपने मस्तिष्क में सन्निहित कर लेता है तथा जब उसे पट पर अंकित करना चाहता है तब उसके अलग-अलग भागों को चित्रित करता है उसी प्रकार वाक्य भी अक्रम रूप में ही बुद्धि में रहता है तथा दूसरों की बुद्धि में भी अक्रम रूप से स्थित उस वाक्य को अभिव्यक्त कराने के लिये वह ध्वनियों का आश्रय लेता है। अत: वाक्य अक्रम है परन्तु उसमें उपांशु परमोपांशु इत्यादि भेद अभिव्यंजक ध्वनि के कारण प्रतीत होते हैं। उनका आरोपण भ्रमवश स्फोट पर कर दिया जाता है।[3] जिस प्रकार काल एक ही होता है परन्तु उसमें चिरज्ञान क्षिप्रज्ञान इत्यादि भेद किये जाते हैं चिरज्ञान देर तक का ज्ञान तथा क्षिप्रज्ञान इसके विपरीत ज्ञान उसी प्रकार स्फोट एक ही है परन्तु फिर भी उसमें ह्रस्वादि भेदों

---

1. वितर्कित: पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशित:। वा० द० 147
2. स्फोट: शब्द: ध्वनि: शब्दगुण:
3. तस्माद्य: शब्दो व्यक्त उपांशुकृत्वाऽधीयते सोऽभिव्यञ्जकध्वनिकृतात् क्रमात् क्रमवान्नानाविधावस्थायुक्त: प्रतीयते। परमार्थतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मा प्रतिभास उपाधिवशात्तु बुद्धिवितर्तैवानुगम्यते। —पु० रा० वा० प०, 2-9

का आरोपण किया जाता है। वास्तव में स्फोट में ह्रस्वादिरूपता नहीं है।[1] उसी प्रकार जैसे चातक के अण्डे के अन्दर विद्यमान रस में पक्षी के अंग प्रत्यंग अविभक्त रूप में विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार वाक्य भी बुद्धि में अविभक्त रूप में रहता है।[2]

संघात में वर्तमान जाति

अखण्डवाक्य स्फोट के बाह्य स्फोट रूप भेद के जातिस्फोट के अन्तर्गत पुण्यराज ने संघात में वर्तमान जाति तथा व्यक्ति स्फोट के अन्तर्गत अवयव रहित स्फोटलक्षण शब्द वाक्य को रखा है। जैसाकि 'जाति' शब्द के नाम से ही स्पष्ट होता है कि इसके अनुसार पदों के संघात से जो अर्थ अभिहित होता है वह 'जाति' के रूप में ही होता है। उदाहरण के लिये 'गोर्गच्छति' वाक्य में संघात के द्वारा गोत्व जाति से युक्त गमन अर्थ गृहीत होता है। आचार्य भर्तृहरि ने संघात मे वर्तमान जाति वाक्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। जिस प्रकार भ्रमण लक्षणा जाति अनेक प्रकार की अवान्तर क्रियाओं में रहती है अर्थात् भ्रमण एक जाति है उसकी अभिव्यक्ति पादविक्षेप इत्यादि क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होती है वे क्रियाएं क्षणिक होती है उस प्रत्येक क्रिया में रहने पर भी भ्रमणत्व जाति उनसे सर्वथा भिन्न है। उसी प्रकार ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त वर्ण, पद अथवा वाक्य जाति स्फोट उनके द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी उनसे सर्वथा भिन्न है।[3] पुण्यराज कहते हैं कि भ्रमणलक्षण कर्मजाति विशिष्टप्रयत्न जनित विशिष्टाक्षेप के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं क्योंकि उनकी समाप्ति प्रत्येक अवयव में होती है। वह भ्रमणत्व जाति पास बैठे हुये व्यक्ति को दिखाई नहीं देती। प्रतिपत्ता के द्वारा भ्रमणों की आवृत्ति होने पर प्रत्येक भ्रमण में उसका ग्रहण किया जाता है[4] उसी प्रकार वर्ण पद एवं वाक्य में उनकी अभिव्यंजक ध्वनि सर्वथा भिन्न होने पर भी वर्ण पद, वाक्य लक्षण स्फोट की अभिव्यंजक होने के कारण उनसे अभिन्न प्रतीत

1. चिरमिति क्षिप्रमिति ज्ञानं च यथा ज्ञानत्वादिशेषादेककालमपि ज्ञेयसमाश्रयणेनाभिन्नकालमिव प्रथते। चिरज्ञानं विततप्रतिभासमिवाभाति क्षिप्रज्ञानमेतद्विपरीतम्। तद्वत् ह्रस्वदीर्घयोर्धर्मः स्वभावोऽवगन्तव्यः। न तु ह्रस्वादिरूपता काचित् स्फोट इति नास्ति स्फोटस्य स्वतो भेदः। —पु० रा० वा० प, 2-23
2. पुनश्चातकाण्डकललवदविभक्त एव युक्त इति…। —पु० रा० वा० प०, 2-27
3. यथाक्षेपविशेषे कर्मभेदो न गृह्यते।
   आवृतौ व्यज्यते जातिः कर्मभिर्भ्रमणादिभिः॥
   वर्णवाक्यपदेष्वेवं तुल्योपव्यञ्जना श्रुतिः।
   अत्यन्तभेदे तत्वस्य सरूपेव प्रतीयते॥ —वा० प०, 2-20, 21
4. इह भ्रमणलक्षणकर्मजातिर्यथा विशिष्टप्रयत्नजनितेन क्षेपविशेषेणाभिव्यक्ता, प्रत्येकपरिसमाप्तत्वात्। न च पार्श्वस्थेन सा विज्ञायते। भ्रमणानामावृत्तौ तु भ्रमणं भ्रमणं प्रति प्रतिपत्रा सा गृह्यते। —पु० रा०, 2-20, 21

होती है।[1] इस प्रकार भिन्न प्रयत्न द्वारा उदीरित ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त जातिस्फोट सर्वथा विलक्षण ही है।[2]

अवयवरहित स्फोटलक्षण शब्द वाक्य है

यह मत भर्तृहरि का है।[3] यद्यपि भर्तृहरि ने स्वयं कहीं नहीं कहा कि उनको आठ लक्षणों में से कौन-सा मत अभीष्ट है क्योंकि उन्होंने तो अखण्ड वाक्य पक्ष को ही सामान्य रूप से वैयाकरणों का मत मानकर खण्डपक्ष का खण्डन किया है परन्तु यह श्रेय पुण्यराज को जाता है कि उन्होंने भर्तृहरि के विवेचन के आधार पर उनके मत को प्रस्तुत किया है। वाक्यपदीय प्रथम काण्ड में भी स्फोट को शब्द के रूप में वर्णित किया गया है। शब्द से उनका तात्पर्य वाक्य से है क्योंकि जब वाक्य अखण्ड रूप में अवयवरहित होकर ही अर्थागति कराता है तब वह एक शब्दरूप ही हो जाता है। इसीलिये इसी मत को भर्तृहरि का मत माना गया है।

जिस प्रकार चित्र को देखने पर यह चित्र है ऐसा ज्ञान होता है उसके अलग-अलग भागों का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो एक ही होता है कि यह चित्र है, उस चित्र में जो नील पीत इत्यादि भाग हैं उन्हीं के कारण ज्ञान में भी भेद का आरोपण कर दिया जाता है नीलज्ञान, पीत ज्ञान इत्यादि। चित्र का ज्ञान निरवयव रूप में ही होता है परन्तु जब उस चित्र का वर्णन किया जाता है तब उसे नीलपीत इत्यादि रंग दिये जाते हैं।[4] उसी प्रकार वाक्य भी अक्रम रूप में ही गृहीत होता है

---

1. एवं वर्णपदवाक्येषु श्रुतिरभिव्यञ्जको ध्वनिरत्यन्तभेदे तत्वस्य वर्णपदवाक्यस्फोटलक्षणस्य साभिव्यञ्जका सरूपेव प्रतीयते परमार्थतो भिन्नाऽपि सती।
—पु० रा० वा० प०, 2-20-21
2. तेन भिन्नप्रयत्नोदीरितध्वन्यभिव्यक्तोऽयं जातिस्फोटो विलक्षण एवेति बोद्धव्यम्।
—वही, 2-20, 21
3. तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यम्।
—वही, 2-1, 2
तथा
टीकाकारश्चामुमेव पक्षं सूत्रकाराभिप्रायसमाश्रयणेन युक्तियुक्तं मन्यमानो बहीरूप आन्तरो वा निर्विभागः शब्दार्थमयो बोधस्वाभावः शब्दः स्फोटलक्षण एव वाक्यमिति···।
—वही, 2-6
4. चित्रज्ञानम् सर्वाकारमेकमेव। प्रविभागस्तु दृश्यभेदसमाश्रयेण क्रियते नीलपीताद्यनेकाकारमेव विज्ञानमुपजातमिति वस्तुस्थित्या तत्र ज्ञान आकार भेदो नास्ति।
—पु० रा० ना० प०, 2-7

परन्तु उस वाक्य का अन्वाख्यान युगपत् नहीं हो सकता इसलिये ध्वनियों का आश्रयण किया जाता है जिससे अखण्ड होने पर भी वाक्य खण्डयुक्त प्रतीत होता है।[1]

पुण्यराज अन्य उदाहरण नरसिंह एवं गवय का देते हैं। जिस प्रकार नरसिंह एक ही है उसमें नर भाग एवं सिंह भाग होते हुये भी एक ही नरसिंह कहलाता है तथा जिस प्रकार गवय में भी गो भाग एवं अश्वभाग होते हुये भी वह एक ही है उसी प्रकार वाक्य भी एक ही है। यद्यपि उसमें पद रूप अवयव प्रतीत होते हैं परन्तु वे वास्तविक न होकर काल्पनिक है।[2]

इस प्रकार वाक्य निराकांक्ष है, एक है तथा पदों से सर्वथा भिन्न है वाक्यार्थ भी पदार्थ से भिन्न है एक है तथा निराकांक्ष है।[3]

इस प्रकार भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट वाक्य के आठ लक्षणों को दो मुख्य भागों (खण्ड पक्ष एवं अखण्ड पक्ष) में विभक्त करके खण्डपक्ष के अन्तर्गत आख्यात, पद-संघात, प्रथमपद, सभी साकांक्ष पद, तथा क्रम इन पांच लक्षणों को समाविष्ट किया गया है तथा अखण्डपक्ष के अंतर्गत संघात में वर्तमान जाति, अवयवरहित स्फोटलक्षण एक शब्द तया बुद्धि अनुसंहृति इन तीन वाक्यलक्षणों का समावेश किया गया है।

पुण्यराज को यद्यपि अखण्डपक्ष के अन्तर्गत आनेवाले तीनों ही वाक्यलक्षण अभीष्ट हैं।[4] क्योंकि तीनों ही वाक्य को ही सार्थक मानते हैं। परन्तु इन तीनों में पुण्यराज को मुख्य रूप से 'अवयवरहित स्फोटलक्षण शब्द' ये वाक्य लक्षण अधिक अभिप्रेत है उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अवयवरहित स्फोटात्मक शब्द वाक्य है प्रतिभा वाक्यार्थ है तथा वाक्य एवं वाक्यार्थ का सम्बन्ध अध्यास है।[5]

---

1. एकस्य निर्विभागस्य वाक्यस्य सर्वतः परिपूर्णस्य वाक्यान्तरगैतैः पदान्तरैरन्वाख्यानं तथैव क्रियत इति। —वही, 2-9
2. वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वं पानकरसमयूराण्डरसचित्ररूपनरसिंहगवयचित्रज्ञानवत् समानमेवेत्युच्यते। —वही, 2-7
3. अतश्च स्थितमेतद् यदखण्डम् निराकांक्षमेकं पदव्यतिरिक्तं वाक्यं पदार्थव्यतिरक्तो वाक्यार्थः तथैवेति। —पु० रा० वा० प०, 2-14
4. एक एव नित्यः पदाभिव्यंग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा वाचकोऽङ्गीकार्य इति सिद्धान्तः। —वही, 2-30
5. अत्राऽनवयव एवैकस्मिन् स्फोटात्मके वाक्ये प्रतिभालक्षणे च वाक्यार्थे वाक्य-वाक्यार्थयोरध्यासरूपः सम्बन्धः। —वही, 2-1, 2

अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान पक्ष

जैसाकि पहले स्पष्ट कर दिया गया है कि खण्डपक्ष के पांच वाक्यलक्षणों को अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान पक्षों के अन्तर्गत विभाजित किया गया है। अभिहितान्वय पक्ष भाट्टमीमांसकों को मान्य है। कुमारिल भट् के अनुयायी भाट्ट मीमांसक कहलाते हैं तथा प्रभाकर के अनुयायी प्रभाकर मीमांसक कहलाते हैं। पदसंघात एवं क्रम इन दो वाक्यलक्षणों को अभिहितान्वय पक्ष के अन्तर्गत रखा गया है तथा आख्यात शब्द, प्रथम पद, समस्त साकांक्ष पद इन तीनों वाक्यलक्षणों को अन्विताभिधान पक्ष के अन्तर्गत रखा गया है। आचार्य भर्तृहरि ने इन दोनों पक्षों का पृथक् रूप से नामतः निर्देश नहीं किया उन्होंने जिस प्रकार संघात वाक्यलक्षण का विवेचन किया है उसके आधार पर पुण्यराज ने कारिकाओं में इन दोनों पक्षों का विवेचन ढूंढ़ लिया है। अतः पुण्यराज के इन दोनों पक्षों के सम्बन्ध में विचार जानना आवश्यक हो जाता है।

अभिहितान्वय पक्ष

पुण्यराज ने पृथक् रूप से अभिहितान्वय पक्ष का विवेचन नहीं किया। उन्होंने अभिहितान्वय पक्ष के समाश्रयण द्वारा संघात वाक्य लक्षण को स्पष्ट किया है।[1] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि पद अकेला जिस अर्थ का वाचक होता है वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी उस अर्थ का ही वाचक होता है। पदों का परस्पर सम्बन्ध होने पर जो पदार्थ से अतिरिक्त अधिक अर्थ उत्पन्न होता है उसी को वाक्यार्थ कहते हैं जो उनके पदों पर आश्रित होता है।[2] पुण्यराज कहते हैं कि पदों का जब वाक्य में परस्पर अन्वय होता है तो अधिक अर्थ संसर्ग कहलाता है तथा उसी को वाक्यार्थ कहते हैं। यह संसर्ग रूप अधिक अर्थ पदार्थ के कारण प्राप्त होता है।[3] अर्थात् पदों का समुदाय में अन्वय होने पर उनके अर्थ का वाक्य के अन्य पदों के अर्थ के साथ संसर्ग होने पर उन पदार्थों से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है जो वाक्यार्थ कहलाती है। महाभाष्य में भी कहा

---

1. "इदानीमभिहितान्वयपक्षसमाश्रयणेन संघातपक्षस्य प्रदर्शनायाह।"
2. केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते।
   वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम् ॥
   सम्बन्धे सति यावन्यदाधिक्यमुपजायते।
   वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम् ॥"

   —वा० प०, 2-41, 42
3. समुदाये पदानां परस्परान्वये पदार्थवशाद्यदाधिक्यं संसर्गः स वाक्यार्थः।

   —पु० रा० वा० प० 1-41, 42

गया है कि जो अधिक अर्थ होता है वह वाक्यार्थ कहलाता है ।[1] कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में अभिहितान्वयपक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अलग-अलग निरपेक्ष रूप में स्थित पदों के द्वारा अपना-अपना अर्थ कह देने पर उन पदार्थों के संसर्ग से पदव्यापार को अपेक्षा से रहित वाक्यार्थ ज्ञान होता है ।[2]

अभिहितान्वय शब्द का अर्थ है अभिहितों का अन्वय (अभिहितानामन्वयः) अर्थात् पदों के द्वारा अभिहित पदार्थों का अन्वय वाक्य में होता है । पदों के द्वारा पहले पहले अभिधाशक्ति से अपना अर्थ प्रतीत होता है उसके बाद जब पदों का वाक्य में अन्वय होता है तब वाक्यार्थ ज्ञान होता है जो पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होने पर ही होता है । यद्यपि वाक्यार्थ पदार्थों द्वारा ही उपस्थित होता है परन्तु फिर भी वह पदार्थ से सर्वथा भिन्न होता है । शबरस्वामी कहते हैं कि पद अपने-अपने अर्थों का अभिधान करके अपने कार्य से निवृत्त हो जाते हैं तब वे अवगत पदार्थ वाक्यार्थ का बोध कराते हैं ।[3]

मम्मट काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास कारिका 6 के सप्तम सूत्र 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' की व्याख्या करते हुये अभिहितान्वयपक्ष को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि पहले पदों से केवल अपने पदार्थ उपस्थित होते हैं उसके बाद पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के बल से तात्पर्य शक्ति के द्वारा उन पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ का ज्ञान होता है ।[4] पदों में यह शक्ति नहीं कि वे अपने अर्थ का भी बोध करायें तथा वाक्यार्थ ज्ञान भी कराये । पद तो अपना अलग-अलग अर्थ प्रदान करने पर अपना कार्य समाप्त कर देते हैं । अतः पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित होते हैं । उन अभिहित पदार्थों का वाक्य में अन्वय होने पर जो अर्थ ज्ञान होता है उसे वाक्यार्थ कहते हैं ।

अभिहितान्वयवाद के सम्बन्ध में न्यायमंजरी में जयन्त भट्ट ने संक्षेप में कहा है कि इस मत को इसलिये मानना चाहिये क्योंकि पदार्थ के ही ज्ञान से वाक्यार्थ होता

---

1. उक्तं च—'यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः स इति । —वही, 2-41, 42
2. पृथग्भूतै पदै इतरेतरनिरपेक्षैः स्वेषु पदार्थेषूक्तेषु तत्संसर्गादेव पदव्यापारानपेक्षो वाक्यार्थप्रत्ययो भवति । तन्त्रवार्त्तिक 445
3. पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि अथेदानीं पदार्था अवगता सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति । —शाबरभाष्य मी० सू०, 1.1.25
4. आकांक्षायोग्यतासन्निधानवशात् वक्ष्यमाणस्वरूपपदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम् । —काव्यप्रकाश उल्लास 2, कारिका 6 सूत्र 7

है। पदार्थ को न जाने हुए का वाक्यार्थ ज्ञान होता नहीं देखा जाता। पदार्थ के ही विभाग से यह ज्ञान होता है कि इस पद का अर्थ जाति है तथा इसका गुण है।[1] अभिहितान्वय पक्ष के समर्थक कहते हैं कि यही पक्ष अधिक उचित है क्योंकि यदि शब्दों का अलग अर्थ न हो तो उनका नामाख्यात, विशेषण इत्यादि में विभाजन व्यर्थ हो जाएगा। दूसरी बात यह कि जब हम किसी नये श्लोक का अर्थ ज्ञान करते हैं तो पृथक्-पृथक् शब्दों एवं उनके अर्थों के आधार पर भी होता है।

अभिहितान्वय पक्ष का खण्डन

इस मत का खण्डन करते हुये आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि यदि पदों के द्वारा पहले सामान्य अर्थ तथा तत्पश्चात् उसका तिरोधान होकर उस अर्थ का विशेष में अवस्थान मानने पर उस प्राप्त (सामान्य) अर्थ का त्याग कैसे सम्भव है तथा वह निवृत्त हुआ सामान्य अर्थ कहा जाता है।[2] पुण्यराज अपनी टीका में उदाहरण द्वारा इस मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि देवदत्त गामम्याज शुक्लां दण्डेन' इस वाक्य में अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार देवदत्तादि पद ही वाक्य है। उनके अनुसार देवदत्त पद पहले 'देवदत्त सामान्य' अर्थ का अभिधान करता है तथा बाद में गवादि पद के श्रवण होने पर अन्य अर्थ का अभिधान करता है जिसे वाक्यार्थ कहते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि देवदत्त पद के द्वारा सामान्य अर्थ का अभिधान करने पर गवादि पद के उच्चारण के समय 'देवदत्त' पद तो वाणी के क्रमवर्ती होने के कारण तिरोहित हो जाता है फिर उस अविद्यमान देवदत्त पद के द्वारा अन्य पद के श्रवण पर पुनः अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है। अर्थात् एक बार अर्थ (सामान्यार्थ) प्रदान करके तिरोहित शब्द पुनः अन्य पद के उच्चारण होने पर (विशिष्ट) अर्थ कैसे प्रदान कर सकता है क्योंकि शब्द तो उच्चारित प्रध्वंसित होते हैं।[3] यदि यह मान लिया जाए कि पूर्वोच्चारित देवदत्त पद गवादि पद के उच्चारण के समय स्मृति के द्वारा प्राप्त हो जाते हैं फिर भी उसका विशिष्ट अर्थ में अवस्थान उचित नहीं है। क्योंकि पहले वाक्यार्थ के रूप में गृहीत सामान्य लक्षण अर्थ का अन्य पद के सन्निधान होने पर त्याग उचित नहीं है क्योंकि

1. न्यायमंजरी, पृ० 364-65
2. सामान्यार्थस्तिरोभूतो न विशेषेऽवतिष्ठते।
उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तः क्वावतिष्ठताम्॥ —वा० प० 2-15
3. इह देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेति देवदत्तादीन्येव पदानि वाक्यम्। तत्र देवदत्तपदं तावद् यदि सामान्यमात्रे प्रथमं वर्तते तत्तस्य गवादिपदकाले वाचः क्रमवर्त्तित्वात्तिरोधानादसत्वमेवेति कुतः पदान्तरश्रवणकाले तदर्थप्रतीतिः। असत्वादेव च न पदान्तरसन्निधाने तस्य विशेषेऽवस्थानम्। —पु० रा० वा प०, 2-15

इससे शब्दार्थ सम्बन्ध में अनित्यता दोष आ जाएगा जो कि मीमांसकों के सिद्धान्त के विपरीत है। यदि यह मानें कि उस अर्थ का त्याग नहीं होता तो फिर पदान्तर का सन्निधान होने पर वह अर्थ कहाँ जाता है।[1] आचार्य भर्तृहरि भी स्वोपज्ञ टीका में कहते हैं कि जिस (देवदत्तादि) शब्द के द्वारा आविर्भावकाल में ही विशिष्ट अर्थ प्राप्त नहीं हुआ वह शब्द (सामान्य अर्थ वाला) तिरोहित होने पर पुनः विशिष्ट अर्थ प्रदान करने का उत्साह नहीं कर सकता।[2]

अभिहितान्वयपक्ष का खण्डन करते हुए पुनः पुण्यराज कहते हैं कि अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार तो वाक्यार्थ शब्दों के बिना होता है। क्योंकि इस पक्ष के अनुसार पद अपना अर्थ कहकर अपने व्यापार से निवृत हो जाते हैं और उनका अर्थ ही अन्य पदों के अर्थ के सन्निधान में अन्यार्थ को अभिव्यक्त करता है जिसे वाक्यार्थ कहते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ अशब्द मानने पर पदार्थ भी पद प्रतिपाद्य नहीं होगा क्योंकि पद भी अनेक वर्णों में रहता है तथा वाणी के उच्चरित प्रध्वसित होने के कारण वर्ण भी नश्वर होते हैं अतः पद भी एक नहीं है। इस प्रकार जब पद नहीं होगा तो पदार्थ भी नहीं होगा। अतः अशब्द के द्वारा वाक्यार्थ मानने पर शब्द एवं अर्थ में वाक्यभावलक्षण सम्बन्ध ही व्यक्त हो जाएगा।[3] इस प्रकार अभिहितान्वय पक्ष खण्डित हो जाता है।[4]

अन्विताभिधान

अभिहितान्वय पक्ष की भांति पुण्यराज ने अन्विताभिधान का भी पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया। उन्होंने अन्विताभिधानवाद के अनुसार प्रथम पद वाक्य तथा

---

1. सामान्यलक्षणस्य सकलपदार्थसाधारणस्य पूर्वमुपात्तस्य वाच्यत्वेन परिगृहीतस्ये-दानीं पदान्तरसन्निधाने त्यागः कुतो युज्यते शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यताप्राप्तेः। न च तथा मीमांसकस्याभ्युपगम इति।...स्वार्थान्निवृत्तोऽसौ पदान्तरसन्निधाने शब्दः क्वेदनीमवतिष्ठताम्। — पु० रा० वा० प० 2-15
2. तत्र येन शब्देनाविर्भावकाल एव विशिष्टोऽर्थो न प्रतिलब्धः स शब्दः सामान्यार्थ-स्तिरोभूतो विशेषेऽवस्थातुं न पुनरुत्सहते। —भर्तृहरि स्वोपज्ञ वृत्ति, 2-15
3. उक्तनीत्या शब्दा न युज्यन्ते वाचकाः। तदभावाच्च वाक्यार्थो यद्यभ्युपगम्यते तदयमपरस्ते दोषः। पदार्थोऽपि पदप्रतिपाद्यो न कश्चित् अनेकवर्णवर्त्तित्वाद् वाच उच्चरित प्रध्वंसितवाच्च वर्णानामिति पदमप्येकं नास्ति। तदभावात्कः पदार्थः स्यात्। इत्थमशब्दो वाचको वाक्यार्थ इति वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः शब्दार्थयोस्त्यक्तः स्यान्मीमांसकेनेति...।' — मु० रा० वा० प०, 2—16
4. एवं तावदभिहितान्वयवादी निरस्तः। —वही, 2—17

समस्त पद वाक्य लक्षणों का विवेचन किया है।[1] अतः इस प्रसग में उन्होंने अन्विताभिधान पक्ष का विवेचन किया है।

अन्विताभिधानवाद का अर्थ है कि पद वाक्यार्थ के साथ संसृष्ट अर्थ को प्रदान करते हैं अर्थात् पद सामान्य अर्थ का ही बोध नहीं कराते अपितु वाक्य में अन्वय के समय उनका जो अर्थ होता है उसे पहले ही अभिहित करते हैं। आचार्य वेल्लरी ने 'चैत्रः पचति' उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि यहां चैत्र शब्द सामान्य चैत्र अर्थ को ही अभिहित नहीं करता अपितु पाक कर्मक चैत्रकर्ता अर्थ को अभिहित करता है। इसी प्रकार 'पचति' शब्द भी केवल पाक अर्थ को अभिहित नहीं करता अपितु चैत्रकर्तृक पाकभावना अर्थ को अभिहित करता है, जो 'चैत्र कर्तृकपाक भावना' इस सम्पूर्ण वाक्य का अग है।[2] वेल्लरी सुब्बाराव कहते है कि इस मत के अनुसार शब्द अलग-अलग अर्थ का अभिधान न करके उस अर्थ का अभिधान करते हैं जो वाक्य में सम्बद्ध होता है।

पुण्यराज कहते है कि 'देवदत्त गामम्याज' इस वाक्य में देवदत्त शब्द 'देवदत्त गां बधान' इस वाक्य में प्रयुक्त देवदत्त पद से भिन्न रूप में ही वक्ता उच्चारित करता है परन्तु भ्रम के कारण 'देवदत्त' पद सामान्य अर्थ वाला प्रतीत होता है।[3] अर्थात् देवदत्त पद सामान्य देवदत्त अर्थ का ही वाचक नहीं होता अपितु प्रथम वाक्य में गोकर्मक अम्याज क्रिया से युक्त अर्थ में प्रयुक्त होता है तथा द्वितीय वाक्य में गोकर्म बन्धन क्रिया से युक्त अर्थ मे प्रयुक्त होता है। इसीलिये प्रथम पद वाक्य पक्ष को अन्विताभिधानवाद के अन्तर्गत रखा गया है क्योंकि एक पद ही समस्त वाक्य के अर्थ का अभिधान कर देता है।[4]

'अन्विताभिधानम्' शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट होता है कि पद, वाक्य में अन्वित अर्थ का ही अभिधान करते हैं (अन्वितानामभिधानम्)।

---

1. 'इदानीमन्विताभिधानपक्षसमाश्रयणेन पदमाद्यं पृथक् सर्वपदं साकांक्षमित्युद्दिष्टे वाक्यलक्षणे प्रदर्शयितुकाम आह...।' —वही, 2—17
2. 'चैत्रकर्तृक पाकभावना' अथवा 'चैत्रनिष्ठकर्तृत्वसमानाधिकरणा पाकभावना।' —वेल्लरी सुब्बाराव (दि फिलासफी आफ सेन्टेन्स एण्ड इट्स पार्ट्स
3. इह देवदत्त गामम्याजेत्यत्र देवदत्तपदं गां बधानेत्यस्माद् विशिष्टमेव वक्त्रा समुदीरित भ्रमात्तु सकलसाधारणं प्रतिभाति। —पु० रा० वा० प०, 2—17
4. आद्य एव पदे प्रत्येकं वा सकलस्य वाक्यार्थस्य समाप्तिरवगन्तव्या। —वही, 2—18

आचार्य मम्मट अन्विताभिधानपक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वाक्य का अर्थ पदों का वाच्यार्थ ही होता है।[1]

पुण्यराज वाक्य में अन्य पदों की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि प्रथम अथवा एक ही पद सकलवाक्यार्थावगति कराने में समर्थ होता है परन्तु फिर भी वाक्यार्थ तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक उत्तरवर्ती पदों का उच्चारण न हो। गवादि पदों के साथ सम्बन्ध होने पर ही 'देवदत्तादि पदों का अर्थ अभिव्यक्त होता है।[2] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि वाक्यार्थावगति व्यक्तोपव्यञ्जना होती है।[3] अर्थात् जब तक सभी अभिव्यंजक पदविशेष उच्चरित (व्यक्ता उदीरिता उपव्यंजना पदविशेषा यस्या सा) नहीं होंगे तब तक प्रथम पद के द्वारा अभिहित वाक्यार्थ अभिव्यक्त नहीं होगा। अतः वाक्य में अन्य पदों का वैयर्थ्य नहीं होता।[4] आचार्य भर्तृहरि ने अपनी स्वोपज्ञटीका में यह नहीं कहा कि इन कारिकाओं से अन्विताभिधान पक्ष का समाश्रयण किया गया है। पुण्यराज ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इनमें अन्विताभिधान पक्ष का समाश्रयण है तथा उन्होंने उन कारिकाओं के माध्यम से स्पष्ट भी किया है। उन्होंने जहां 'व्यक्तोपव्यञ्जना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तृषु' (वा० प० 2-18) इस कारिकार्थ की व्याख्या अन्विताभिधान पक्ष के अनुसार की है वहां आचार्य भर्तृहरि ने साधारण रूप से यह कहा है कि उपव्यंजनों के व्यक्त होने पर ही प्रतिपत्ता का अर्थ बोध होता है। केवल सन्निधान मात्र से अर्थ बोध नही होता।[5] इस प्रकार अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान पक्षों के विवेचन का श्रेय पुण्यराज को ही जाता है।

अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधानवाद में अन्तर यह है कि अभिहितान्वय पक्ष में वाक्य का अर्थ पदों के द्वारा साक्षात् रूप से ज्ञात नहीं होता अपितु पदों के द्वारा वाक्य का अर्थ ज्ञात होता है। जबकि अन्विताभिधानवाद के अनुसार पदों का अर्थ तथा उनका परस्पर सम्बन्ध दोनों ही साक्षात् रूप से पदों द्वारा ही गृहीत होते हैं। पदों के

---

1. वाच्य एव वाक्यार्थ इति अन्विताभिधानवादिनः।

—द्वितीय उल्लास कारिका 6 सूत्र 7

2. उत्तरकाल गवादिपदसम्बन्धाद् विशिष्टाप्रतिपत्तिरभिव्यज्यते इति तदेव वाक्यम्।
—पु० रा० वा० प०, 2—17
3. व्यक्तोपव्यञ्जना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तृषु॥ —व० प०, 2—18
4. अभिव्यक्ताभिव्यञ्जका वाक्यार्थावगतिरितिप पदान्तराणां नास्त्येव वैयर्थ्यमित्यन्विताभिधानप्रदर्शनम्। —वही, 2-18
5. एवं व्यक्तेषु ह्युपव्यञ्जनेष्वर्थः प्रतिपत्तृषु प्रसिद्धि लभते। न तु सन्निधानमात्राद् अनभिव्यक्तोपव्यञ्जन इति। —भर्तृहरिस्वोपज्ञ वृत्ति वा० प०, 2—18

अर्थ को अन्विताभिधानपक्ष में भी स्वीकार किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि इस मत में पदों का अर्थ वाक्य के प्रकरण में ही होता है।

अन्विताभिधानवाद का खण्डन

इस सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने 'दीर्घव्यापारवाद' कहा है क्योंकि अन्विताभिधानवाद के अनुसार शब्द के अर्थ की कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। जिस प्रकार एक बाण का क्षेत्र सीमित नहीं है जितनी शक्ति उसके संचालक के धनुष की होगी उतनी ही दूर वह जायेगा उसी प्रकार अभिधा का क्षेत्र भी इस मत के अनुसार सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि इस मत के अनुसार न केवल शब्द का अर्थ अपितु वाक्यगत सम्बन्ध भी अभिधा व्यापार के द्वारा अभिहित होता है। प्रत्येक वाक्य में शब्द का वाक्यगत सम्बन्ध भी भिन्न हो जाता है।

इस मत का खण्डन करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यदि एक ही पद समस्त विशेषणों से युक्त वाक्यार्थ की अवगति करा देता है तो वाक्य में अन्य पदों का प्रयोग निरर्थक सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाए कि अन्य पदों का उच्चारण उस प्रथम पद द्वारा अभिहित अर्थ को पुनः स्पष्ट करने के लिये होता है तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक शब्द का कोई न कोई अर्थ तो होता ही है। उसके द्वारा केवल उक्त अर्थ का स्पष्टीकरण उसके वैयर्थ्य को सूचित करता है।[1] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि यदि यह माने कि वाक्य में अन्य शब्द नियम के द्योतक हैं अथवा उस उक्त वाक्यार्थ का अनुवाद मात्र करते हैं तो कुछ शब्द सार्थक कहलाएंगे शेष तो निरर्थक सिद्ध होंगे।[2]

भाट्ट मीमांसकों द्वारा यह सिद्धान्त आलोचना का विषय रहा है। वे यह कहते हैं कि यदि प्रथम पद अथवा वाक्य का कोई भी पद सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को अभिहित करता है तो अन्य शब्दों का प्रयोग व्यर्थ होगा।[3]

---

1. यद्येकेन पदेन सकलवाक्यार्थस्याशेषविशेषखचितस्यावगतिस्तदोत्तरेषां पदानां नियमायानुवादाय वोच्चारणं स्यात्। न चैतद्युक्तमिति वक्ष्यामः। एकस्मादेव पदात् समस्तविशेषखचितस्य वाक्यार्थस्य प्रतीतिरुत्तरेषामानर्थक्यं स्यादेव।
—पु० रा० वा० प०, 2—18

2 नियमद्योतनार्था वा अनुवादोऽथवा भवेत्।
कश्चिदेवार्थवांस्तत्र शब्दः शेषास्त्वनर्थकाः॥ —वा० प०. 245

3. पदान्तरस्य वैयर्थ्यम्'''अश्रुतान्वयबोधने। —तत्त्वबिन्दु

एक अन्य दोष जो इस सिद्धान्त पर लगाया जाता है वह यह है कि यह सिद्धान्त अन्योन्याश्रयण दोष से युक्त है। यदि वाक्य में प्रथम शब्द अथवा कोई एक शब्द अपना तथा साथ-साथ अन्य शब्दों के साथ अपना सम्बन्ध भी अभिहित करता हुआ मानें तो शब्द का अर्थ केवल अन्य शब्द के ज्ञान पर ही स्पष्ट हो सकेगा। इसी प्रकार अन्य शब्दों का अर्थ भी पूर्व शब्द के अर्थ पर आश्रित रहेगा। उखायां पचेत वाक्य में 'उखायाम्' शब्द अपना अर्थ तथा पचेत के साथ सम्बन्ध तभी बता सकेगा जब 'पचेत' का अर्थ ज्ञात होगा। इसी प्रकार पचेत का अर्थ भी 'उखायाम्' पर निर्भर है।

इस प्रकार पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा यत्र-तत्र वर्णित वाक्य के आठ लक्षणों में अव्याप्ति अतिव्याप्ति इत्यादि दोषों का परिहार करते हुए उन्हें व्यवस्था प्रदान करते हुए विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है।

1. श्रुतान्विताभिधाने तु व्यक्तमन्योन्यसंश्रयम।

तृतीय अध्याय

पदवाद (खण्डपक्ष) का खण्डन एवं वाक्यवाद (अखण्डपक्ष) की स्थापना

वैयाकरणों के अनुसार अवयवरहित स्फोट लक्षण शब्द ही वाक्य है प्रतिभा वाक्यार्थ है तथा उनका सम्बन्ध अभ्यास है—इसी मत को स्थापना द्वितीय काण्ड में टीकाकार भर्तृहरि ने पदवाद का खण्डन करते हुए की हैं।[1] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि द्वितीय काण्ड में पदवाद का खण्डन एवं अखण्ड वाक्यवाद की स्थापना की गई है।

अखण्डवाक्य-स्फोट स्पष्ट करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि स्फोट क्या है क्योंकि स्फोट को जाने बिना 'अखण्डवाक्यस्फोट' स्पष्ट नहीं हो सकता।

स्फोट का निरूपण वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में किया गया है। यद्यपि 'स्फोट' का विवेचन पूर्वाचार्यों ने भी किया है परन्तु उसका परिपक्व एवं वैज्ञानिक विवेचन आचार्य भर्तृहरि ने किया है। स्फोट सिद्धान्त के अनुसार गकार, औकार तथा विसर्जनीय इत्यादि ध्वनियां शब्द नहीं अपितु स्फोट ही शब्द है। 'गौः' शब्द गकारादि ध्वनियों से अतिरिक्त स्फोट रूप है इसकी अभिव्यक्ति इन ध्वनियों द्वारा होती है। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि उपादान शब्द दो प्रकार के होते हैं एक शब्दों का निमित्त, ध्वनि रूप शब्द होता है तथा दूसरा स्फोट रूप शब्द होता है जिसका अर्थ में प्रयोग होता है।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द, जिसका प्रयोग अर्थ के लिये होता है वह स्फोट रूप है तथा उस स्फोट रूप शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनियों द्वारा होती है। स्फोट रूप शब्द, अक्रम रूप में बुद्धि में विद्यमान रहता है उस अक्रम स्फोट की युगपत् अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है अतः क्रमयुक्त ध्वनियों का सहारा लिया जाता है। उनके द्वारा

---

1. तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यम्, प्रतिभैव वाक्यार्थः, अध्यासश्च सम्बन्ध इति पदवादिदूषणपरः परं टीकाकारो व्यवस्थापयतीत्यस्य काण्डस्य संक्षेपः। —वही, 2-2

2. द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥ —वा० प०, 1-54

वह अक्रम शब्द श्रोता को गृहीत हो जाता है। श्रोता उन क्रम युक्त ध्वनियों के द्वारा उस अक्रम स्फोट को ग्रहण करता है। जब वक्ता किसी शब्द का उच्चारण करना चाहता है तब सर्वप्रथम वह बुद्धि में वितर्क करके उसको अर्थ में निविष्ट करता है। उसके बाद कण्ठ, तालु इत्यादि से निवृत्त ध्वनियों के द्वारा उस स्फोट रूप शब्द का ग्रहण होता है।[1]

ध्वनि शब्द की अभिव्यंजक है। अतः द्रुत, विलम्बित, उपांशु, परमोपांशु इत्यादि भेद जो ध्वनि में होते हैं उनका आरोपण स्फोट में कर दिया जाता है।[2] स्फोट वास्तव में अक्रम है उसमें क्रम की प्रतीति क्रम से उत्पन्न होने वाली अभिव्यंजक ध्वनि के कारण होती है।[3]

जिस प्रकार ज्ञान एक है उसमें चिरज्ञान, क्षिप्रज्ञान इत्यादि भेद नहीं होता फिर भी यह चिरज्ञान है, यह क्षिप्रज्ञान है, ऐसा प्रतीत होता है। ह्रस्व एवं दीर्घ का भी यही धर्म है।[4] जिस प्रकार ज्ञान एक होने पर भी ज्ञेय भेद के कारण चिर-ज्ञान क्षिप्रज्ञान इस प्रकार से भिन्नकाल प्रतीत होता है उसी प्रकार ह्रस्वादि का भी स्वभाव है। ह्रस्वादिरूपता स्फोट में नहीं होती। अतः स्फोट में भेद नहीं है।[5]

---

1. वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥ —वही, 2-47

2. यस्तु भेदप्रतिभासः सोऽपावुपाधिकृत एवेत्यर्थः। तथोपांशु परमोपांशु द्रुतो द्रुततरश्चेत्यादिका प्रतिभासा अभिव्यञ्जकध्वनिकृताः न पुनः सत्या इति बोद्धव्यम् तस्माद्यः शब्दोऽव्यक्त उपांशु कृत्वाऽधीयते सोऽभिव्यंजकध्वनिकृतात्क्रमान्नाना-विधावस्थायुक्तः प्रतीयते। परमार्थतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मा प्रतिभासः।
—पु० रा० प, 2- 9, तथा द्रष्टव्य वाक्यपदीय, 1-75

3. नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो परश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥ —वा० प०, 1-48
तेनासावेकत्वमनतिक्रामन् संसर्गिणो नादस्य भेदमुपगृह्णाति।
—वृत्ति, वा० प०, 1-48

मण्डन मिश्र भी स्फोट सिद्धि में यही कहते हैं कि प्रयत्न भेद के द्वारा भिन्न ध्वनियां इस स्फोट की प्रकाशक होती हैं—प्रयत्नभेदतो भिन्ना ध्वनयोऽस्य प्रकाशकाः प्रत्येकमनुख्येयज्ञानतद्भावना क्रमात्। —स्फोटसिद्धि, 18

4. चिरं क्षिप्रमिति ज्ञाने कालभेदादृते यथा।
भिन्नकाले प्रकाशेते स धर्मो ह्रस्वदीर्घयोः॥ —वा० प०, 2-23

5. चिरमिति ज्ञानं क्षिप्रमिति च यथा ज्ञानत्वाविशेषादेककालमपि ज्ञेयसमाश्रयणेन भिन्नकालमिव प्रथते। चिरज्ञानं विततप्रतिभासमिवाभाति क्षिप्रज्ञानमेतद्विपरीतम्। तद्वद् ह्रस्वदीर्घयोर्धर्मः स्वभावोऽवगन्तव्यः। न तु ह्रस्वादिरूपता काचित इति नास्ति स्फोटस्य स्वतो भेद। —पु० रा० वा० प०, 2-23

इस स्फोट को ही आचार्य भर्तृहरि ने वाचक रूप में माना है।[1] विद्वानों ने वाचक रूप में अवस्थित स्फोट के निम्न आठ प्रकार माने हैं —

(1) वर्णस्फोट

(2) पदस्फोट

(3) वाक्यस्फोट

(4) अखण्डपदस्फोट

(5) अखण्डवाक्यस्फोट

(6) वर्णजातिस्फोट

(7) पदजातिस्फोट

(8) वाक्यजातिस्फोट।[2]

आचार्य भर्तृहरि का अभिमत मत अखण्डवाक्यस्फोट है तथा उनके अनुसार अखण्डवाक्य में ही वाचकत्व है।[3] इसी मत को बाद के कई विद्वान् (वैयाकरण) भी स्वीकार करते हैं।[4]

पदवाद (खण्डपक्ष) एवं वाक्यवाद (अखण्डपक्ष) में भेद

पूर्व अध्याय में वाक्य के सम्बन्ध में आचार्य भर्तृहरि द्वारा सामान्य रूप से प्रदर्शित आठ लक्षणों का पुण्यराज के अनुसार खण्डपक्ष एवं अखण्डपक्ष के अन्तर्गत विभाजन करके विवेचन किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वाक्यकाण्ड का प्रतिपाद्य पदवाद का खण्डन करते हुए अखण्डवाक्यस्फोट की स्थापना करना है। अतः यह जानना अत्यावश्यक है कि पदवाद तथा वाक्यवाद में क्या अन्तर है। पदवादी मुख्य रूप से मीमांसक कहे गये हैं तथा वाक्यवादी वैयाकरणों को कहा गया है।[5] पदवाद का

---

1. पण्डित गौरीनाथ शास्त्री भी कहते हैं कि वैयाकरणों के अनुसार एक अविभाज्य इकाई के रूप में ग्रहीत वाक्य ही स्फोट कहलाता है। 'फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग।

2. 'वर्णस्फोटः पदस्फोटः वाक्यस्फोटोऽखण्डपदवाक्यस्फोटो वर्णपदवाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटा इत्यष्टौ सिद्धान्तसिद्धा इति। —स्फोटनिर्णय, कौण्डभट्ट

3. वाक्यं निर्विभागं स्फोटलक्षणं वाचकम्। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2

4. (क) यद्यपीहाष्टौ पक्षा उक्तास्तथापि वाक्यस्फोटपक्षे तात्पर्यं ग्रन्थकृताम्। —शब्दकौस्तुभ, पृ० 9

(ख) वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः। —कौण्डभट्ट, स्फोटनिर्णय

5. पण्डित गौरीनाथ शास्त्री भी मीमांसकों को पदवादी कहते हैं। —फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग, पृ० 83

अर्थ है वह पक्ष जिसमें पदों को ही किसी न किसी रूप में वाक्य माना जाए। चाहे उनका समुदाय हो अथवा एक ही पद हो, पदों का अर्थ ही वाक्य में अन्वित होने पर वाक्यार्थ बन जाता है। अतः पदवाद के अनुसार वाक्य में अलग-अलग पदों का अर्थ विद्यमान रहता है अर्थात् वाक्य सखण्ड है। पदवादी आकांक्षा योग्यता एवं सन्निधान के कारण परस्पर समन्वित पदसंघात को ही वाक्य मानते हैं।[1] शबरस्वामी मी० सू० 1।1।7 पर भाष्य लिखते हुए स्पष्ट करते हैं कि पद अपने-अपने अर्थ का अभिधान करके निवृत्त हो जाते हैं। उसके बाद पदों से जो अर्थ अवगत होते हैं वे पदार्थ ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।[2] इसी को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कुमारिलभट्ट कहते हैं कि पदों के द्वारा प्रतीत पदार्थ ही सामान्य-विशेष-भाव आदि के द्वारा परस्पर सम्बद्ध वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। अतः शब्द के द्वारा प्रमेय होने के कारण वाक्यार्थ काशा भी दत्व सिद्ध हो जाता है। पुण्यराज पदवाद के खण्डन के प्रसंग में पदवादियों के मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' ये पद ही वाक्य है।[3] देवदत्तादि पद पहले सामान्यमात्र अर्थ देते हैं बाद में गवादि पद के श्रवण से देवदत्त आदि पदों का अर्थ विशेष अर्थ में अवस्थित हो जाता है वही वाक्यार्थ है।[4]

इसके विपरीत अखण्डपक्ष को माननेवाले अर्थात् वाक्यवादी जिनमें वैयाकरण आते हैं यह मानते हैं कि वाक्य में पदों का कोई अर्थ नहीं होता, वाक्य पदों से अतिरिक्त अखण्ड एवं अविभाज्य इकाई है जिसकी अभिव्यक्ति पदों के द्वारा होती है। पदों

---

1. यत्पुनर्मीमांसकैरुच्यते यथा पदसंघात स्वाकांक्षायोग्यतासन्निधानवशात् परस्पर-समन्वितो वाक्यम्। —पु० रा० प०, 2-15

2. पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि।
अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।
—मी० सू०, 1।1।7 पर शबर भा०

3. पदैः प्रतीताः पदार्थाः एव सामान्यविशेषभावादिना परस्परं
सम्बद्धं वाक्यार्थं गमयन्तीति सिद्धं शब्दप्रमेयतया वाक्यार्थस्य शाब्दत्वम्।
—कुमारिलभट्ट की टीका

4. इह देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेति देवदत्तादीन्येव पदानि वाक्यम्।
तत्र देवदत्तपदं तावद् यदि सामान्यमात्रे प्रथमं वर्तते तत्तस्य गवादिपदकाले वाचः क्रमवर्तित्वात्तिरोधानादसत्वमेवेति कुतः पदान्तरश्रवणकाले तदर्थप्रतीतिः। असत्वादेव च न पदान्तरसन्निधाने तस्य विशेषेऽवस्थानम्।
—पु० रा० वा० प०, 1-15

का अपना कोई अर्थ नहीं होता वे तो केवल अखण्ड वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति कराते हैं। अन्तराल में जो पदों का ज्ञान होता है वह भ्रममात्र है उसे तो वाक्य-वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति का उपाय जानना चाहिये।[1] इसी कारण अनर्थक होने पर भी वाक्य एवं वाक्यार्थ के रूप का प्रारम्भ में ही अवधारण नहीं होता।[2] जिस प्रकार पदवादी यह मानते हैं कि अनर्थक वर्णों से अभिव्यक्त हुआ विशिष्ट अर्थवाक्य पद वाचक है उसी प्रकार अखण्डवाक्यवादी यह मानते हैं कि अनर्थक पदों के द्वारा अभिव्यक्त स्फोट स्वभाव वाला, विशिष्टार्थ वाला वाक्य ही वाचक है।[3] इस प्रकार वाक्यवादियों के अनुसार पदों का पृथक् अर्थ नहीं होता। वाक्य में अन्वित होने पर अखण्ड रूप से ही वे अर्थ युक्त होते हैं।[4] केवल पद अथवा पदार्थ से व्यवहार नहीं होता इसलिये वे असत्य हैं वाक्य वाक्यार्थ ही व्यवहार्य हैं अतः वे ही सत्य हैं।[5]

पुण्यराज कहते हैं कि जिस प्रकार ज्ञान एक ही होता है उसमें जो विभाग नीलज्ञान पीतज्ञान इत्यादि के रूप में दिखाई देता है वह ज्ञेय वस्तु के आधार पर किया जाता है इसी प्रकार वाक्य एवं वाक्यार्थ में भी भेद नहीं होता।[6] भर्तृहरि द्वारा दिये गये एक अन्य दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि जिस प्रकार चित्र एक ही स्वरूप वाला होता है परन्तु उसका समाख्यान नीलादिभेद के द्वारा किया जाता है उसी प्रकार वाक्य भी एक ही है। उसमें विभाग नहीं होता परन्तु वाक्य में विद्यमान

---

1. यदेतत्पदपदार्थज्ञानं विभ्रमरूपमन्तराले वाक्यवाक्यार्थप्रतिपत्तेरुपायो बोद्धव्यः।
—पु० रा० वा० प०, 2-410
2. तस्मान्निरंशत्वेऽपि वाक्यवाक्यार्थयोः प्रक्रम एव प्रथम समय एव रूपं तयोनावधार्यत इति। —पु० रा० वा० प०, 2-410
3. यथा त्वन्मते वर्णैरनर्थकैरभिव्यक्तो विशिष्टार्थः पदरूपः स्फोटात्मा वाचकोभिऽधीयते, एवं पदैरनर्थकैरभिव्यक्त एव विशिष्टार्थः स्फोटात्मा वाचकोऽभिधीयत इति। पु० रा० वा० प०, 2-409
4. पदानां केवलानां वाक्यव्यतिरेकेण स्थितानामर्थवत्ताविरह परिदृश्यत इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-416
5. सर्वथा केवलः पदार्थः पदं वाऽव्यवहार्यमेव, अतश्चैतदसत्यमित्युच्यते।
—वही, 2-422
वाक्यवाक्यार्थो तु व्यवहार्यत्वात् सत्यभूताविन्यर्थः। —वही, 2-423
6. चित्रज्ञानं सर्वाकारमेकमेव प्रविभागस्त्वस्य दृश्यभेदसमाश्रयेण क्रियते। नीलपीताद्यनेकाकारमेव विज्ञानमुपजातमिति। वस्तुस्थित्या तत्र ज्ञान अकारभेदो नास्ति। तथा वाक्यवाक्यार्थयोः स्वरूपं बोद्धव्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-7

पदों द्वारा उसका अन्वाख्यान किया जाता है।[1] अतः अखण्डवाक्यस्फोट ही अर्थ का वाचक होता है। वाक्य वक्ता की बुद्धि में अखण्ड स्फोट के रूप में विद्यमान रहता है। वक्ता जब उसे श्रोता तक पहुंचाना चाहता है तो युगपत् उसका उच्चारण सम्भव न होने के कारण पदरूपी ध्वनियों के माध्यम से उस अखण्ड वाक्यस्फोट की अभिव्यक्ति श्रोता को हो जाती है। उदाहरण के लिये जब कोई व्यक्ति गो को जाते हुये देखता है तब उसके मस्तिष्क में 'गो कर्तृक गमन' यह अखण्ड अर्थ विद्यमान रहता है। जब वह इसका बोध श्रोता को कराना चाहता है तो उसका तात्पर्य 'गो कर्तृक गमन क्रिया' इस अखण्ड अर्थ का बोध कराना ही होता है परन्तु फिर भी वह अलग-अलग पदों का प्रयोग करता है जिससे श्रोता की बुद्धि में अखण्डवाक्य स्फोट अभिव्यक्त होता है और उसे वाक्यार्थ ज्ञान होता है। अर्थात् अखण्डवाक्य ही ध्वनियों द्वारा श्रोता की बुद्धि में अभिव्यक्त हो जाता है उसे ही वाक्यार्थ कहते हैं यही कारण है कि अखण्ड वाक्यपक्ष में वाक्य एवं वाक्यार्थ में परस्पर अध्यास (तादात्म्य) सम्बन्ध होता है। पुण्यराज एवं भर्तृहरि दोनों ने ही पद-पदार्थ ज्ञान को अविद्या तथा वाक्य वाक्यार्थ ज्ञान को विद्या कहा है। पदपदार्थ रूप अविद्या के द्वारा विद्या स्वरूप वाक्य-वाक्यार्थ का ज्ञान होता है।[2] अतः पृथक्-पृथक् पदों का वाक्य में कोई अर्थ नहीं होता। वाक्य निरवयव होता है। जिस प्रकार प्रकृति प्रत्यय का कल्पित विभाग पदों में होता है उसी प्रकार वाक्य में पदों का अपोद्धार कल्पित होता है।[3] प्रकृति प्रत्यय का विभाग

1. चित्रं हि रूपमवयविगतमनर्शमेकमेव तस्यैवावयवगैतर्यथा नीलादिभिभेदेन निदर्शनं प्रदर्शनं येषां तैः पृथग्रूपैरेव समाख्यानं क्रियते। —वही, 2-8
एकस्य निर्विभागस्य वाक्यस्य सर्वतः परिपूर्णस्य वाक्यांतरगतैः पदान्तरैरन्वाख्यानं तथव क्रियते इति। —वही, 2-9
2. अविद्योपमर्देन ह्युत्तरकालमागमविकल्परहिता शास्त्रप्रक्रियाप्रपञ्चशून्या विद्योपावर्तते प्रकटीभवति। एतदुक्तं भवत्यविद्येव विद्योपाय इति।
पु० रा० वा० प०, 2-233
उपायाः शिक्षमाणानां बालानमपलापनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ —वा० प०, 2-238
तस्मादुपायाः शास्त्राणि जिज्ञासूनामबुधानामपलापनाः प्रतारणा एव बोद्धव्याः। यस्मात्तत्रासत्यरूपे शास्त्रप्रक्रियामात्रेऽर्थे स्थित्वा अविद्यामुत्सृज्य सत्यं विद्यारूपं ब्रह्म समीहते प्राप्नोतीति यावत्। —पु० रा० वा० प०, 2-238
3. यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते॥ —वा० प०, 2-10

पदों में असत्य होता है वह केवल बालव्युत्पादन के लिये होता है। वाक्य में भी इसी प्रकार वाक्यार्थ प्रतिपादन के लिये ही पदों का अपोद्धार वर्णित होता है।[1] जिस प्रकार ए, ऐ, ओ, औ इन सन्ध्यक्षरों में जो भाग दिखाई देते हैं वे वर्णान्तरों के समान रूप वाले दिखाई देते हैं। वास्तव में तो उन सन्ध्यक्षरों में विभाग नहीं होता उसी प्रकार वाक्य में भी पदरूप भाग अन्य पदों के समान रूप वाले दिखाई देते हैं।[2] अतः 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' वाक्य में देवदत्त इत्यादि पदों का पृथक् अर्थ नहीं है ये पद अनर्थक है। यह निश्चित है कि वाक्य अखण्ड निराकांक्ष पदों से व्यतिरिक्त है तथा वाक्यार्थ भी पदार्थ से व्यतिरिक्त अखण्ड एवं निराकांक्ष है।[3] आचार्य भर्तृहरि अपनी वृत्ति में लिखते हैं कि ब्राह्मणकम्बल शब्द में यद्यपि विच्छेद द्वारा ब्राह्मण अर्थ की प्रतीति होती है परन्तु अर्थ की समाप्ति ब्राह्मण में न होने के कारण प्रतिपत्ता के लिये प्रतीयमान ब्राह्मण अर्थ अनर्थक ही है। उसी प्रकार देवदत्त-गामभ्याज इत्यादि वाक्यों में विच्छेद द्वारा देवदत्तादि पद प्राप्त होने पर भी अनर्थक है तथा उनका विभाग कल्पित होता है[4]

पदवादियों द्वारा अखण्डवाक्यपक्ष में लगाये गये दोषों का विवेचन

आचार्य भर्तृहरि ने पूर्वपक्ष के रूप में पदवादियों द्वारा वाक्य में पदों की सत्ता न मानने पर दोषों की उद्भावना की है जिनका पुण्यराज अपनी टीका में विस्तार पूर्वक विवेचन करते हैं। पदवादी यह नहीं मानते कि वाक्य में पदों की सत्ता नहीं होती। वे कहते हैं कि वाक्य में पदों के अर्थ को न मानना प्रत्यक्ष विरोधी बात है

---

1. पदे हि यथा प्रकृतिप्रत्ययविभागोऽसत्य एव बालव्युत्पादनाय क्रियते तथा वाक्ये वाक्यार्थप्रतिपादनायापोद्धारः पदानमुपवर्ण्यत इति बोद्धव्यम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-10

2. वर्णान्तरसरूपं च वर्णभागेषु दृश्यते।
पदान्तरसरूपाश्च पदभागा अवस्थिताः॥
—वा० प०, 2-11

3. देवदत्त गामभ्याजेत्यादौ वाक्ये देवदत्तादीनां पृथगर्थो नास्तीत्यनर्थकान्येव पदानि। अतश्च स्थितमेतद् यदखण्डं निराकांक्षमेकं पदव्यतिरिक्तं वाक्यं पदार्थव्यतिरिक्तो वाक्यार्थश्च तथैवेति।
— पु० रा० वा० प० 2-114

4. यथा हि विच्छेदेनोच्चार्यमाणे ब्राह्मणकम्बल इति ब्राह्मणशब्द उपलभ्यमानस्वरूपोऽपि विच्छेदग्राहिभिः समाप्तिमनपेक्षमाणं प्रतिपत्तृभिः प्रतीयमानोऽप्यनर्थक एवेति प्रसिद्धः। एवं सत्यपि रूपविच्छेदग्रहणे सम्प्रत्यये चानर्थका एव वाक्यरूपापन्ना देवदत्तादिसरूपा अत्यन्तमसन्तः परिकल्पितात्मानो विभागाभिमताः।
—भर्तृहरि वृत्ति वा० प०, 2-14

क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि पद के उच्चारण करने पर कोई न कोई अर्थ प्रतीत होता है।[1] अतः वर्ण एवं, पद के अतिरिक्त वाक्य है ही नहीं।[2]

पदवादियों का कहना है कि यदि वाक्यार्थज्ञान पदार्थ निबन्धन न माना जाए तो प्रतिनिधि की कल्पना, पिकादि नियतपदों के विषय में प्रश्न, श्रुति एवं वाक्य में विरोध होने पर श्रुति की बलीयता, अवान्तर वाक्यों का अर्थ तथा मीमांसा के लक्षण, सब व्यर्थ हो जाएंगे।[3] इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

(1) प्रतिनिधि की कल्पना

वाक्यपाद के सम्बन्ध में पदवादियों द्वारा लगाये गये सर्वप्रथम दोष को स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्ष के रूप में आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि अखण्डवाक्य पक्ष मानने पर प्रतिनिधि की कल्पना न हो सकेगी। वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान सम्यग् रूप में हो जाए इसके लिये मीमांसा दर्शन में प्रतिनिधि की कल्पना की गई है। 'व्रीहिभिर्यजेत इस श्रुति में यजेत क्रिया के द्वारा द्रव्यमात्र का आक्षेप होता[4] है क्योंकि क्रिया निस्साधन नहीं हो सकती। अतः यजेत क्रिया के द्वारा व्रीहि का भी आक्षेप हो जाता हैं पुनः व्रीहि का श्रवण यह नियम नहीं करता कि केवल व्रीहि द्वारा ही यजन विधि होनी चाहिये यवादि द्वारा नहीं क्योंकि यदि ऐसा मानें तो यवादि का बाध हो जाएगा। तथा व्रीहि के अभाव में प्रतिनिधि की कल्पना अर्थात् यवादि द्वारा यजन क्रिया नहीं हो सकेगी।[5] अतः क्रिया के द्वारा द्रव्यमात्र का आक्षेप होता है जिससे व्रीहि लक्षण

---

1. न चानर्थकमेव पदमिति वक्तुं युक्तं प्रत्यक्षविरोधात्।
न हि किञ्चित् पदं केनचिदर्थेनानिरूपितमिति युज्यते वक्तुमनुभवविरोधात्।
—पु० रा० वा० प०, 2-63

2. वर्णपदव्यतिरेकेण वाक्यं नाम नास्तीति तदुक्तम्—
यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ (श्लोकवार्त्तिक स्फोटवाद 69) पु०रा० वा०प०, 2-63

3. यदि च पदार्थनिबन्धो वाक्यार्थावभासो नाङ्गीक्रियते, तदा प्रतिनिधिकल्पनं पिकादिनियतपदप्रश्नःश्रुतिवाक्ययोर्विरोधे श्रुतिर्बलीयसीत्यवान्तरवाक्यानामर्थत्वं च न स्याल्लक्षणानुपपत्तिश्चेति पञ्च चोद्यान्यापतन्ति। —पु० रा० वा० प, 2-64

4. यजतिक्रिया साधननिर्वर्त्यत्यसौ कारकमात्रस्याक्षेपिका। —वही, 2-64

5. यजेतेत्येतया क्रियया निस्साधना क्रिया न भवतीति सामर्थ्यादाक्षिप्तं द्रव्यमात्रं तद् व्रीहिभिर्यजेतेति पुनर्व्रीहिश्रुत्या बाधित सन्निवर्तेत तदभावे प्रतिनिधिर्न स्यात्।
—वही, 2-65

द्रव्य न मिलने पर अन्य नीवारादि तत्सदृश द्रव्य द्वारा यज्ञ की निर्वृत्ति हो जाती है।[1] इससे वेद के नित्य अथवा काम्य कर्म का लोप नहीं होगा।[2] यदि अखण्डवाक्य पक्ष को माने तो व्रीहिभिर्यजेत वाक्य से अवयवरहित 'व्रीहि करणक यजन क्रिया' अर्थ अभिहित होगा। जिससे व्रीहिलक्षण द्रव्य के अभाव में जब प्रतिनिधि के समाश्रयण से यवादि द्वारा यज्ञ का निर्वर्तन करना होगा तब अखण्डवाक्य पक्ष में व्रीहि करणक यागलक्षण सम्पूर्ण वाक्यार्थ का त्याग हो जाएगा क्योंकि उनके अनुसार अलग-अलग पदों का अर्थ तो होता ही नहीं 'व्रीहिभिर्यजेत' अखण्ड रूप में वाक्यार्थ का बोध कराता है। यदि कोई प्रतिनिधि के समाश्रयण से याग क्रिया सम्पन्न करना चाहे तो उनके अनुसार क्रिया ही भिन्न हो जाएगी। व्रीहिकरणक याग क्रिया नीवारकरणक याग क्रिया से भिन्न है। अतः अखण्डवाक्यपक्ष में तो क्रिया का ही प्रतिनिधि हो जाएगा जिससे वेदोक्त न्याय 'द्रव्य का ही प्रतिनिधि होता है क्रिया का नहीं,' खण्डित हो जाएगा। जिससे वेदोक्त कार्य नहीं हो सकेगा।[3]

पूर्वपक्ष का आरोप है कि यदि यह माने कि अखण्डवाक्यवादी प्रतिनिधि कल्पना को मानते ही नहीं तो उस अवस्था में नित्य कर्म का ही लोप हो जायेगा। अतः अखण्डवाक्य पक्ष मानने पर प्रतिनिधि न हो सकेगा।[4]

(1) पिकादि नियत पदों के सम्बन्ध में प्रश्न का आनर्थक्य

अखण्ड वाक्य पक्ष में पदवादियों द्वारा लगाये गये दूसरे दोष को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यदि पदप्रविभागरहित अखण्ड वाक्य को ही वाचक माना

---

1. क्रियया द्रव्यमात्राक्षेपे व्रीहिलक्षणस्य द्रव्यस्याभावे तत्सदृशं द्रव्यान्तरमेव नीवारादिकं समानीय तन्निर्वर्त्तनं क्रियते। —वही, 2-65
2. असन्निधौ प्रतिनिधिर्मा भून्नित्यस्य कर्मणः।
काम्यस्य वा प्रवृत्तस्य लोप इत्युपदिश्यते॥ —वा० प०, 2-70
3. येनाखण्डवाक्यवादिना व्रीहिकरणिका यजतिक्रिया निरस्तावयवार्था व्रीहिभिर्यजेतेत्यत्र वाक्यार्थ इत्युच्यते। तेन द्रव्यस्य व्रीहिलक्षणस्याभावे यदा प्रतिनिधिसमाश्रयणेन तन्निर्वर्तनं कार्यं तदा व्रीहिभिर्यजेतेति व्रीहिकरणकयागलक्षणस्य वाक्यार्थस्य त्यागात् प्रतिनिधिना तन्निर्वर्त्तने नीवारकरणिका यजतिक्रियाऽन्यैवानुष्ठिता भवतीति न क्रिया प्रतिनिधीयते, द्रव्यं तु प्रतिनिधीयत इति न्यायस्योपेक्षणात् चोदितस्याकरणमेव स्यात्। —पु० रा० वा० प०, 2-71
4. अथ त्वया प्रतिनिधिर्नाश्रीयत इत्युच्यते, तन्न। मा भून्नित्यस्येत्यादिना तदाश्रयणस्य सप्रयोजनत्वादवश्याश्रयणीयः प्रतिनिधिरिति पदपदार्थानामभावे वाक्यस्याखण्डरूपस्याभ्युपगमे प्रतिनिध्यभाव इति चोद्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-71

जाए तो पिकादि नियत पदों के विषय में जो प्रश्न किया जाता है उसकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। 'वनात् पिक : आनीयताम्' वाक्य का श्रवण करने पर किसी नागरिक को वनात तथा आनीयताम् का अर्थ ज्ञात होने के कारण उसकी अवगति हो जाने पर 'पिक' का ज्ञान न होने पर उसके द्वारा 'पिक' क्या होता है ?' यह प्रश्न करना उपपन्न न हो सकेगा। क्योंकि अखण्डवाक्य पक्ष में 'पिक' पद का पृथक् अर्थ ही नहीं होता। परन्तु लोक में इस प्रकार के सन्देह मिलते हैं अतः पदवादी कहते हैं कि पृथक्-पृथक् पदों के द्वारा ज्ञात अर्थ ही वाक्यार्थ है।[1]

(3) श्रुति एवं वाक्य में विरोध होने पर श्रुति की बलीयता की अनुपपत्ति

पदवादियों का अगला दोष मीमांसादर्शन के सूत्र श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।[2] सूत्र पर आधारित है। महर्षि जैमिनी ने श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या ये छह न्याय दिये हैं तथा कहा है कि इनमें परस्पर विरोध हो तो परवर्ती न्याय दुर्बल होता है। क्योंकि वह देर से अर्थ प्रदान करता है।[3] अर्थात् यदि किसी वाक्य में श्रुति एव लिंग दोनों के द्वारा अर्थ की प्राप्ति हो और सन्देह हो कि किसे बलवान मानें तब श्रुति न्याय को ही बलवान मानना चाहिये क्योंकि वह पूर्ववर्ती है। आचार्य भर्तृहरि श्रुति एवं वाक्य में परस्पर विरोध का उदाहरण देते हैं कि 'श्वेतं छागमालभेत' वाक्य में आलम्भन क्रिया से जो द्रव्य का सम्बन्ध है वह द्वितीया के श्रवण से साक्षात् प्रतिपादित किया गया है जबकि गुण का सम्बन्ध वाक्यीय है। द्रव्य निर्गुण नहीं रह सकता तथा गुण अधिकरण के बिना सम्भव नहीं है। इस कारण आश्रय एवं आश्रयी का सम्बन्ध वाक्यीय होता

---

1. वनात् पिक आनीयतामित्युक्ते वनादानीयतामिति पदद्वयं विज्ञातार्थं तदर्थे चावगते कः पिकः इति कस्यचिन्नागरिकस्य प्रश्नो नोपपद्यते किल। वनादित्याद्यखण्डमेव निरस्तपदप्रविभागं वाक्यमनंशमेव वाचकं वैयाकरणस्य मतम्। अतः किं पिकपदार्थः पृथगविज्ञातः कश्चिदस्ति। तदविज्ञातपिकपदार्थानुयोगो नोपपद्यते अस्ति च तदर्थे कस्यचित्सन्देह इति पृथगेवार्थवन्ति पदानि विज्ञातानि वाक्यमित्येव वक्तुं युक्त-मिति। —वही, 2-72

2. मी० सू०, 3।3।14

3. इह श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यालक्षणाः सन्दिग्धवाक्यार्थविचारे वाक्य-विदां प्रसिद्धाः। तेषां च परस्परविरोधे पूर्वः पूर्वो बलीयानिति व्यवस्थाप्यते। —पु० रा० वा० प०, 2-73

है।[1] पुण्यराज वाक्यपदीय तृतीय काण्ड का उद्धरण भी देते हैं। जिसमें यह कहा गया है कि आश्रय एवं आश्रयी का नियम वाक्य द्वारा स्थापित होता है।[2] जब द्रव्य एवं गुण का आलम्भन क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है उस अवस्था में श्वेत के अभाव में अन्य गुण युक्त छाग का आलम्भन किया जा सकता है तथा छाग के अभाव में श्वेत गुण युक्त मेष का भी आलम्भन प्रनिनिधि के आश्रयण द्वारा किया जा सकता है जिससे श्रुति का बाध नहीं होता।[3] इसके विपरीत यदि वाक्यीय सम्बन्ध बलबान मानें तो एक दूसरे के अभाव में आलम्भन क्रिया नहीं हो सकेगी।[4] यदि वाक्य अखण्ड मानें तो 'श्वेत गुणयुक्त छाग का आलम्भन' रूप अखण्ड अर्थ ही इस श्रुति वाक्य से प्राप्त होगा उस अवस्था में यह श्रौत है यह वाक्यीय है ऐसा विभाग कहाँ हो सकेगा? अखण्डवाक्यपक्ष में सभी श्रौत होने के कारण किससे किसका बोध होगा। अतः श्वेत गुण के अभाव में छाग का आलम्भन तथा छाग के अभाव में श्वेतगुणयुक्त मेषादि का आलम्मन नहीं हो सकेगा जिससे विधि का अर्थ संकुचित हो जायेगा। इसलिये पदवादी कहते हैं कि वाक्य को सखण्ड मानना चाहिये।[5]

---

1. श्वेतं छागमालभेतेत्यत्रालम्भनक्रियया यो द्रव्यस्य सम्बन्धः, स द्वितीयाश्रुत्यासाक्षात् प्रतिपादितः। गुणस्य तु तत्सामानाधिकरणाद्वाक्यीयः। निर्गुणस्य हि द्रव्यस्याऽभावाद् गुणस्य च निरधिकरणस्यासम्भवाद्वाक्यीयः आश्रयाश्रयिणोः सम्बन्धः।
—वही, 2-73

2. तदुच्यते 'आश्रयाश्रयिणोर्वाक्यान्नियमस्त्ववतिष्ठते। (वाक्यपदीय 3।75 इति)
पु० रा० वा० प०, 2-73

3. ततश्च श्वेताभावेऽन्यगुणस्य छागस्यालम्भनमुष्ठीयते। छागाभावे च श्वेतगुणयुक्तस्य मेषस्याप्यालम्भनमिति प्रतिनिधिसमाश्रयणेन न श्रुतिबाधः। वक्ष्यति च—
तत्र द्रव्यगुणाभावे प्रत्येकं स्याद्विकल्पनम्।
श्रुतिप्राप्तो हि सम्बन्धो बलवान् वाक्यलक्षणात्॥—(वाक्यप०, 3।1।76)
पु० रा० वा० प० 2-73

4. यदि च वाक्यीयः सम्बन्धो बलवान् स्यात्तदाऽन्यतराभावे नालम्भनमनुष्ठीयेतेति।
पु० रा० वा० प०, 2-73

5. यदि पुनरभिन्नमखण्डमेव निरस्तपदविभागं वाक्यमभिन्नार्थं श्वेतगुणविशिष्टच्छागालम्भनरूप एव नाना अर्थो यस्य तत्तथाभूतमभ्युपगम्यते, तदा कुत्रायं प्रविभागोऽयं श्रौतोऽयं वाक्यीय इति। ततश्च सर्वस्य श्रौतत्वात् केन कस्य बाध इति न श्वेतगुणाभावे छागालम्भना (नं) छागाभावे च श्वेतगुणयुक्तस्यान्यस्य स्यादिति श्वेतं छागमालभेतेत्यत्रान्यतराभाव आलम्भनानुपत्तेर्विध्यर्थस्य संकोच इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-75

(4) अवान्तरवाक्य की अनुपपत्ति

पदवादियों द्वारा लगाये गये इस दोष का तात्पर्य है कि यदि अखण्डवाक्य पक्ष मानें तो महावाक्य की प्रतीति के लिये जो अवान्तर वाक्यों का समुदाय प्रयुक्त होता है उसमें भी अवयवों का अर्थात् अवान्तर वाक्यों का कोई अर्थ नहीं होगा। जिससे सारा महावाक्य युगपत् ज्ञात न हो सकने के कारण समस्त व्यवहार का उच्छेद हो जाएगा। अभिजानासि देवदत्त, कश्मीरेषु वत्स्यामस्तत्राध्येष्यामः' इत्यादि महावाक्य में जो अवान्तर वाक्य हैं यदि उनका अर्थ न मानकर यह मानें कि सारा का सारा महावाक्य वाचक है उस अवस्था में व्यवहार नहीं हो सकेगा क्योंकि सभी अवान्तरवाक्यों की प्रतिपत्ति एक साथ सम्भव नहीं है अतः महावाक्य की प्रतिपत्ति के लिये वाक्य सखण्ड मानना चाहिये।[1]

(5) मीमांसादर्शन के लक्षणों की अनुपपत्ति

आचार्य भर्तृहरि ने पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसादर्शन में वर्णित लक्षणों का निर्देश किया है[2] तथा कहा है कि यदि अखण्डवाक्यपक्ष माने तथा वाक्य में पदों के अर्थ को न मानें तो वाक्य के ये सभी धर्म जो पदार्थ पर आधारित है कार्यान्वित न हो सकेंगे। अतः पदों एवं पदार्थों को ही वाक्य एवं वाक्यार्थ मानना चाहिये।[3] पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा नामतः निर्दिष्ट लक्षणों की न केवल विस्तृत व्याख्या ही की है अपितु उन्होंने एक-एक लक्षण को लौकिक वैदिक एवं व्याकरणशास्त्र के वाक्यों में घटित करके भी स्पष्ट किया है कि किस प्रकार से ये लक्षण पदार्थ में घटित होकर वाक्यार्थ ज्ञान कराते हैं। 'पुण्यराज की विद्वत्ता' अध्याय में[4] सभी लक्षणों का विस्तृत विवेचन किया जाएगा अतः पुनरुक्ति दोष न हो इसलिये यहां उन लक्षणों की व्याख्या नहीं की जाएगी। इन लक्षणों के सम्बन्ध में पुण्यराज कहते हैं कि पदवादियों का यह कहना है कि यदि वाक्य को अनंश माने तो पद-समुदाय रूप वाक्य जिनमें पदार्थ सत्य

---

1. एकस्य मुख्यार्थस्य प्रसिद्धये प्रतीतये योऽयमवान्तरवाक्यानां समुदायः साकांक्षावयवः, साकांक्षा अवयवा यस्मिन् समुदाये स तथा भूतोऽभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्याम इत्याद्यात्मकोऽत्रावयवार्थोऽवान्तरवाक्यात्मको न विद्यते कश्चित्। ततश्च सकलशास्त्रस्य ग्रहणं प्रतिपादनं वा न सम्भवतीति सकलव्यवहारोच्छेदः।

—पु० रा० वा० प, 2-76

2. वा० प०, 2-77 से 86
3. इति वाक्येषु ये धर्माः पदार्थोपनिबन्धनाः।
सर्वे ते न प्रकल्पेरन् पदं चेत् स्यादवाचकम्॥ — वही, 2-87
4. अध्याय 8, पृ०

है उनको कारण मानकर लागू होने वाले, धर्म जिनसे वाक्यार्थ ज्ञान होता है वे प्रतिष्ठा को प्राप्त न कर सकेंगे।[1]

अखण्ड वाक्यपक्ष में इन दोषों का समाधान

इन सभी शंकाओं का समाधान अखण्ड वाक्य पक्ष में करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि वास्तव में वाक्यार्थ अखण्ड है उसकी शक्ति के कारण ही वाक्य में पद पदार्थ भेद का अपोद्धार किया जाता है जिससे पदवादियों द्वारा उठाई गई सभी आशंकाएं समाप्त हो जाती है। अर्थात् अपोद्धार के द्वारा वाक्य में पद-पदार्थ की कल्पना करने से प्रतिनिधि इत्यादि कार्य हो जाते हैं।[2] अखण्डवाक्य पक्ष में वाक्यार्थ पानकरस के समान एक है तथा विभाग रहित है केवल उसकी शक्ति भेद के कारण अपोद्वार की कल्पना करके उसमें भेद मान लिया जाता है। अतः अपोद्धार के द्वारा उस अखण्ड-वाक्यार्थ में भी पदार्थों की कल्पना करके उसमें पदार्थ की सत्ता मानकर वे सभी कार्य जो पदवादियों ने अखण्डवाक्यपक्ष में असम्भव माने हैं सिद्ध हो जाते हैं।[3] इस प्रकार वाक्य अखण्ड होने पर भी उसमें अनेक पदों की कल्पना कर ली जाती है तथा उन कल्पित पदों के अर्थों को आधार मानकर सभी कार्य कर लिये जाते हैं।

पुण्यराज शाक्यदर्शन का दृष्टान्त देकर भी इसी बात को स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार शाक्यदर्शन में व्यक्तिरूप द्रव्य निर्विभाग है, एक ही है तथा समस्त त्रैलोक्य विलक्षण है। परन्तु फिर भी तत्तदितरपदार्थ व्यावृत्तिरूप अपोह का आश्रय लेकर उसमें जात्यादि का व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार वाक्य भी अखण्ड है परन्तु शक्ति-भेद के कारण वाक्यार्थ का पदार्थ के रूप में विभाग करके सभी न्यायों की सिद्धि हो जाती है।[4] जिस प्रकार स्त्रक् एवं चन्दन दोनों में एक ही गन्ध होती है परन्तु अपोद्धार

---

1. अनंशे वाक्येऽभ्युपगम्यमाने वाक्येषु पदसमुदायरूपेषु सत्यपदार्थोपनिबन्धनेषु ये धर्मा वाक्यार्थानुग्राहिणः पदार्थविशेषसम्प्रत्ययप्रतिबद्धास्ते सर्वेऽत्राविद्यमानोद्देशप्रविभागे न प्रतिष्ठां लभेरन्, यदि सत्यं पदं वाचक न स्यादिति पदवादी प्रत्यवतिष्ठते।
—पु० रा० वा० प०, 2-87

2. अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते।
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते ॥ —वा० प० 2-88

3. तथा चास्मत्पक्षेऽविभक्ते निर्विभागे वाक्यार्थे एकस्मिन्नपि तस्मिन् पानकरसा-दिवत्समाश्रीयमाणे शक्तिभेदसमाश्रयणेन चापोद्धृते कृतापोद्धारे सत्यवान्तरवाक्या-र्थोपजननात् सर्वमेतत्सिध्यतीति तात्पर्यम्।

4. यथा शाक्यदर्शने निर्विभागमेकमेव सकलत्रैलोक्यविलक्षणं सत्व स्वलक्षणमभ्युप-गम्यते, तत्तदितरपदार्थव्यावृत्तिसमाश्रयणेन च जात्यादिव्यवहारः कश्चिन्निवह्यिते, तथैवाऽखण्डवाक्यवादिना शक्तिभेदाद्वाक्यार्थविभागे कृते सर्वं युज्यते इति न कश्चिद्दोषः। —वही, 2-88

के द्वारा उसमें भेद कल्पित किया जाता है कि यह पुष्प की गन्ध है यह चन्दन की गन्ध है, उसी प्रकार देवदत्त गामम्याज इत्यादि वाक्यों में भी अर्थ के अपोद्धार का समाश्रयण करके उसमें पदार्थभेद कर लिया जाता है कि यह देवदत्त पद का अर्थ है, यह गो पद का अर्थ है इत्यादि ।[1]

पदवादियों की इस शंका का कि अखण्डवाक्य पक्ष में पिकादि नियत पदों के सम्बन्ध में सन्देह उपपन्न नहीं होगा, निवारण स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि जिस प्रकार 'गवय' पिण्ड एक ही है फिर भी उसमें जात्यन्तर (गो) को मूर्ख व्यक्ति देखता है[2] उसी प्रकार वनात् पिक आनीयताम्' इस अखण्डवाक्य में मूर्ख व्यक्ति ही 'वनात् ऋक्ष आनीयताम्' वाक्य के 'वनात् आनीयताम्' का सादृश्य देखता है। वास्तव में दोनों वाक्य अत्यन्त विलक्षण है दोनों 'वनात् आनीयताम्' में सादृश्य नहीं है पहले वाक्य में वनात् आनीयताम् का सम्बन्ध पिकः से है जबकि दूसरे वाक्य में ऋक्षः मे है। अतः पिकः एवं ऋक्षः के योग के कारण दोनों वाक्य सर्वथा भिन्न है उनमें सादृश्य की कल्पना मूढ़ता वश कर ली जाती है और यह कह दिया जाता है कि केवल एक पद का अर्थ ज्ञात नहीं हुआ। वास्तव में एक पदार्थ में सन्देह होने पर पूरा वाक्य ही अज्ञात होता है।[3] जिस प्रकार नीलज्ञान, पीतज्ञान दोनो में प्रकाशस्वभाव होने के कारण सादृश्य तथा नील पीत भेद के कारण भेद माना जाता है उसी प्रकार दोनों वाक्यों के भागों में भी सादृश्य एवं भेद कलिपत किया जाता है।[4] पुण्यराज यह भी कहते हैं कि

---

1. स्त्रक्चन्दनादावेक उपसन्निविष्ट एव गन्धस्तस्य त्वपोद्धारसमाश्रयणेन भेदः कल्प्यतेऽयं पुष्पगन्धोऽयं चन्दनगन्ध इत्यादि तथा वाक्य एवार्थापोद्धारसमाश्रयणेन पदार्थभेद उपपद्यते—अयं देवदत्तपदार्थः, अयं गो पदार्थ इत्यादि ।

—पु० रा० वा० प०, 2-89

2. तत्र च गवयादौ भागमप्रसिद्धमदृष्टमनिश्चितमनुपश्यति मूढ। परमार्थतस्तु संवित्तस्य सर्वत्र निर्विभागे तस्मिन कुतश्चित्कारणान्नोत्पन्ना ।

—पु० रा० वा० प०, 2-91

3. वनात् पिक आनीयतामित्येतद्वनात् ऋक्ष आनीयतामित्येतस्माद्वाक्यान्तरादत्यन्त-विलक्षणमेव। वनादानीयतामिति चात्रासन्नेवार्थो वनात ऋक्ष आनीयतामित्यस्य क्रमवशात सदृश इति मन्यते। परमार्थतस्तु पिकादियोगात् सकलमेवात्यन्त-विलक्षणम्। एकपदार्थसन्देहे सकलमेवाज्ञातं वाक्यमित्युच्यते।

— पु० रा० वा० प०, 2-92

4. यथैकमेव नीलपीतादिज्ञानप्रकाशस्वभावाद् निरंशमेवोपजातं तस्य ज्ञानत्वेन सादृश्यं मन्यते। नीलपीतादिना च भेदः। वस्तुतः पुनर्भिन्नमेव नीलज्ञानं पीतज्ञानादिति न तत्रानुगमः कश्चित्।

— वही, 2-93

जिस प्रकार दो चित्र हैं। एक हरे एवं नीले रंग से बनाया गया है तथा दूसरा नीले तथा पीले रंग से बनाया गया है। उन दोनों चित्रों में नीले रंग के कारण सादृश्य तथा पीले एवं हरे रंग के कारण भेद होता है जबकि चित्रों में विभाग नहीं होता उनमें विभाग की कल्पना करके ही सादृश्य एवं भेद कल्पित किये जाते हैं।[1] उसी प्रकार वाक्यों में भी विभाग नहीं है परन्तु मूर्ख व्यक्ति ही उनमें विभाग कल्पित करके दूसरे वाक्यों के भागों के साथ सादृश्य मानकर एक भाग के विषय में सन्देह करते हैं।[2]

पदवादियों द्वारा एक दोष यह लगाया गया था कि अखण्ड वाक्यपक्ष में अवान्तर वाक्यों की अर्थवत्ता नहीं होगी। इस दोष का आचार्य भर्तृहरि द्वारा किया गया निराकरण स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि अखण्ड वाक्य पक्ष में महावाक्य के अन्तर्गत विद्यमान अवान्तर वाक्य भी पद सदृश ही हैं उनका भी कोई अर्थ नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण महावाक्य द्वारा अखण्ड वाक्यार्थ की अवगति होती है फिर भी अपोद्धार के द्वारा अवान्तर वाक्यों की सत्ता मानकर उनका महावाक्योपयोगी अर्थ व्यवस्थित कर लिया जाता है। ऐसा महावाक्य का अर्थ जानने के लिये किया जाता है। अतः अखण्ड वाक्य पक्ष में अपोद्धार का आश्रय लेकर अवान्तर वाक्यों की कल्पना करके असत्य होने पर भी उनका पृथक् अर्थ मान लिया जाता है। अतः अवान्तर वाक्यों की अनुपपत्ति नहीं होती।[3] अवान्तर वाक्यों के अर्थ साकांक्ष होने के कारण पदार्थ के समान ही होते हैं।[4]

अखण्डवाक्यपक्ष में सात अन्य शंकाओं की सम्भावना एवं उनका समाधान

आचार्य भर्तृहरि ने अखण्ड वाक्यपक्ष में सम्भावित सात अन्य शंकाओं का समाधान अपनी कारिकाओं में किया है। उन्होंने कारिकाओं में यह स्पष्ट नहीं किया

---

1. अथवा चित्रज्ञानयोरेव भागे सादृश्यं भागे भेदं प्रतिपद्यते। किञ्चिद्धि चित्रज्ञानं नीलहरितोल्लेखि। किञ्चिद्धि नीलपीतोल्लेखि इति। नीलादिना तत्र सादृश्यं हरितादिना भेदं प्रतिपद्यत इति। —वही, 2-93
2. तथैव भागे सादृश्यं भागेभेदोऽवसीयते।
   भागाभावेऽपि वाक्यानामत्यन्तं भिन्नधर्मणाम्॥ —वा० प०. 2-93
3. यथाऽखण्डपक्षे वाक्यानां पदसरूपाणामवान्तरवाक्यानामपोद्धारबुद्ध्या सम्भवमुपकल्प्यार्थस्तेषां महावाक्योपयोगी व्यवस्थाप्यते। यदि तथा न प्रकल्पेत न तदा महावाक्यार्थसम्प्रत्ययः स्यात्। तथा वाक्यान्तराभावे एषां पृथगर्थता स्यात्। यावताऽपोद्धारसमाश्रयणेन वाक्यान्तराण्युपकल्प्य पृथगर्थत्वमसत्यमप्येषामभ्युपगम्यत इति नास्त्यवान्तरवाक्यानुपपत्ति चोद्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-112
4. अवान्तरवाक्यार्थाः साकांक्षत्वात् पदार्थतुल्या एवेति न तत्र वाक्यार्थव्यपदेशः कार्यः। —वही, 2-325

कि यह किस शंका का समाधान है उनके द्वारा दिये गये समाधान के आधार पर पुण्यराज ने प्रत्येक कारिका से पूर्व यह स्पष्ट किया है कि इस कारिका में कौन सी शंका की सम्भावना करके उत्तर दिया गया है।

आचार्य भर्तृहरि एक कारिका में कहते हैं कि जिस प्रकार 'गर्गाः' यह एक ही अनेक अर्थों में रहता है उसी प्रकार द्वन्द संज्ञक संघात भी बहुतों का अभिधायक होता है।[1] इस कारिका मात्र से यह स्पष्ट नहीं होता कि शंका क्या है जिसका समाधान किया गया है। सूत्र रूप में कही गई इस कारिका को पुण्यराज अपनी टीका में विस्तारपूर्वक स्पष्ट करते हैं। पुण्यराज शंका स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि यदि वाक्य में पदों का अर्थ कोई नहीं है तो 'देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राभोज्यन्ताम्' वाक्य में द्वन्द्व के द्वारा एक अखण्ड समुदायरूप अर्थ की अवगति होती है। ऐसी स्थिति में यदि पदार्थ भेद न मानें तो एकत्व होने के कारण बहुवचन (भोज्यन्ताम्) का प्रयोग क्यों किया जाता है।[2]

इस शंका का समाधान स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि जिस प्रकार गर्ग की बहुत सी सन्तानें होने पर भी बहुत से गर्गों का प्रयोग न करके 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र द्वारा एकशेष करने पर केवल एक ही गर्ग (शब्द अनेक गर्गों) के अर्थ में विद्यमान होने के कारण बहुवचन से युक्त होता है उसी प्रकार द्वन्द्वसंज्ञक संघात भी अवयव भेद रहित होने पर भी शब्दशक्ति के माहात्म्य के कारण बहुतों का अभिधान करता है। अतः देवदत्त यज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामू वाक्य में बहुवचन के कारण यह मानना कि वाक्यार्थ से पृथक् पदार्थ की सत्ता होती है, उपपन्न नहीं है।[3]

पदवादियों द्वारा उठाई गई दूसरी शंका हैं कि धवरवदिरपलाशाः सिच्यन्ताम् वाक्य में यदि वाक्यार्थ से पृथक् पद का अर्थ स्वीकार न किया जाए तो वाक्य की

1. गर्गा इत्येक एवायं बहुष्वर्थेषु वर्तते।
द्वन्द्वसंज्ञोऽपि सङ्घातो बहूनामभिधायकः ॥ —वा० प०, 2-221

2. यदि पदार्थो नैव विद्यते तदा देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामित्यत्र द्वन्द्वेनैक एवाखण्डसमुदायो वाक्यार्थो विधीयते। ततश्च पदार्थभेदस्याभ्युपगमादेकत्वे च सति बहुवचनं नोपपद्यतेत्याशङ्क्य समर्थयितुमाह···। —वही, 2-221

3. यथा गर्गस्यापत्यानि बहूनि गर्गा इत्येकशेषे कृते गर्गशब्द एक एव निरस्तावयवविभागो बह्वर्थवृत्तित्वाद् बहुवचनान्तः तथैव द्वन्द्वसंज्ञः सङ्घातो निरस्तावयवभेदोऽपि शब्दशक्तिमाहात्म्याद् बहुत्वमभिधत्त इति सत्यपि बहुवचने नास्ति तावता वाक्यार्थव्यतिरेकेण पदार्थसद्भावः। —पु० रा० वा० प०, 2-221

समाप्ति प्रत्येक में नहीं हो सकती तथा समुदाय में सिचन क्रिया सम्भव न हो सकने के के कारण वाक्यार्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती ।[1]

इस शंका का समाधान अखण्डवाक्य पक्ष में इस प्रकार किया गया है कि ब्राह्मणाः भोज्यन्ताम्' वाक्य में समुदाय की प्रतिपत्ति होने पर भी अपोद्धार बुद्धि के द्वारा अवयवों की कल्पना करके प्रत्येक में (ब्राह्मण में) भुजि क्रिया की समाप्ति हो जाती है । उसी प्रकार द्वन्द्व द्वारा समुदाय की प्रतिपत्ति होने पर भी बुद्धि के द्वारा कल्पित विभाग के समाश्रयण द्वारा प्रत्येक में वाक्य की समाप्ति हो जाती है ।[2]

अखण्डवाक्य पक्ष में एक शंका यह की जाती है कि यदि वाक्यार्थ में पदार्थ की सत्ता न मानें तो द्वन्द्व के अन्तर्गत विद्यमान पदार्थ का सर्वनाम द्वारा परामर्श उपपन्न नहीं होगा । यथा 'जनपदतदवध्योः (पा० सू० 4।2।124) सूत्र में 'तत्' सर्वनाम के द्वारा जनपद पदार्थ का परामर्श होता है । अर्थात् वृद्ध जनपद के वाचक तथा उस जनपद की अवधि के वाचक प्रातिपदिक से वुञ्प्रत्यय का विधान इस सूत्र द्वारा होता है । यहां तत् शब्द जनपद का परामर्श करता है कि 'जनपद की अवधि का वाचक प्रातिपदिक ।' पदवादी यह शंका करते हैं कि यदि पदार्थ को न माना जाए तो सर्वनाम द्वारा उसके अर्थ का आक्षेपण कैसे सम्भव हो सकता है ।[3]

इस शंका का आचार्य भर्तृहरि द्वारा किया गया समाधान स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि 'जनपदतदवध्योः' वाक्य में सर्वनाम है ही नहीं फिर द्वन्द्व पदार्थ

1. अथ धवखदिरपलाशाः सिच्यन्तामित्यत्र वाक्यार्थव्यतिरेकेण पदार्थासम्भवात् प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्त्ययोगात् समुदायस्य च युगपत्सेचनक्रियाऽसम्भवाद्वाक्यार्थस्यानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह । —वही, 2-222

2. ब्राह्मणा भोज्यन्तामित्यत्र यथा विनापि वाक्यार्थव्यतिरेकेण पदार्थसद्भावे पदार्थानां भुजिक्रिया प्रत्येकमवतिष्ठते, तथा द्वन्द्ववाक्ये समुदायलक्षणेऽर्थे प्रत्येकं प्रविभज्यत इति न कश्चिद्दोषः । एतदुक्तं भवति—ब्राह्मणा भोज्यन्तामित्यत्र यथा सत्यामपि समुदायप्रतिपत्तावपोद्धारबुद्ध्या प्रकल्प्यावयवान् प्रत्येकं भुजिक्रिया समाप्यते, तथैव द्वन्द्वात् समुदाये प्रतिपन्ने बुद्धिपरिकल्पितप्रविभागसमाश्रयणेन प्रत्येकं वाक्यसमाप्तिर्बोद्धव्या । —पु० रा० वा० प०, 2-222

3. द्वन्द्वान्तर्वर्तिनः पदार्थस्य वाक्यार्थव्यतिरेकेणासम्भवात् सर्वनाम्ना परामर्शो नोपपद्यते । यथा जनपदतदवध्योरिति (अष्टा० 4।2।124)। अत्र हि जनपदात्तच्छब्देन परामृष्टाच्चतस्मादेवावधिभूतात् प्रत्यय इष्यते । वाक्यार्थव्यतिरेकेणासति च पदार्थे कथमसतः सर्वनाम्नाऽपेक्षमिति पराभिप्रायमनूद्य समाधत्ते··· । —वही, 2-223

का परामर्श कहाँ से होगा । वाक्यार्थ अखण्ड, प्रतिभामात्र है तथा पदार्थों से विशिष्ट है । फिर भी उसमें अन्वय के कारण सर्वनाम का सारूप्यमात्र प्रतीत होता है । वास्तव में इस वाक्य में तत् पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता । पुण्यराज वाक्यपदीय की कारिका उद्धृत करके यह स्पष्ट करते हैं कि वाक्यार्थ के बीच में जो पदार्थ ज्ञान होता है वह वाक्यार्थज्ञान की प्रतिपत्ति का उपाय है ।[1]

अखण्ड वाक्यपक्ष में पूर्वपक्ष के रूप में एक अन्य शंका की उदभावना यह की जाती है कि 'धवदिरपलाशाश्छिद्यन्ताम्' वाक्य से क्रमरहित वाक्यार्थ मानें तो क्रमरहित युगपत् धवखदिर एवं पलाश का छेदन प्राप्त होता है जो सम्भव नहीं है । ऐसा देखा जाता है कि क्रमपूर्वक ही छेदन क्रिया होती है । इसलिये पदार्थ को मानना आवश्यक है ।[2]

इस शंका का आचार्य भर्तृहरि द्वारा किया गया निवारण स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि पदवादी जो 'खदिरश्छिद्यताम्' इत्यादि वाक्यों में पदार्थ एवं वाक्यार्थ में भेद मानते हैं वहां भी युगपत् अनुष्ठान नहीं हो सकता क्योंकि खदिर का पहले त्वग्भाग, उसके बाद अस्थिभाग और फिर सारभाग इस क्रम से छेदन किया जाता है इसी प्रकार द्वन्द्व में भी अपोद्धार बुद्धि के द्वारा पदार्थ को कल्पना करके उसका क्रमपूर्वक अनुष्ठान हो जाता है ।[3]

पदवादियों द्वारा सम्भावित एक अन्य शंका इस प्रकार है कि अस्मिन् पर्वते धवखदिरपलाशाश्छिद्यन्ताम्' वाक्य द्वारा अखण्ड वाक्यार्थ की प्रतीति अर्थात् इस पर्वत

1. नात्र किञ्चित् सर्वनाम विद्यते । तत्कुत एव तत्र द्वन्द्वपदार्थपरामर्शः स्यात् ? केवलव्यावृत्तरूपे विशिष्ट एवात्र वाक्यार्थे प्रतिभामात्रेऽन्वयात् सर्वनामसारूप्यमात्रमाभाति, न तु वास्तवोऽत्र तत्पदार्थप्रत्ययः कश्चित् प्रतिपन्नः । यद् वक्ष्यति—
   यदन्तराले ज्ञानं तु पदार्थेषूपजायते ।
   प्रतिपत्तेरुपायोऽसौ प्रक्रमानवधारणात् ॥ —पु० रा० वा० प०, 2-223
2. नन्वसति पदार्थे धवखदिरपलाशाश्छिद्यन्तामित्यत्राक्रमिकनिर्विभागो वाक्यार्थ इष्टस्ततश्च यथैव शब्दादवगतोऽर्थस्तथैवानुष्ठानमिति युगपदेव छिदिक्रिया प्राप्नोति न चैवमनुष्ठातुं पार्यते । —वही, 2-224
3. यत्रापि भवतः पदार्थयोर्भेदः खदिरश्छिद्यतामित्यादौ, तत्रापि युगपदेवानुष्ठातुं न याति । यावता खदिरस्य प्रथमं त्वग्भागं छिन्दन्ति ततोऽप्यस्थिभागं सारभागमिति क्रमवर्तिन्येव छिदिक्रिया पर्यवस्यति । तथैव द्वन्द्वे यः पदार्थोऽपोद्धारबुद्धिपरिकल्पितस्तस्य क्रमेण दर्शनं व्यवस्थितिरनुष्ठानमिति यावत् ।
   —पु० रा० वा० प०, 2-224

पर धवखदिरपलाश सम्बन्धी छेदन अर्थ मानें तब लोक में जो यह देखा जाता है कि केवल एकदेश के छेदन करने पर भी यह कह दिया जाता है कि जैसा कहा गया था वैसा अनुष्ठान कर लिया है उसकी उपपत्ति कैसे होगी। यदि पदों का अर्थ ही नहीं हैं तो अवयव का छेदन करने से ही समस्त कार्य कैसे हो जाएगा। वाक्य अनश मानने पर तो धव, खदिर एवं पलाश सभी का छेदन होने पर ही कार्य सिद्ध होगा।[1]

इस शंका का समाधान स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि 'ब्राह्मणा-भोजयन्ताम्' वाक्य में जिस प्रकार एकदेश में भुजि क्रिया की प्रवृत्ति होने पर भी यह कह दिया जाता है कि 'भुक्तं ब्राह्मणैः' उसी प्रकार द्वन्द्व से समुदाय अर्थ वाच्य होने पर भी उसके अवयवो में प्रवृत्त होने पर शब्दार्थ का परित्याग नहीं होता।[2] अर्थात् जिस प्रकार 'ब्राह्मणाः भोज्यन्ताम्' का अर्थ ब्राह्मण संघात को भोजन कराओ' है, परन्तु समस्त ब्राह्मण जाति को भोजन कराना असम्भव होने के कारण कुछ ही ब्राह्मणों को भोजन कराने पर भी यह कह दिया जाता है कि सभी ब्राह्मणों ने भोजन कर लिया है उसी प्रकार यद्यपि 'धवखदिरपलाशाश्छिद्यन्ताम्' वाक्य अखण्ड अर्थ का प्रत्यायक है फिर भी उसके एक देश में छेदन क्रिया होने पर भी यह कहना कि 'जैसा कहा था वैसा अनुष्ठान कर लिया है' अनुपपन्न नहीं है।

महाभाष्य 2।1।6 सूत्र 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति-शब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथोनुपूर्व्ययौपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्थतवचनेषु' की व्याख्या करते हुये आचार्य पतंजलि कहते हैं कि अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ प्रधान होता है तत्पुरुष में उत्तरपदार्थ, बहुब्रीहि में अन्य पदार्थ एवं द्वन्द्व में दोनों पदार्थ प्रधान होते हैं।[3] अगली शंका महाभाष्य के इसी कथन पर आधारित है। अर्थात् यदि वाक्यार्थ की कोई सत्ता नहीं है तो फिर अव्ययीभाव में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होती है, तत्पुरुष में

---

1. अथास्मिन्पर्वते धवखदिरपलाशाश्छिद्यन्तामिति धवखदिरपलाशच्छेदनं निरूपितं वाक्यार्थः, तत्रैकदेशमात्रेऽपि च्छिन्ने यदादिष्टं तत् कृतमिति कुर्वन्ति तदेतदनंशे वाक्यार्थे कथमुपपत्तिमदित्याशङ्क्याह···। — वही, 2-225

2. यथा ब्राह्मणा भोज्यन्तामित्यत्र सङ्घानुपातिन्यपि भुजिक्रिया तदेकदेशे अक्रान्ता प्रवर्तिता, अतो भुक्त ब्राह्मणैरित्युच्यते ; तथा द्वन्द्ववाच्य-समुदायान्तरगतावयव-प्रवर्तितापि शब्दार्थपरित्यागकारणतां न प्रतिपद्यत इति विज्ञेयम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-225

3. पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः। —महाभा०, 2।1।6

उत्तर पदार्थ की प्रधानता होती है इत्यादि समासों में अर्थ का अभिधान उपपन्न नहीं होगा।[1]

इस शंका का समाधान स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि वास्तव में पद पदार्थ की सत्ता ही नहीं है वाक्यपूर्विका समासलक्षणावृत्ति को अबुधों को समझाने के लिये ही पदार्थभेद की कल्पना की गई है।[2] पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य पतंजलि इससे केवल शास्त्रप्रक्रिया मात्र का ही प्रदर्शन अबुधबोधन के लिये करते हैं। इससे वह पदपदार्थ की सत्ता की सिद्धि नहीं करते।[3] पुण्यराज कहते हैं कि महाभाष्यकार ने नञ् समास में जो पदार्थ प्राधान्य सम्बन्धी विकल्प[4] दिये वे भी अबुधबोधन के लिये प्रक्रियामात्र का प्रदर्शन ही है।[5]

महाभाष्य में बहुव्रीहि समास में जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था ये दो वृत्ति विल्कप दिखाये गये है। अन्तिम शंका इसी पर आधारित है। इस शंका को स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि यदि पदार्थ की सत्ता को न मानें तो वृत्तियों में जहत्स्वार्थावृत्ति एवं अजहत्स्वार्थावृत्तिरूप विकल्प सम्भव नहीं हो सकेगा क्योंकि जब पद का अर्थ ही नहीं होगा तो उसका त्याग अथवा ग्रहण कैसे सम्भव है।[6]

इस शंका का निवारण स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि महाभाष्यकार द्वारा जहत्स्वार्था वृत्ति का प्रदर्शन करते हुए समस्त अर्थ का परित्याग सिद्ध करना अपने आपमें यही स्पष्ट करता है कि वाक्यार्थ, पदार्थ से अतिरिक्त समुदाय रूप विशिष्ट अर्थ होता है। अतः पदार्थ व्यवहार वास्तविक नहीं समझना चाहिये। पुण्यराज

---

1. यदि च पदपदार्थासम्भवस्तदा पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः उत्तर पदार्थप्रधानस्तत्पुरुष इत्यादिकं समासेष्वर्थाभिधानमनुपपन्नमित्याशङ्क्य परिहर्तुमाह।
—पु० रा० वा० प०, 2-226
2. वाक्यपूर्विकां वृत्ति समासलक्षणामबुधान् प्रतिपादयता
तद्भेदेन समासेषु पदार्थप्राधान्यमाचार्येणोपदर्शितम्॥ —वही, 2-226
3. एतदुक्तं भवति—अवुधबोधनाय तथा शास्त्रे प्रक्रियामात्रप्रदर्शनं कृतं न पुनस्तावता पदपदार्थसत्ताऽभ्युपगता। —वही, 2-226
4. महाभा०, अ० सू०, 2।2।6
5. अब्राह्मण इत्यादौ नञ्समासेऽपि, यत् पदार्थप्राधान्यं बहुधा भाष्ये विकल्पितं तदप्यबुधबोधनाय शास्त्रप्रक्रियामात्रप्रदर्शनमेव बोद्धव्यमिति···।
—पु० रा० वा० प०, 2-227
6. अथ पदार्थासम्भवे जहत्स्वार्थविकल्पो नोपपद्यते किल पदार्थासम्भवे कुत्रैतदुच्यत इति···। —पु० रा० वा० प०, 2-228

कहते हैं कि जहत्स्वार्थ पक्ष में सारे अर्थ का परित्याग दिखाने से यही स्पष्ट होता है कि आचार्य पतंजलि को भी अखण्ड वाक्य पक्ष ही अभिप्रेत था ।[1]

इस प्रकार पुण्यराज ने अपनी टीका में अखण्डवाक्यपक्ष में सम्भावित शंकाओं एवं उनके समाधान को सरल शब्दों में एवं विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है ।

पदवाद मानने पर दोष

पुण्यराज कहते हैं कि पदपदार्थ का व्यवहार काल्पनिक एवं असत्य है तथा उसे शास्त्रप्रक्रियामात्र ही समझना चाहिये ।[2] आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित पद पदार्थों की अव्यवस्था को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि कभी तो पद के प्रकृति भाग पर आश्रित अभिधेय को प्रकृति के न होने पर भी केवल प्रत्यय ही अभिहित कर देता हैं । जैसे 'इयान्' इत्यादि पद । कभी-कभी प्रत्यय न होने पर भी प्रकृति द्वारा ही प्रत्यय का अर्थ अभिहित हो जाता है जैसे 'अहन्' पद ।[3] इसी प्रकार 'पचन्ति' इत्यादि में शप् एवं तिङ् ये दो प्रत्यय कर्तृलक्षण अर्थ को कहते है । उस कर्तृलक्षण अर्थ को अत्ति, जुहोति पदों में एक प्रत्यय भी कह देता है । कहीं पर केवल धातु भी प्रत्यय के बिना ही उस अर्थ को कह देती है जैसे 'अहन् वृत्रम् इन्द्रः' वाक्य में अहन् पद ।[4] क्या इस प्रकार के अव्यवस्थित पदपदार्थ वास्तविक हो सकते हैं ?[5]

पुण्यराज स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जिस प्रकार पदों में प्रकृति प्रत्यय इत्यादि का अपोद्धार द्वारा विभाग कल्पित किया जाता है उसी प्रकार वाक्य में वाक्यार्थ के प्रतिपादन के लिये पदों का अपोद्धार वर्णित किया जाता है ।[6] जिस प्रकार

---

1. यत एवमत एव तत्प्रदर्शनायाचार्येण वृत्तिषु जहत्स्वार्थपक्षे सर्वार्थत्यागोपदर्शनादखण्डमेव वाक्यमभिप्रेतमिति लक्ष्यते । —वही, 2-228
2. इदानीं सर्वोऽयं पदपदार्थव्यवहारः काल्पनिकोऽधत्यभूत एव नानाविसशास्त्रप्रक्रियामात्रशरणोऽवगन्तव्य इति । —पु० रा० वा० प०, 2-229
3. तथा च पदस्य प्रकृतिभागाश्रितमभिधेयं प्रकृत्यसद्भावेऽपि प्रत्यय एवाभिदधाति-यथा —इयानित्यादौ । तथा प्रत्ययार्थश्च विनिवृत्तेऽपि प्रकृत्यैवाभिधीयते यथाऽहन्निति । —वही, 2-229
4. तत्र पचन्तीत्यादौ भिन्नौ प्रत्ययौ शप्तिङौ समर्थकर्तृलक्षणमाहतुः तमेवैकोऽप्याह, अत्ति जुहोतीत्यादौ । क्वचिद्धातुरेव तमर्थं ताभ्यां विनैवाह, अहन् वृत्रमिन्द्र इत्यादाविति । —वही, 2-230
5. किमेतत् पदार्थानां वास्तवत्वे प्रमाणधुरामवगाहत इति यत्किञ्चिदेतत् । —वही, 230
6. पदे हि यथा प्रकृतिप्रत्ययविभागोऽसत्य एव बालव्युत्पादनाय क्रियते, तथा वाक्ये वाक्यार्थप्रतिपादनायापोद्धारः पदानामुपवर्ण्यते । —पु० रा० वा० प०, 2-15

वृषभ शब्द में ऋषभ तथा उदक यावक शब्दों में उद एवं याव शब्दों से कोई अर्थ ज्ञान नहीं होता, फिर भी शास्त्र में अज्ञ व्यक्ति को पद का अन्वयव्यतिरेक के बिना अर्थ बोध नहीं हो सकता, उसी प्रकार वाक्य भी निरंश रूप में ही वाचक है अज्ञ व्यक्ति ही उसमें पद पदार्थ भेद मानता है यही पक्ष उचित है।[1] 'ब्राह्मणकम्बल' शब्द में जिस प्रकार ब्राह्मण शब्द का कोई अर्थ नहीं है उसी प्रकार देवदत्त गामम्याज इत्यादि वाक्य में भी देवदत्तादि पदों का पृथक् अर्थ नहीं है। अतः पद अनर्थक है। यही निश्चित है कि वाक्य अखण्ड निराकांक्ष एवं एक ही है तथा पदों से व्यतिरिक्त है। वाक्यार्थ भी पदार्थ से व्यतिरिक्त अखण्ड ही है।[2]

पुण्यराज कहते हैं कि यदि पद-पदार्थ की सत्ता में यह प्रमाण माना जाए कि पदों के द्वारा पदार्थ ज्ञान होता है तो 'देवदत्त गामम्याज शुक्लां दण्डेन' वाक्य में उत्तरोत्तर पदों के अर्थ के साथ समुच्चय होने पर पूर्व-पूर्व पद अपना अर्थ क्यों त्याग देते हैं इससे तो तत्तद् पद का उपादान अनर्थक सिद्ध होता है अतः अनर्थक पद का उच्चारण व्यर्थ है अथवा उच्चारण करने पर शब्दमात्र से पदार्थ ज्ञान की उपपत्ति नहीं होती। इस प्रकार जब पद से पदार्थ ज्ञान ही नहीं होगा तो वाक्यार्थ के द्वारा कैसे सम्भव है अतः पदवाद उपपन्न नहीं है।[3] पदों की अपने अर्थ में अव्यवस्था को स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि एक 'राजा' अर्थ राजा, राजानम्, राज्ञा, राज्ञे, राज्ञः राज्ञि राजनि इत्यादि अनेक रूपों वाले 'राजन्' पद द्वारा प्राप्त होता है। यदि पदों की सत्यता होती तो वे नियत ही दिखाई देते। सर्वत्र नियत नहीं देखे जाते अतः पद

---

1. नहि वृषभे ऋषभस्योदकयावकयोर्वोदयावशब्दयोरर्थानुगमः कश्चिदस्ति। अपितु शास्त्र यदस्य प्रकृतिप्रत्यययोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां विना कथमज्ञो व्युत्पाद्येत एवं च निरंशमेव वाक्यं वाचकमित्येव युक्तम् —वही, 2-12

2. यथा ब्राह्मणकम्बलशब्दे ब्राह्मणशब्दस्य न कश्चिदर्थो विद्यते, यथैव देवदत्त-गामम्याजेत्यादौ वाक्ये देवदत्तादीनां पृथगर्थो नास्तीत्यनर्थकान्येव पदानि। अतश्च स्थितमेतद् यदखण्डं निराकांक्षमेकं पदव्यतिरिक्तं वाक्यं पदार्थव्यतिरिक्तो वाक्यार्थश्च तथैवेति। —वही, 2-14

3. यदि पदार्थसम्प्रत्ययः प्रमाणं पदपदार्थसत्तायामुच्यते, तदा देवदत्त गामम्याज शुक्लां दण्डेनेत्यस्मिन् वाक्ये पूर्व-पूर्वपदार्थानामुत्तरोत्तरपदार्थाभ्युच्चये स्वार्थत्यागाच्छब्द-मात्रात् पदार्थप्रत्ययस्यानुपपत्तेः किं निबन्धना वाक्यार्थप्रतीतिः स्यादिति यत्किञ्चि-देतत्। —पु० रा० वा० प०, 2-34

मिथ्या है।[1] इसी प्रकार 'राजपुरुषः' इस वृत्ति में 'राज शब्द आख्यात के समान हैं अतः 'हे राज पुरुष' वाक्य से 'हे पुरुष चमको' अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए थी परन्तु यह अर्थ अभीष्ट नहीं है पदों के अर्थ से पृथक् वाक्यार्थ अन्य ही होता है अतः वाक्य में पद वास्तविक नहीं हैं।[2] इसी प्रकार 'अश्वकर्ण' समास में जैसे 'अश्व' अर्थ ही नहीं है उसी प्रकार वाक्यार्थ भी पदार्थों से अतिरिक्त विशिष्ट ही होता है।[3]

पुण्यराज कहते हैं कि यदि वाक्य में पदों का अर्थ मानें तो धवखदिर-पलाशाश्छेद-नीया न' वाक्य में पदार्थ की प्रतिपत्ति के समय तो धवादि छेदन लक्षण अर्थ गृहीत होता है बाद में निषेध के द्वारा उसका निवर्तन किया जाता है जो उचित नहीं है। क्योंकि प्राप्त अर्थ का परित्याग कर देने से शब्दार्थ सम्बन्ध में अनित्यत्व प्राप्त होता है। अतः पद के अर्थ का वाक्यार्थ ज्ञान में आश्रयण उचित नहीं है।[4] यदि वाक्य में पद के अर्थ को स्वीकार किया जाए तो 'वृक्षो नास्ति' वाक्य में वृक्ष पद के द्वारा वृक्षलक्षण पदार्थ की व्यवस्थिति हो जाने पर उसका नञ् से सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता क्योंकि जिसकी सत्ता होती है उसकी निवृत्ति नहीं की जा सकती। यदि असत् नञ् से सम्बन्ध मानें तो असत् होने के कारण ही उसकी निवृत्ति हो जाती है फिर नञ् के द्वारा उसकी निवृत्ति की क्या आवश्यकता है। अतः पदों की सत्ता मानने पर नञ् का अर्थ व्यर्थ हो जाएगा।[5] इसलिये वाक्यार्थ में पदार्थ नहीं होता। 'वृक्षो नास्ति'

---

1. राजा राजानं राज्ञा राज्ञे राज्ञो राज्ञि राजनीत्येवमनियतस्वरूपेण राजशब्देन राजार्थप्रतीतिर्दृश्यते। यदि पदस्य सत्यता स्यात्तदा नियतं तत्परिदृश्येत। सर्वत्र न च दृश्यतेऽतो मन्यामहे मिथ्यैव पदानीति। —वही, 2-35
2. राजपुरुष इत्यस्यां वृत्तौ राजशब्द आख्यातसदृशः। ततश्च हे राजपुरुषेत्यत्र राज भ्राजस्व पुरुषेत्यर्थप्रतीतिः स्यात्। न चैतदिष्टम्। तस्मात् पारमार्थिकानि पदानि न सन्त्येव। —पु० रा० वा० प० 2-35
3. अश्वकर्ण इत्यत्राश्वपदार्थेन विनैव जात्यन्तरविशिष्टः कश्चिदर्थो गम्यते तस्मात् सर्वेष्वपि पदेषु परामृष्टविभागेषु वाक्याभिव्यञ्जकेषु सत्स्वखण्डवाक्यार्थावगति-पूर्वको वाक्यार्थप्रत्यय इत्येव युक्तम्। —वही, 2-36
4. इहाद्य धवखदिरपलाशाश्छेदनीया नेत्यत्र पदार्थप्रतिभाससमयेऽन्य एव धवादिच्छेदन-लक्षणोऽर्थ उपादीयते, पश्चान्निषेधेन तन्निवर्तनं क्रियते, न चैतद्युक्तं, उपात्तस्य त्यागे शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वप्राप्तेरिति। तेषां तत्रानाश्रयणमेव युक्तमिति। —वही, 2-240
5. यदि पुनः पदार्थोऽत्र व्यतिरिक्तोऽभ्ययुपगम्यते, तदा वृक्षलक्षणे पदार्थे व्यवस्थिते नञ्सम्बन्धस्तस्य नोपपद्यते, तथा हि स्वकारणाल्लब्धात्मलाभस्य न जातनिवृत्तिः कर्तुं शक्यते। उपासत एव नञासम्बन्धस्तदा सत्वादेव निवृत्तोऽसाविति नञो वैयर्थ्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-24

यह सम्पूर्ण वाक्य 'वृक्षाभाव-लक्षण' वाक्यार्थ का प्रत्यायक है। पुण्यराज कहते हैं कि यदि यह कहा जाए कि वृक्षो नास्ति वाक्य का विभाग करने से 'वृक्ष-पदार्थ-अस्तित्व-विषयक' बुद्धि की अवधारणा होती है तथा वह बुद्धि ही नञ् के द्वारा निवृत्त होती है[1], तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि पदार्थ के अस्तित्व विषयक बुद्धि विभाग करने से ज्ञात होती है अतः अशब्दवाच्या सिद्ध होती हैं जबकि न के द्वारा शब्दवाच्य अर्थ का ही प्रतिषेध होता है। दूसरी बात यह कि शब्द के द्वारा बाह्य अर्थ अभिहित होता है जबकि बुद्धि अर्थालम्बना है अतः शब्द की अभिधेय नहीं है फिर उसका नञ् के द्वारा प्रतिषेध कैसे सम्भव है। अतः अखण्ड वाक्य ही वाचक है।[2]

पुण्यराज उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि यदि वाक्य में पदों की सत्ता मानें तो जहां वाक्यार्थ स्तुतिपरक होता है वहाँ निन्दा अर्थ प्रतीत होता है तथा जहाँ वाक्यार्थ निन्दापरक होता है वहाँ स्तुति अर्थ प्रतीत होगा। पहला उदाहरण इस प्रकार है—

इन्दोर्लक्ष्म स्मरविजयिनः कण्ठमूलं मुरारि—
दिङ्नागानां मदमलमषीभाञ्जि गण्डस्थलानि।
अद्याप्युर्वीवलयतिलक ! श्यामलिम्नाऽनुलिप्ता—
न्युद्भासन्ते वद धवलितं यशोभिस्त्वदीयैः ॥[3]

यदि पदार्थ की सत्ता मानें तो इस श्लोक में निन्दा अर्थ की अवगति होगी कि हे राजन् ! झूठ ही तुम यश का गर्व करते हो क्योंकि तुम्हारा यश सर्वव्यापी नहीं है। यदि सर्वव्यापी होता तो क्या आज भी चन्द्रमा का कलंक इत्यादि श्यामल होते ? तुम्हारे श्वेत यश के फैलने से वे भी श्वेत हो जाते हैं।[4] परन्तु वाक्यार्थ स्तुतिपरक है कि हे

---

1. अथोच्यते विच्छेदेन पदार्थविषयास्तित्वबुद्धिरवधृता सा नञा निवार्यते इति···।
—वही, 2-242

2. नञा शब्दवाच्योऽर्थः प्रतिषिध्यते न च बुद्धिः शब्दवाच्या। शब्देन हि बाह्योऽर्थोऽभिधीयते, बुद्धिस्त्वर्थालम्बना (न) शब्दाभिधेयत्वमर्हतीत्यतः नञा सा प्रतिषिध्यते।
—वही, 2-242

3. पु० रा० वा० प०, 2-247

4. अत्र हि पदार्थप्रतिभासवेलायां निन्दावगम्यते—यस्माद्धे राजन्नलीकमेवोद्धतां कन्धरां वहसि. तथाहि न सर्वव्यापि त्वदीयं यशः, यदि हि तथा स्यात्, तदा किमित्यद्यापि प्रसिद्धा एव शशलक्ष्मादयः पदार्थाः श्यामलतया भासन्ते ? यशसो ह्यवदाततया तदीयस्य व्यापितायां तद्व्याप्तास्ते श्वेता भवेयुरेवेति पदार्थोऽत्र निन्दा।
—वही, 2-247

राजन् ! तुम्हारे यश से सारा जगत ही धवलित हो गया है; केवल स्वभाव से ही दुस्त्याज्य होने के कारण चार ही वस्तुएँ तीनों लोकों में श्यामगुणयुक्त हैं। अन्य सभी तुम्हारे यश से व्याप्त हैं। अतः तुम्हारा यश तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। इस प्रकार पदार्थ मानने पर तो विरुद्ध अर्थ की अवगति होने लगेगी।[1]

इस प्रकार जहाँ वाक्यार्थ निन्दा होता है वहाँ पदार्थ मानने पर स्तुति अर्थ प्रतीत होने लगेगा। यथा—

"हे हेलाजितबोधिसत्व यशसां किं विस्तरैस्तोयधे,
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो—
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहयकं यन्मरोः॥"[2]

पुण्यराज स्पष्ट करते हैं कि इस श्लोक में पदों का अर्थ स्तुति है कि हे तोयनिधि ! पदार्थ सम्पादन रूप गुण से तुमने बोधिसत्व को भी पराजित कर दिया है।[3] जबकि वाक्यार्थ तोयनिधि की निन्दा है।[4] अतः वाक्यार्थ ज्ञान में पदार्थ ज्ञान की सत्ता मानने पर अर्थ की संगति कैसे हो सकेगी ?

श्रुतार्थापत्ति-प्रमाण द्वारा मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित पद-पदार्थ की सत्ता का अखण्डवाक्यपक्ष में खण्डन

पुण्यराज पूर्वपक्ष के रूप में एक प्रश्न की उद्भावना करते हुए कहते हैं कि जहां एक ही पद द्वारा ही निराकाँक्ष अर्थ की अवगति होती है, वहाँ उस पद का अर्थ असत्य कैसे माना जा सकता है ? पुण्यराज कहते हैं कि वहां भी पद-पदार्थ असत्य है।[5] यह देखा जाता है कि एक पद भी प्रसिद्धि इत्यादि के द्वारा वाक्यार्थ का प्रत्यायन करा

---

1. स्तुतिस्तु वाक्यार्थः। तथा च हे राजन् सर्वमेव जगद्यशा त्वदीयेन धवलितं केवलं स्वभावस्य दुस्त्याज्यत्वाद्यदि परं चत्वार्येव वस्तूनि त्रिजगति श्यामगुणयुक्तान्यन्यत्सर्वमेव त्वदीयेन यशसा व्याप्तमिति सर्वत्र त्रिलोक्यामपि प्रथितप्रतापस्त्वमिति वाक्यार्थः। —पु० रा० वा० प०, 2-247
2. वही, 2-247
3. अत्र बोधिसत्वचरितस्यापि त्वदीयेनानेन तोयनिधे। परार्थसम्पादनषाड् (साद्) गुण्येन पराजय इति मदेभ्यः स्तुतिरवगम्यते। —वही, 2-247
4. वाक्यार्थस्तु निरतिशयगर्हापात्रत्वमुदधेरवेक्ष्यत इति। ततश्च पदपदार्थानामवास्तवत्वे कथमेतत्सङ्गच्छत इति। —वही, 2-247
5. अथ यत्रैकस्मात् पदान्निराकांक्षोऽर्थः प्रतीयते तत्रापि तस्यासत्यार्थत्वयुक्तमित्यभिधातुमिति···। —पु० रा० वा० प०, 2-326

देता है । वे वास्तव में एक पद नहीं होते, एक पद रूप वाक्य होते हैं ।[1] एक पद भी यदि सम्पूर्ण अर्थ का अभिधान करता है तो वह भी वाक्य ही होता है । उदाहरण के लिये वर्षति इस एक पद के द्वारा ही 'देवो जलम्' इस कर्त्ता कर्म के आक्षेप से सम्पूर्ण अर्थ का अभिधान होने के कारण 'वर्षति देवो जलम्' के समान वाक्य ही है ।[2] इसी प्रकार द्वारं पद के द्वारा भी 'द्वारं पिधेहि' वाक्यार्थ की अवगति होती है । ये 'वर्षति' एवं 'द्वारम्' वाक्य के अवयव रूप पद नहीं है अपितु एकपदरूप वाक्य है क्योंकि इनके द्वारा बुद्धि में स्थित अखण्डवाक्य स्फोट की अभिव्यक्ति होती है । अतः इन पदों के द्वारा पद-पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती ।

मीमांसक यह नहीं मानते कि एक ही पद सम्पूर्ण वाक्यार्थ का प्रत्यायन कर सकता है वे तो श्रुतार्थापत्ति प्रमाण द्वारा उच्चारित पद की बुद्धि में उपस्थिति मानकर उसी के द्वारा अर्थ बोध मानते हैं । पुण्यराज श्रुतार्थापत्तिप्रमाण का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते है कि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' वाक्य में भोजन क्रिया के विना देवदत्त में पीनत्व उपपन्न नहीं हो सकता अतः रात्रिभोजन के वाचक पद की कल्पना के द्वारा रात्रिभोजन अर्थ का बोध होता है ।[3] मीमांसक यह कहते हैं कि 'वृक्षः' शब्द के द्वारा श्रुतार्थापत्ति प्रमाण द्वारा तिष्ठति' शब्द की उपस्थिति होने से उसका आक्षेप करके बुद्धि उस अर्थ को उत्पन्न करती है अतः केवल नामपद क्रियायुक्त अर्थ का वाचक नहीं है तथा आख्यात भी ससाधन वाक्यार्थ का वाचक नहीं है ।[4] उनके अनुसार नाम पद अथवा आख्यातपद का प्रयोग करने पर केवल उन्हीं का अर्थ ज्ञात होता है । उनके द्वारा अप्रयुक्त पद का बुद्धि में आक्षेप होता है तथा उस आक्षिप्त पद से ही अर्थ बोध

---

1. सन्ति वाक्येषु वाक्यैकदेशाः प्रसिद्ध्यादिना वाक्यार्थप्रत्यायका इति । तदप्येकं पदं वाक्यमेव । —वही, 2-326
2. वर्षतीत्युक्ते देवो जलमिति कर्तृकर्माक्षेपात् परिपूर्णार्थत्वे वर्षति देवो जलमिति यथा वाक्यमेवं तदप्येकं पदं समाप्तार्थं परिपूर्णार्थवाक्यमेवामिधीयते ।
—वही, 2-326
3. इह पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र भोजनं बिना पीनत्वं देवदत्तस्यानुपपद्यमानं रात्रिभोजनं तद्वाचकशब्दपरिकल्पनद्वारेण गमयतीत्युच्यते···।
—पु० रा० वा० प०, 2-336
4. तिष्ठत्यादिकं शब्दं श्रुतार्थापत्योपस्थापितमनुमायाक्षिप्यासौ बुद्धिस्तदर्थप्रत्ययमुपजनयतीति यावत् । अतो न केवलमेव नामपदं सक्रियस्यार्थस्य वाचकम् । आख्यातम् च ससाधनस्येति कथमुच्यते ? सन्ति वाक्येषु वाक्यैकदेशा वाक्यार्थप्रतिपादका इति । —वा० प०, 2-327

होता है अतः उनके अनुसार वाक्य में पदों की सत्ता होती है। अखण्डवाक्यवादी यह मानते हैं कि अर्थ का लक्षण यही है कि शब्द के उच्चारण करते ही जो अर्थ प्रतीत होता है वही उसका अर्थ कहलाता है।[1] वृक्ष शब्द का उच्चारण करते ही उसी के द्वारा अर्थ-प्रकरणादि के कारण 'वृक्षः तिष्ठति' अर्थ अवगत हो जाता है अतः श्रुतार्थापत्ति द्वारा तिष्ठति पद का आक्षेप मानकर दोनों पदों द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान मानना उपपन्न नहीं है। वाक्यों में वाक्यों के एकदेश नहीं होते अतः एक ही 'वृक्षः' पद भी सम्पूर्ण अर्थ का अर्थप्रकरणादि[2] द्वारा वाचक होने के कारण वाक्य कहलाता है।[3]

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष के रूप में उठायी गयी एक अन्य शंका को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते है कि पदवादी कहते हैं यदि 'वृक्षः' 'निष्क्रान्तः' इत्यादि एक पद ही सकल वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति करा देते हैं तो फिर वृक्षस्तिष्ठति, निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः इत्यादि वाक्यों में 'तिष्ठति एवं कौशाम्ब्याः इत्यादि पदों के प्रयोग की क्या आवश्यकता है ?[4]

इस शंका का अखण्ड वाक्यपक्ष में समाधान स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि केवल 'वृक्षः' यह एक शब्द रूप वाक्य 'वृक्षस्तिष्ठति' वाक्य से सर्वथा भिन्न है। सादृश्य के कारण 'वृक्षस्तिष्ठति' वाक्य का वृक्षः शब्द 'वृक्षः' वाक्य में मान लेते हैं।[5] इस पर पूर्वपक्ष के रूप में पुण्यराज एक अन्य प्रश्न करते हैं कि चलो यह मान लें कि दोनों पृथक् वाक्य हैं फिर सदा 'वृक्षः' शब्द ही प्रयुक्त क्यों नहीं किया जाता क्योंकि उसी से ही सामर्थ्यादि द्वारा वृक्षस्तिष्ठति अर्थ अभिहित हो जाता है। 'वृक्षः तिष्ठति' इस बड़े प्रयोग की क्या आवश्यकता है ?[6]

---

1. यस्मिंस्तूच्चारिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥ —वही, 2-328

2. इनकी विस्तृत चर्चा सप्तम अध्याय में 'अखण्डवाक्यपक्ष में गौण मुख्य विभाग' शीर्षक के अन्तर्गत की जाएगी।

3. वृक्ष इत्यस्मादेव चार्थप्रकरणादिना वृक्षस्तिष्ठतीत्यर्थप्रतीतेः। एतदेवार्धवाचकाद्वाक्यमित्युक्तमेव। —पु० रा० वा० प०, 2-328

4. यथैवं वृक्षस्तिष्ठति निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या इत्यादौ तिष्ठत्यादीनां किं प्रयोगेण केवलं वृक्ष इत्यादिकं सर्वत्र नामपदमाख्यातं वा प्रयुज्यतां केवलैरेव सर्वत्र वाक्यार्थ-प्रतिपादनमिति···। —वही, 2-330

5. केवलो वृक्षशब्दो वाक्यार्थप्रतिपादकोऽन्य एव वृक्षस्तिष्ठतीति चान्यदेव वाक्यं सादृश्याद् वृक्षस्तिष्ठतीत्यत्र वृक्षशब्द इत्येकपदे वाक्येऽभिमन्यत इति। — वही, 2-330

6. भवत्वेवं सर्वदा वृक्षशब्द एव केवलः किं न प्रयुज्यते ? तत एव हि सामर्थ्यादिना वृक्षस्तिष्ठतीत्यर्थप्रतीतेः किमनेन विततेन वृक्षस्तिष्ठतीत्यादिकेन प्रयुक्तेनेति···। —पु०रा०वा० प०, 2-330

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि लौकिक शब्द-व्यवहार में लाघव के प्रति अनादर होने के कारण कहीं 'वृक्षः' तथा कहीं 'वृक्षस्तिष्ठति' का प्रयोग कर लिया जाता है। जिस प्रकार 'तरु' इस लघु शब्द से ही वृक्षार्थ की प्रतीति हो जाती है फिर भी 'पादप' शब्द का प्रयोग भी वृक्ष अर्थ के लिये किया जाता है इसी प्रकार कभी केवल 'वृक्षः' तथा कभी वृक्षस्तिष्ठति' का प्रयोग किया जाता है।[1]

पूर्वपक्ष का एक अन्य प्रश्न स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि केवल 'वृक्षः' के द्वारा कहीं पर वृक्षोदृश्यताम् तथा कहीं पर वृक्षोऽस्ति अर्थ कैसे प्रतिपादित होता है ?[2] इस प्रश्न का अखण्डपक्ष में समाधान करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि इन एक पद वाले वाक्यों का नियत अर्थ, अर्थ-प्रकरण के द्वारा व्यवस्थित होता है।[3]

श्रुतार्थापत्तिवादी एक शंका यह करते हैं कि पूर्वोक्त, अर्थ का लक्षण, कि जिस शब्द के उच्चारण करते ही जो अर्थ ज्ञात होता है वही 'अर्थ' होता है, मानना उचित नहीं है क्योंकि यदि प्रतिपक्ष का चित्त अन्याक्षिप्त हो अथवा शक्तिग्रहण न होने के कारण उसे शब्द का उच्चारण होने पर अर्थ की प्रतिपत्ति न हो या अन्यथा हो तब तो शब्दार्थ-सम्बन्ध में अनित्यत्व दोष आ जाएगा जो उचित नहीं है। अतः शब्दार्थसम्बन्ध की हानि न हो इसलिये एक पद वाले वाक्यों में पदान्तर का (श्रुतार्थापत्ति द्वारा) अध्याहार करके वाक्यार्थावगति मानना ही उचित है।[4] श्रुतार्थापत्तिवादी यह भी कहते हैं कि यह मानना कि वृक्षः शब्द 'वृक्षस्तिष्ठति' का बोध कराता है

---

1. एतदुक्तं भवति—यथा लौकिके शब्दव्यवहारे लाघवं प्रत्यनादरात् क्वचिद् वृक्षः क्वचिद् वृक्षस्तिष्ठतीति प्रयुज्यते। यथा तरुशब्देनैव लाघवाद् वृक्षार्थप्रतीतौ पादप-शब्दं प्रयुञ्जते एव लौकिका इति न कश्चिद् दोषः। —वही, 2—330
2. अथ वृक्ष इति केवलं नामपद क्वचिद् वृक्षो दृश्यतां क्वश्चिद् वृक्षोऽस्तीत्येवंविधस्य नियतस्यार्थस्य विशेषभेदेन कथं प्रतिपादकं स्यादिति···। —वही, 1-330
3. एषामेकपदानां वाक्यानां प्रतिनियतोऽर्थोऽर्थप्रकरणाभ्यां व्यवस्थाप्यते। —वही, 2।330
4. अथ यस्मिनुच्चारित इत्यादिकं यदि शब्दार्थलक्षणमाश्रीयते तदा शब्दादुच्चारितात् प्रतिपत्तुरन्याक्षिप्तचित्तत्वादकृतसंकेतत्वाद्वा सत्यामर्थप्रत्तिपत्तौ कुतश्चिद् भ्रमाद्वाऽन्यथाप्रतिपत्तौ तदर्थानवगतेरनित्यत्वमेव शब्दार्थसम्बन्धस्य स्यात्, न चैतद्युक्त-मिति···। —पु० रा० वा० प०, 2-332

तथा

कुतश्चिन्निमित्तादर्थानवगतौ शब्दार्थसम्बन्धहानिः प्राप्नोति तस्मादेकपदेषु पदान्तराध्याहारेण वाक्यार्थावगतिरुपपन्नेति···। —वही, 2-333

उचित नहीं है क्योंकि साधन का अभिधायक शब्द आख्यात का अभिधायक कैसे हो सकता हैं। अतः यही मानना उचित है कि आख्यात शब्द अथवा नाम शब्द केवल स्वार्थ फा प्रतिपादन करके सापेक्ष ही निवृत हो जाते हैं। उस विनिवृत्त शब्द का अर्थ, अर्थान्तर की सन्निधि को, तद्वाचक शब्द की प्रकल्पना द्वारा उपस्थित करता है। तभी सम्पूर्ण वाक्यार्थ का प्रत्यायन होता है।[1]

इस प्रकार श्रुतार्थापत्तिवादियों के अनुसार जब तक समस्त पद किसी न किसी रूप में उपस्थित नहीं होंगे तब तक वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होगा अतः उनके अनुसार वाक्य पदों से अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अखण्डवाक्यवादी श्रुतार्थापत्ति द्वारा पद की उपस्थिति नहीं मानते। पुण्यराज अखण्डपक्ष में श्रुतार्थापत्ति प्रमाण का निराकरण स्पष्ट करने हुये कहते हैं कि श्रुतार्थापत्तिवादी जो अप्रयुक्तपद की सन्निधि मानते हैं, क्या वे शब्द के द्वारा शब्द का आक्षेप मानते हैं अथवा अर्थ के द्वारा या फिर शब्द के द्वारा अर्थ का आक्षेप अथवा अर्थ के द्वारा अर्थ का आक्षेप मानते हैं?[2] शब्द के द्वारा शब्द का आक्षेप संभव नहीं है क्योंकि शब्द का आक्षेप केवल स्वार्थ में हो सकता है।[3] अर्थ के द्वारा भी शब्द का आक्षेप नहीं हो सकता क्योंकि वाच्य में ही वाचक का आक्षेप होता है। अतः अन्य शब्द के अर्थ का तथा अन्य शब्द का वाक्यवाचक भाव न होने के कारण अर्थ से शब्द का आक्षेप सम्भव नहीं है।[4] यदि यह कहा जाए कि उच्चारित शब्द से

---

1. यस्मात् साधनवृत्ताभिधायी सत्वप्रधानः शव्दो न स एव प्रधान भूतस्या (र्थस्य-प्रतिपाद्यस्यासत्वभूतस्या) भिधायको उपपद्यते, विरोधात्.... असावाख्यातशब्दो नामशब्दो वा स्वार्थमेव केवलं प्रतिपाद्य सापेक्षः साकांक्ष एव विनिवर्तते। तस्य विनिवृत्तस्य सम्बन्धी त्वर्थः। अर्थान्तरस्य तद्वाचकशव्दप्रकल्पनद्वारेण सन्निधिमुपकल्पयति, ततश्च वाक्यार्थप्रत्ययः परिपूर्ण उपजायत इत्येव युक्तमिति।
—वही, 2-335

2. तदत्र किं शव्देन शव्द आक्षिप्यते, उतार्थेन शब्दः, आहोस्विच्छब्देनार्थः उतार्थेनार्थ इति चतुष्टयी गतिः। —पु० रा० वा० प० 2-336

3. तत्र शव्देन शव्दस्याक्षेपो न युज्यते, स्वार्थप्रतिपादन एव शब्दाक्षेपात्।
—वही, 2-336

4. अथार्थेन शब्दाक्षेप इत्युच्यते,...। नापि शब्दाक्षेपो युज्यते, वाच्ये तु वाचकमाक्षिपतीति युक्तम्। अतोऽन्यशब्दार्थस्य शब्दान्तरस्य च वाच्य-वाचकताविरहात् कथमर्थेन शब्दस्याक्षेपः। —वही, 2-336

श्रुतार्थापत्ति द्वारा परिकल्पित शब्द का वाच्य अर्थ आक्षिप्त होता है। यह भी उचित नहीं है क्योंकि शब्दान्तर द्वारा वाच्य अर्थ की सन्निधि शब्द से कैसे उपपन्न हो सकती है ? वाच्यवाचक भाव का अभाव होने के कारण शब्द से अर्थ का आक्षेप कैसे हो सकता है ?[1]

अतः एक पद रूप वाक्यों में श्रुतार्थापत्तिप्रमाण द्वारा शब्दान्तर का आक्षेप करके अर्थावगति पक्ष उचित नहीं है। एक पद ही शब्दान्तर सम्बन्ध के बिना ही अर्थप्रकरण के द्वारा तदर्थ का प्रत्यायन करने में निपुण है, यही मानना चाहिये।[2]

अखण्डवाक्यपक्ष में श्रुतार्थापत्तिवादियों द्वारा उठायी गयी एक अन्य शंका यह है कि यदि एक ही पद सत्व एवं भाव दोनों अर्थों को (प्रकरणादिवश) बिना शब्दान्तर के सन्निधान के अभिहित कर देता है तो पदों का चार प्रकार से जो विभाजन किया जाता है वह व्यर्थ हो जाएगा। अर्थात् आख्यात क्रियाप्रधान है, नाम सत्व प्रधान है, ऐसा विभाग सम्भव नहीं होगा।[3] इस शंका का निवारण स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अखण्डवाक्य का ही वक्ता की बुद्धि में नित्यत्व देखकर तथा उसी अखण्ड वाक्य का ही प्रतिभालक्षण अर्थ के साथ सम्बन्ध देखकर ही आचार्य वार्ताक्ष एवं औदुम्बरायण ने पद पदार्थ प्रविभाग को स्वीकार नहीं किया। पदों का चार प्रकार से विभाजन उपपन्न नहीं है।[4]

---

1. अथ शब्देनोच्चारितेन श्रुतार्थापत्तिपरिकल्पितशब्दवाच्योऽर्थ आक्षिप्यत इत्युच्यते, तदप्यनुपपन्नमिति···। न शब्दाच्छब्दान्तरवाच्यस्यार्थस्य सन्निधिरुपपद्यते, वाच्य-वाचकभावाभावादेवेति कथं शब्देनार्थस्याक्षेपः ?

—पु० रा० वा० प०, 2-336

2. एकपदमेव शब्दान्तराभिसम्बन्धमन्तरेण प्रकरणादिवशात् तत्तदर्थप्रत्यायननिपुण-मित्येव मन्तव्यम्।
—वही, 2-336

3. सर्वं सत्वपदं शुद्धं यदि भावनिबन्धनं।
संसर्गे च विभक्तोऽस्य तस्यार्थो न पृथग्यदि ॥
क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्वप्रधानता।
चत्वारि पदजातानि सर्वमेतद्विरुध्यते ॥

—वा० प०, 2-340, 341

4. वाक्यस्याखण्डस्य बुद्धौ प्रतिपतृबुद्धौ नित्यत्वं दृष्टवा तथा तस्यैवार्थेन प्रतिभा-लक्षणेन योगं सम्बन्धं दृष्ट्वा पदे तत्पदपरिकल्पनं पदार्थपरिकल्पनं च तत्रास्त्येव नैवोपपद्यत इत्याचार्याविहतुः। अतोऽस्माकमेषा विभीषिका यत्पदानां चतुष्ट्वं नोपपद्यत इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-342

यदि यह कहा जाए कि यदि पदपदार्थ विभाग सर्वथा असत्यभूत है तो लोक में पदों एवं पदार्थों को आश्रय मानकर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति क्यों होती है।[1] तो इसका भी उत्तर स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि लोक में समस्त व्यवहार ही सत्य अर्थ के द्वारा ही होता है। असत्य उपाय द्वारा मरीचिका में भी जल की प्रतीति होने लगती है।[2] अथवा यह भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार 'रेखागवय' (रेखाओं द्वारा चित्रित गवय) के द्वारा गवय अर्थ की प्रतीति भी होती है तथा वास्तविक गवय द्वारा भी, उसी प्रकार असत्य उपाय द्वारा भी सत्य रूप वाक्य का परिज्ञान होता है। तथा सत्य अखण्ड वाक्य के द्वारा वाक्य की प्रतीति होती है अतः पद-पदार्थ कल्पित है सत्यभूत नहीं है।[3]

इस प्रकार पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित अखण्ड-वाक्यपक्ष की स्थापना तथा पदवाद का खण्डन अपनी टीका में विस्तार पूर्वक किया है। पुण्यराज कहते हैं कि वाक्य में पृथक् रूप से पदों की कोई सत्ता नहीं है। वाक्यार्थ के अन्वाख्यान के लिये ही पदार्थ भेद अपोद्धृत किया जाता है। वह अखण्ड वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति का उपाय है। अतः अपोद्धार द्वारा पदार्थभेद करने पर उस पदार्थभेद से अलग ही वाक्यार्थ का स्वरूप प्रकट होता है।[4]

पुण्यराज कहते हैं कि पदों में जो साध्य साधन व्यवहार किया जाता है वह काल्पनिक है उनका परस्पर सम्बन्ध वास्तविक न होकर आपेक्षिक हैं।[5] यदि पद-पदार्थ-सम्बन्ध वास्तविक होता तो वस्तुस्वभाव को ब्रह्मा भी अन्यथा नहीं कर सकते

---

1. अथ यदि पदपदार्थविभागः सर्वथैवासत्यभूतस्तत्कथं लौकिकानां तदाश्रयेण वृत्त्यादय इति···। — वही, 2-344
2. लोके प्रतिपत्तणां सर्वथा न सत्वार्थयोगादेव प्रसिद्धयो व्यवहारनिष्पत्तयः, असत्येनाप्युपायेन मरीचिकास्वपि जलप्रसिद्धिस्तेषां दृश्यते। —वही, 2-354
3. अथवा रेखागवयवदसत्येनाप्यनेनोपायेन सत्यभूतवाक्यपरिज्ञानं भवत्येव, सर्वथा न लोकस्यार्थ बिना प्रवृत्याद्यो न सन्तीति वक्तव्यम्, कदाचित् सत्यगवयेन गवयार्थप्रतीतिरस्य जन्यते, कदाचिद् रेखागवयेनेति बोद्धव्यम्। यत एवं तस्माद्वाक्यात् सत्यभूतादखण्डाद्वाक्यार्थं प्रत्ययो जन्यत इति न कश्चिदलौकिकः सत्यभूतः पदार्थः पदं वा विद्यते, उपपत्तिविरहादिति। — पु० रा० वा० प०, 2-344
4. तस्यान्वाख्यानाय यो भेदेः पदार्थभेदोऽयोद्धियते, स तस्यैव प्रतिपत्तिनिबन्धनं बोद्धस्यः अतः पदार्थानां भेदे क्रियमाणे सति तेनापोद्धृतेन पदार्थभेदेनान्यदेव पदार्थव्यतिरिक्तं वाक्यार्थस्वरूपमुपवर्ण्यते प्रकटीक्रियते। —वही, 2-439
5. इदं साध्यमिदं साधनं तयोश्चाभिसम्बन्धः सर्वमेतत्काल्पनिकम्। —वही 2-428

परन्तु उनमें तो व्यवस्था दिखाई ही नहीं देती।[1] उदाहरण के लिये देवदत्तः पचति में पाक क्रिया प्राधान्य रूप में उपलब्ध होती है जबकि वही पचति क्रिया 'देवदत्तः पाकं करोति' वाक्य में कर्म रूप में व्यवस्थापित की गई है।[2] पदार्थों का अपना रूप व्यवस्थित नहीं होता, जैसे जैसे उनका निरूपण किया जाता है वैसे-वैसे प्रतीति होती है।[3] इसके विपरीत अनेकशक्तियुक्त वाक्यार्थ निर्विभाग है। उसमें विभाग पदार्थ द्वारा किया जाता है, जिससे वह नाना रूपों वाला दिखाई देता है। परमार्थतः तो वह एक ही है।[4] इस प्रकार यह निर्णय होता है कि वाक्य वाक्यार्थ सत्य हैं, पद पदार्थ असत्य है।[5]

---

1. यदि हि वास्तवमेतत्स्यात्तदा वस्तुस्वभावस्य ब्रह्मणाऽन्यथाप्यकर्त्तुमशक्यत्वाद् व्यवस्थितमेतद्भवेत्, न च तथा परिदृश्यत इति···।

—पु० रा० वा० प०, 2-429

2. देवदत्तः पचतीत्यत्र या पाकक्रिया प्राधान्येनोपलब्धा, सैव पचिक्रिया देवदत्तः करोतीत्यत्र कर्मत्वेन पक्तिः व्यवस्थापिता। —वही, 2-429

3. पदार्थानां स्वतो रूपं न किञ्चिद् व्यवतिष्ठते, यथा यथा निरुप्यन्ते तथा तथात्मानमासादयन्तीति···। —वही, 436

4. वाक्यार्थस्य नानाशक्तिखचितस्य निर्विभागस्योपाधिकृतपदार्थद्वारकः प्रविभागो नानारूपत्वमनुगम्यते। —वही, 2-440

5. तदिदं वाक्यार्थः सत्यरूपः, पदार्थस्त्वसत्य एवेति निर्णीतम्।

—पु० रा० वा० प०, 2-441

तथा

'स्फोट एव तु सिद्धान्ते वाक्यं वाक्येषु साधितम्॥'

'पदवादस्त्वननुमतो नेति व्याकरणे स्थितम्।'

—पु० रा० मेयसमुच्चयः श्लोक क्रमशः, 36, 49

चतुर्थ अध्याय

भर्तृहरि का वाक्यार्थ विवेचन

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड का मुख्य प्रतिपाद्य अखण्डवाक्यपक्ष की स्थापना करना है। इसीलिये आचार्य भर्तृहरि ने 'प्रतिभा' वाक्यार्थ पक्ष को सिद्धान्त पक्ष के रूप में स्वीकार करके[1] उसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है तथा अन्य वाक्यार्थों का पूर्वपक्ष के रूप में संक्षिप्त विवेचन किया है क्योंकि उनमें पदार्थ की सत्ता किसी न किसी रूप में स्वीकार की गई है।

आचार्य भर्तृहरि ने किसी विशेष क्रम में वाक्यार्थों का विवेचन नहीं किया जहाँ-जहाँ प्रसंग मिला वहीं उन्होंने वाक्यार्थ के विभिन्न प्रकारों का प्रदर्शन कर दिया है। पुण्यराज ने अपनी टीका के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि वाक्यार्थ के सम्बन्ध में कितने मतों का निर्देश आचार्य भर्तृहरि ने किया है तथा कौन-सा मत किस कारिका में प्रदर्शित किया गया है। इतना ही नहीं पुण्यराज ने ही यह स्पष्ट किया है कि आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित वाक्य के आठ लक्षणों[2] में से किस वाक्यलक्षण में कौन-सा वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार पुण्यराज भर्तृहरि के पूरक के रूप में सामने आते हैं।

वाक्यार्थ का विवेचन करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यार्थ के विषय में छह मतों का प्रदर्शन किया है। वे हैं प्रतिभा, ससर्ग संसृष्ट अर्थ, पदार्थ, क्रिया तथा प्रयोजन।[3]

खण्डपक्ष के अन्तर्गत आख्यात, संघात, क्रम, प्रथमपद तथा समस्त साकांक्ष पद ये पांच वाक्य लक्षण समाविष्ट किये हैं। पुण्यराज कहते हैं कि खण्डवाक्यपक्ष के

---

1. तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यम्, प्रतिभैव वाक्यार्थः···। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
   एवमखण्डमेव वाक्यं प्रतिभा च वाक्यार्थ इति समाश्रयणीयम्। —वही, 2-18
2. वाक्य के आठ लक्षणों का विस्तृत विवेचन 'पुण्यराज का वाक्य-लक्षण विवेचन' (द्वितीय) अध्याय में किया गया है।
3. तदेवं प्रतिभा, संसर्गः, संसर्गवशान्निराकांक्षो विशेषावस्थितः पदार्थ एव, संसृष्ट एवार्थः, क्रिया, प्रयोजनं चेति षड्वाक्यार्था इहोपदर्शिताः। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2

अन्तर्गत आने वाले पाँचों वाक्य-लक्षणों में आख्यातशब्द वाक्य पक्ष में क्रिया वाक्यार्थ होती है।[1] संघात पक्ष में एवं क्रम पक्ष मे संसर्ग वाक्यार्थ होता है।[2] जब अभिहितान्वय-वाद में संघात वाक्य होता है तब तो वाक्यार्थ संसर्ग होता है परन्तु जब अन्विता-भिधानवाद में संघात (पदसंघात) वाक्य होता है उस पक्ष में पदार्थ वाक्यार्थ होता है।[3] प्रथम पद वाक्य तथा सभी साकांक्ष पद वाक्य पक्ष में संसृष्ट अर्थ वाक्यार्थ होता है।[4] संसर्ग तथा पदार्थ वाक्यार्थ में अभिहितान्वय होता है तथा संसृष्ट एवं क्रिया वाक्यार्थ में अन्विताभिधान होता है।[5] प्रतिभा वाक्यार्थ में तो एकरसा प्रतिपत्ति होती है अतः उसमें अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान की चर्चा ही नहीं होती।[6] प्रयोजन वाक्यार्थ में अभिहितान्वय होता है।[7]

पुण्यराज कहते हैं कि अखण्डवाक्यपक्ष के अन्तर्गत आनेवाले अवयव-रहित स्फोट लक्षण शब्द, बुद्धि अनुसंहृति, जातिसंघातवर्तिनी इन तीनों वाक्य लक्षणों में 'प्रतिभा' वाक्यार्थ होता है। प्रयोजन वाक्यार्थ के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् कहते हैं कि यह सभी वाक्य लक्षणों में रहता है अतः सर्वलक्षण साधारण होने के कारण उसका वाक्यलक्षणों में पृथक् विभाजन नहीं किया जाता। निम्न तालिका द्वारा वाक्यार्थ विभाजन और भी स्पष्ट हो जाएगा—

अखण्डपक्ष

वाक्यलक्षण	वाक्यार्थ
अवयवरहित स्फोटलक्षण शब्द बुद्धि अनुसंहृति तथा जाति संघातवर्तिनी	(1) प्रतिभा

1. अवशिष्टेषु पञ्चसु लक्षणेषु मध्यादाख्यातशब्दो वाक्यमित्यस्मिन् पक्षे क्रिया—वाक्यार्थः। —वही, 2-1, 2
2. संघातपक्षे क्रमपक्षे च संसर्गो वाक्यार्थः। —वही, 2-1, 2
3. संघातपक्ष एव···विशेषविश्रान्तः पदानामेवार्थो वाक्यार्थ इति लक्ष्यते। —वही, 2-1, 2
4. पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यस्मिन् तु
   पक्षद्वये संसृष्ट एव प्रथमतरं प्रक्रम्यते वाक्यार्थः॥ — वही, 2-1, 2
5. संसर्गे संसर्गवशाद्विशेषावस्थिते पदार्थे च वाक्यार्थेऽभिहितान्वयः। ससृष्टे क्रियायां चान्विताभिधानम्। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
6. प्रतिभायां त्वेकरसैव प्रतिपत्तिरिति न तत्र काचिदभिहितान्वयान्विताभिधानचर्चा। —वही, 2-1, 2
7. प्रयोजने त्वभिहितान्वय एव। —वही, 2-1, 2

खण्डपक्ष

वाक्यलक्षण	वाक्यार्थ
संघात (अभिहितान्वयपक्ष में)	
क्रम	(2) संसर्ग
प्रथम पद वाक्य, सभी साकांक्ष पदवाक्य	(3) संसृष्ट अर्थ
संघात (अन्वितमिधान पक्ष में)	(4) पदार्थ
आख्यात शब्द	(5) क्रिया
सर्वलक्षण साधारण	(6) प्रयोजन वाक्यार्थ

1. प्रतिभा वाक्यार्थ पक्ष :—प्रतिभा वाक्यार्थ को यद्यपि नैयायिक स्वीकार नहीं करते है। जयन्त भट्ट के मत को स्पष्ट करते हुये सुब्रह्मण्या अय्यर ने अपने लेख[1] में लिखा है कि पूर्वपक्ष के रूप में जयन्त भट्ट ने प्रतिभा वाक्यार्थ के सम्बन्ध में दो शंकाए उठाई है—क्या यह केवल ऐसा ज्ञान है जिसका मस्तिष्क से बाहर कोई आधार नहीं है अथवा मस्तिष्क से बाहर भी कोई आधार है। पूर्व मत को संक्षेप में स्पष्ट करते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि वाक्यार्थ केवल वह ज्ञान है जिसमें शब्दों के अर्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है।[2] इस मत का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है कि अवश्य ही वाक्यार्थ का कोई बाह्य आधार होता है। अन्यथा 'गौ शुक्ला समानीयताम्' 'तथा' 'गौरश्व: पुरुषो हस्ती' इन पदसमूहों के ज्ञान में अन्तर नहीं ढूंढ़ सकते।

परन्तु वैयाकरणों ने तर्क तथा युक्तियों के द्वारा प्रतिभा वाक्यार्थ का प्रतिपादन एवं प्रतिष्ठापन किया है।

प्रतिभा शब्द का साधारण अर्थ प्रज्ञा अथवा ज्ञान है अर्थात् 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' ही प्रतिभा है। पण्डित गोपीनाथ कविराज ने प्रतिभा का प्रयोग दो अर्थों में किया है। एक किसी भी ज्ञान के लिये जो इन्द्रियजन्य नहीं है तथा न ही अनुमान के स्वरूप वाला है। दुसरा अर्थ आगमशास्त्रों तक ही सीमित है। आगमशास्त्रों में प्रतिभा का अर्थ "परा संवित" या "चितिज्ञान" है।[3]

---

1. "प्रतिभा एज दि मीनिंग आफ सेन्टेन्स" (ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स वॉल्यूम 10) लेख में उद्धृत न्याय मन्जरी का उद्धरण।
2. "तस्माद् बाह्यस्य वाव्यार्थस्य सर्वप्रकारमसंभवात् पदार्थसंसर्गनिर्भासं ज्ञानं वाक्यार्थो भवितुमर्हति। वही
3. "दि डॉक्ट्रिन ऑफ प्रतिभा इन इण्डियन फिलासफी" एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट वॉल्यूम 5.

प्रतिभा ज्ञान का एक प्रकाश है जो वाक्य के श्रवण होते ही प्रकाशित होता है और अर्थों को प्रकाशित करता है। केनोपनिषद् में भी ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि ब्रह्म का ज्ञान पलक झपकने के समान तथा विद्युत के चमकने के समान है। जिस प्रकार पलक खुलते ही सारे पदार्थ प्रकाशित होते जाते हैं तथा बिजली के चमकते ही उस क्षण अन्धकार को चीरकर सब कुछ दिखाई देता है, उसी प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर जो ज्ञान होता है उससे संसार की सभी ग्रन्थियाँ सुलझ जाती है।[1] प्रतिभा भी ऐसा ही ज्ञान है जिसके द्वारा सारे विषय प्रकाशित होते हैं।

तत्वसंग्रहकार कमलशील का प्रतिभा के सम्बन्ध में मत स्पष्ट करते हुए सुब्रह्मण्या अय्यर लिखते हैं कि अभ्यासात् प्रतिभा हेतु :—[2] इत्यादि कारिका की व्याख्या करते हुए कमलशील कहते हैं कि एक ही वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिये बार-बार उस एक ही शब्द का प्रयोग देखने के कारण शब्द श्रोता की बुद्धि में प्रतिभा को उत्पन्न करने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते तथा पदार्थ को साक्षात् रूप से अभिव्यक्त नहीं करते।[3]

अय्यर महोदय ने प्रतिभा के दो रूपों का निर्देश किया है। एक वक्ता की प्रतिभा दूसरी श्रोता की प्रतिभा। शब्दों के उच्चारण करने से पूर्व का ज्ञान वक्ता की प्रतिभा तथा शब्दों के श्रवर्ण के बाद उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रोता की प्रतिभा है।[4]

वाक्यार्थ के रूप में प्रतिभा का सर्वप्रथम तर्कयुक्त विवेचन आचार्य भर्तृहरि ने किया है।[5] आचार्य भर्तृहरि व्याकरण सम्बन्धी जिस दार्शनिक विचारधारा का पल्लवन करते है उसके अनुसार शब्दतत्व ब्रह्म है तथा संसार की समस्त प्रक्रियाएँ

---

1. ''यदेतद विद्युतोध्युतदा इतीन्न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम्। केनोपनिषद्

2 वा० प० 2—117

3. 'अन्ये त्वाहुरभ्यासात्प्रतिभाहेतु शब्दो न तु बाह्यार्थप्रत्यायक इति। तथा सर्वेऽर्थ-वत्यम्मता वृक्षादयः शब्दा यथाभ्यासं प्रतिभामात्रोपसंहारहेतवो भवन्ति न त्वर्थं साक्षात् प्रतिपादयन्ति।' सुब्रह्मण्या अय्यर द्वारा अपने लेख में उद्धृत।

4. वही लेख

5 विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्॥ वा० प० 2/143

उसी से ही अर्थ रूप में प्रकाशित होती है ।[1] अतः वाग्रूपता ही समस्त व्यवहार की कारणभूता है। यदि वाग्रूपता निकल जाए तो कोई भी प्रकाश प्रकाशित न हो सकेगा ।[2]

आचार्य भर्तृहरि के मत को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते है, कि आचार्य भर्तृहरि के अनुसार वाक्य अखण्ड है, एक है तथा अवयव रहित स्फोट लक्षण है तथा वाक्यार्थ भी प्रतिभा है एवं उनका सम्बन्ध अध्यास है ।[3] "देवदत्त गामम्याज शुक्लां दण्डेन" इत्यादि वाक्यों में पदों का अपना कोई अर्थ नहीं होता। जिस प्रकार वाक्य निराकांक्ष एवं पदव्यतिरिक्त है, वाक्यार्थ भी निराकांक्ष अखण्ड एवं पदार्थों से व्यतिरिक्त है ।[4] सम्पूर्ण वाक्य के श्रवण से श्रोता की बुद्धि में एक प्रकाश उत्पन्न होता है, वह प्रकाश अथवा ज्ञान ही वाक्यार्थ है तथा उसे ही प्रतिभा कहते हैं। जब तक पूरा वाक्य सुनाई नहीं देता तब तक वह "प्रकाश" बुद्धि में उत्पन्न नहीं होता। "देवदत्त गामम्याज" इस सम्पूर्ण वाक्य के श्रवण करते ही गोकर्मक आनयन रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। यही वाक्यार्थ है। यह प्रतिभा पदार्थ बुद्धि से अलग होती है ।[5] वाक्यार्थ में जो पदार्थ भेद दिखाई देता है यह वास्तविक नहीं अपितु पदार्थ रूप उपाधि के कारण उसकी प्रतीति होती है ।[6] यद्यपि प्रतिभा रूप वाक्यार्थ देवदत्त, गाम, अभ्याज, इत्यादि पदार्थों द्वारा अवगत होता है अतः उनमें समन्वित सा प्रतीत होता है, फिर भी वास्तव में प्रतिभा पानकरस के समान अखण्ड एवं निर्विभाग है। वाक्यार्थ की अवगति में पदार्थ

---

1. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् ।
   विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। वा० प० 1/1

2. वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
   न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। वां० प० 1/124

3. वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयः शब्द स्फोटलक्षणो वाक्यम्। प्रतिभैव च वाक्यार्थः अध्यासश्च सम्बन्धः। पु० रा० वा० प० 2/1.2

4. देवदत्त गामम्याजेत्यादौ वाक्ये देवदत्तादीनां पृथगर्थो नास्त्यनर्थकान्येव पदानि। अतश्च स्थितमेतद् यदखण्डं निराकांक्षमेकं पदव्यतिरिक्तं वाक्यं पदार्थव्यतिरिक्तो वाक्यार्थश्च तथैवति। पु० रा० वा० प० 2/14

5. देवदत्तादिपदेभ्यो विच्छिन्नेभ्यस्तदर्थानां विच्छेदेनैव ग्रहणे प्रत्ययवेलायामेका प्रतिभा पदार्थमतिव्यतिरिक्ता जायते, तां च वाक्यार्थं वैयाकरणाः आहुः पु० रा० व० प० 2/143

6. पदार्थैरसत्यैरेवोपाधिभूतैरुपपादितामभिव्यक्तामिति। पु० रा० वा० प० 2/14

ज्ञान अनुपकारक हैं ।[1] पुण्यराज उदाहरण द्वारा वाक्यार्थ की अखण्डता को स्पष्ट करते हुए कहते है कि "इग्यणः सम्प्रसारणम्" सूत्र में इग्यणः वाक्य से 'इक् के स्थान पर यण् आदेश' इस वाक्यार्थ की अवगति होती है । इस स्थानी-आदेश-भावलक्षण वाक्यार्थ की ही सम्प्रसारण संज्ञा होती है । यदि वाक्यार्थ अखण्ड न होता तो "सम्प्रसारणम्" यह एक पद इक् के स्थान पर यण इस वाक्यार्थ के लिये प्रयुक्त न होता । अतः प्रतिभा रूप वाक्यार्थ अखण्ड ही है ।[2]

वाक्यार्थावगति के समय दूसरों के प्रति इसका वर्णन नहीं किया जा सकता यह तो स्वसंवेदनसिद्धा है और स्वसंवेदन के समय प्रतिपत्ता भी नियत रूप से इसका निरूपण नहीं कर सकता ।[3] यह असंसृष्ट पदार्थों का मेलन कराती है तथा वाक्य में पदार्थ के विषय के रूप में रहती है ।[4] प्रतिभानिष्ठ ही पदार्थ सफलता को प्राप्त करते हैं ।[5] अर्थात् प्रतिभा के अभिव्यंजक पदार्थ ही सफल होते है अन्यथा व्यर्थ हैं । प्रतिभा सर्वरूपा है अर्थात् समस्त वाक्यार्थरूपा है ।

आचार्य भर्तृहरि प्रतिभा की उत्पत्ति दो प्रकार से मानते हैं साक्षात् शब्द (वाक्य)[6] द्वारा तथा जन्मान्तर भावना के द्वारा अर्थात् पूर्व जन्मों में बोले गये शब्द की

---

1. देवदत्त गामम्याजेत्यादिभिः पदार्थैर्यः प्रतिभालक्षणोऽर्थः समन्वितः इव, परमार्थतस्तु निर्विभागः पानकरसादिवत् प्रतीयते, तत्र पदार्थदर्शनमवयवार्थप्रतिभासोऽनुपकारक एव मन्तव्यः । पु० रा० वा० प० 2/16.17
2. इग्यण इति योगे स्थान्यादेशभावलक्षणो वाक्यार्थः सः सम्प्रसारणमिति व्यपदिश्यते । अतः सम्प्रसारणमित्येवमेकसंख्येन लघीयस्त्वान्मात्रतया व्यपदिश्यते । तस्य योगो यदा न परिदृष्टस्तदैतवगम्यते यदुतानंश एक एवाखण्डस्वरूपोऽसौ वाक्यार्थोऽन्यथा सम्प्रसारणमित्यनेनैकेसंख्याकेन कथं युज्येत वक्तुम् । पु० रा० वा० प० 2/440
3. इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथंचन ।
   प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा कर्त्रापि न निरूप्यते ॥ वा० प० 2/144
4. उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता ।
   सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥ वा० प० 2/145
5. तन्निष्ठास्ते साफल्य भजन्त इति । पु० रा० वा० प० 2/145
6. यहाँ यह ध्यातव्य है कि भर्तृहरि के अनुसार शब्द ही वाक्य है और वाक्य ही शब्द है । विस्तार के लिये पृ० 70 देखिये **एकोऽनवयवः शब्दः वाक्यम्** 'तथा डा० महावीर द्वारा केन्द्रींय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा विभाग', मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका भाषा में लिखा गया लेख (पाणिनि का शब्द-महत्त्वपूर्ण भाषिक तत्व), 1986

भावना के द्वारा उत्पन्न प्रतिभा के द्वारा तथा इस जन्म में शब्दों के श्रवण द्वारा ही इतिकर्त्तव्यता होती है।[1] इस प्रकार जिन को तो भाषा ज्ञान है उनकी प्रतिभा के हेतु तो शब्द है ही जिन्हें भाषा ज्ञान नहीं है ऐसे जड़प्राय पक्षियों तथा अविदितसंकेत बालकों की भी प्रतिभा का हेतु शब्द ही होता है। इसीलिये जड़प्राय प्राणियों के सम्बोधन के लिए भी नियत पद वाले शब्दों का उच्चारण किया जाता है। अर्थात् भिन्न-भिन्न पक्षियों को पुकारने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजें निकाली जाती है। अतः जन्तुओं का व्यवहार भी प्रतिभामूलक।[2] आसत्ति और विप्रकर्ष के कारण आगम (अर्थात् शब्द) ही प्रतिभा का मूल है। यह शब्द कभी साक्षात्रूप में कारण होता है तो कभी परोक्ष रूपमें—शब्दभावना के द्वारा प्रतिभा की उत्पत्ति होती है।[3]

अभ्यास के कारण शब्द प्रतिभा को उत्पन्न करते है।[4] अर्थात् नित्य प्रति गौः शब्द का प्रयोग गो पिण्ड में देखने के अभ्यास के कारण गौः का श्रवण होते ही गो पिण्ड का ज्ञान हो जाता है। वह अभ्यास अनागम अर्थात् केवल इस जन्म का ही नहीं होता। बालक को उसी समय कोई स्वाभाविक क्रियाओं के लिए उपदेश नहीं देता। वह तो

---

1. साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इतिकर्त्तव्यतायां तां न कश्चिदनुवर्तते ।। वा० प० 2/146

2. आस्तां विदितसमयस्य किं न भविष्यत्यसौ प्रतिभाहेतुः येऽप्यविदितसंकेता अमी बाला जडप्राया वा तिर्यञ्चः, तेषामप्यनादिवासनावशात्तदर्थः प्रतीयमानो दृश्यते शब्दः। तथा च जडानामपि प्राणिनां नियतपदः शब्दः सम्बोधनायोदीर्यते। तेन प्रतिनियतजात्यनुसारेणैव नियतैव काचित् प्रतिभा प्रबोध्यत इति तन्मूल एव सर्वः कश्चित्तेषां व्यवहारः। पु० रा० वा० 2/117

3. भावनानुगतादेतदागमादेव जायते।
आसत्तिविप्रकर्षाभ्यामागमस्तु विशिष्यते !। वा० प० 2/151
आगम का अर्थ यहाँ 'शब्द है'। उपर्युक्त कारिका की टीका करते हुये पं० रघुनाथ शर्मा भी आगम का अर्थ शब्द ही लेते है—'इह जन्मनि जन्मान्तरे वा समुपजाता या भावना तत्प्राणिजात्युचितव्यवहारानुकूला तां कारणत्वेनानुगतात् = अनुसंहृतात् आगमादेव = शब्दादेव—पं० रघुनाथ शर्मा वा० प० 2—151
पुण्यराज भी आगम का अर्थ यहां शब्द ही लेते है—"प्रतिभायाश्च शब्द एव मूलमित्याह।" पु० रा० प० 2/151

4. अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः। वा० प० 2/117 क

जन्मान्तर भावी होता है।[1] अभ्यास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि वह अभ्यास "इसके पश्चात् यह करना है" इस प्रकार के उपदर्शन के स्वभाव वाला है।[2] पुण्यराज उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है कि जिस प्रकार कशा के अभिघात मात्र के अनन्तर ही घोड़े तेज भागने लगते है, अंकुश के प्रहार से हाथी भागने लगते है उसी प्रकार सभी प्राणी अनादिवासना के अभ्यासवश प्रतिभा से ही समुचित व्यवहार करते हुए लोकयात्रा चलाते है।[3] जिस प्रकार अन्य किसी प्रयत्न की अपेक्षा के बिना केवल परिपाक के द्वारा ही द्रव्यविशेषों में मदादि शक्तियाँ दिखाई देती है उसी प्रकार प्रतिभावानों में प्रतिनियत संस्कार से उत्पन्न प्रतिभा की उपलब्धि बिना प्रयत्न के स्फुट रूप में होती है।[4] मधुमास में पुंस्कोकिल का पञ्चम स्वर में गाना, लूता जन्तुओं का जाला बनाना जन्मान्तर में सुने गये शब्द के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा का ही माहात्म्य है।[5] पशु पक्षियों को आहार, प्रेम, परस्पर द्वेष, जल आदि में प्लवनादि क्रीड़ायें कौन सिखाता है?[6] ये क्रियायें नियत अनादि प्रतिभा के कारण ही होती है।[7]

प्रतिभा वाक्यार्थ के सम्बन्ध में नागेश अपनी लघुमञ्जूषा में लिखते हैं कि वाक्यार्थ प्रतिभा नहीं है प्रतिभा का विषय है इसीलिये प्रतिभा को वाक्यार्थ कहा जाता है।[3] वेलरीसुब्बारव भी कहते हैं कि यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि प्रतिभा वाक्य

1. अनागमश्च सोऽभ्यासः समयः कैश्चिदिष्यते। वा० प० 2/118 क
   स चाभ्यासोऽनागम इदानीन्तनो न भवति। न हि बालस्य तदैवोपदिष्टें केनचिदति जन्मान्तरभाव्येव स च समय इष्यते। पु० रा० वा० प० 2/118 क
2. अनन्तरमिदं कशार्यमस्मादित्युपदर्शकम्। वा०प० 2/118 क
3. यथा कशाभिघामात्रसमनन्तरमेव वाजिनोऽतियन्ति, अङ्कुशाभिघातेन च गजाः, एवमन्येऽपि प्राणिनोऽनादिवासनाभ्यासवशेन प्रतिभातः समुचितव्यवहारं कुर्वन्तो लोकयात्रां निर्वाहयन्तीति स्थितम् पु० रा० वा० प० 2/118
4. स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः।
   जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः॥ वा० प० 2/149
5. यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः।
   मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा॥ वा० प० 2/148
6. आहारप्रीत्यपद्वेषप्लवनादिक्रियासु कः।
   जात्यन्वयप्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम्॥ वा० प० 2/150
7. प्रतिप्राण्याहारादिक्रिया नियतानादिभावनावशादेवेति प्रसिद्धम।
   पु० रा० वा० प० 2/150
8. प्रतिभामात्रविषयत्वाच्च वाक्यार्थ इति व्यवहारः। लघुमञ्जूषा

का अर्थ है। उन्होंने कहा है कि प्रतिभा वाक्यार्थ नहीं अपितु वाक्यार्थ प्रतिभा का विषय होता है अर्थात वाक्य के श्रवण से प्रतिभा रूप ज्ञान उत्पन्न होता है जिसके द्वारा वाक्यार्थ की अवगति होती है। उन्होंने वाक्यार्थ और ज्ञान (प्रतिभा) को पृथक्-पृथक् मान लिया है।[1] परन्तु भर्तृहरि प्रतिभा एवं वाक्यार्थ को अलग-अलग नहीं मानते क्योंकि "गामानय" इत्यादि वाक्यों के श्रवण से "गो कर्मक आनयन" इत्यादि जो ज्ञान अर्थात् प्रतिभा उत्पन्न होती है वह प्रतिभा ही तो वाक्यार्थ है।

प्रतिभा के भेद :—प्रतिभा की उत्पत्ति छः प्रकार से होती है इस कारण प्रतिभा को छः प्रकार का कहा गया है—1. स्वाभाविकी प्रतिभा 2. चरणनिमित्ता प्रतिभा 3. अभ्यासनिमित्ता प्रतिभा 4. योगनिमित्ता प्रतिभा 5. अदृष्टनिमित्ता प्रतिभा तथा 6. विशिष्टों से उपहित प्रतिभा।[2]

पुण्यराज ने केवल स्वाभाविकी प्रतिभा का ही उदाहरण दिया है अन्य उदाहरणों को ऊह्य कहकर छोड़ दिया है। आचार्य भर्तृहरि की खण्डित अवस्था में प्राप्त वृत्ति में दिये गये उदाहण इस प्रकार :—

1. स्वाभाविकी प्रतिभा :—पुण्यराज ने स्वाभाविकी प्रतिभा का उदाहरण बन्दरों की क्रियाएँ दिया है।[3] आचार्य भर्तृहरि परा प्रकृति की महत् के रूप में परिणति को स्वाभाविकी प्रतिभा मानते हैं। परा प्रकृति में महत् के परिणाम की पूर्व प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है। इस स्वाभाविकी प्रतिभा की तुलना सुषुप्त अवस्था वाले व्यक्ति के प्रबोध के साथ की गई है।[4]

---

1. Bhartrihari and Puṇyarāja maintain that, in the opinion that a Sentence is a unitary whole, Pratibha is the import of the sentence. But it appears very strange how 'Intution' can be the meaning of a sentence. It may be that the sentence meaning is the theme of intution but not the Intution itself. P. 82
— Philosophy of Sentence and its Parts

2. स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम्।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः॥ वा० प० 2/152

3. स्वभावेन यथा कपिः। पु० रा० वा० प० 2/152

4. तद्यथा परस्याः (प्रकृतेः) प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्रायाः। भर्तृहरिवृत्ति वा० प० 2/152

2. चरणनिमित्ता प्रतिभा :—वसिष्ठ इत्यादि ऋषियों की प्रतिभा जो उन्हें वेद विशेष की शाखा के अध्ययन द्वारा प्राप्त होती है ।[1]

3. अभ्यासनिमित्ता प्रतिभा :—उन व्यक्तियों का ज्ञान जो यह बताते हैं कि किसी कुएँ या तालाब को खोदने से पानी कहाँ मिलेगा । यह ज्ञान लम्बे अभ्यास के बाद प्राप्त होता है ।[2]

4. योगनिमित्ता प्रतिभा :—योग के द्वारा यह ज्ञान हो सकता है कि कब किस व्यक्ति के मन में क्या है।[3]

5. अदृष्टनिमित्ता प्रतिभा :—अपने पूर्वजन्म के कर्मों द्वारा प्राप्त अदृष्टशक्ति जिसके द्वारा अनेक कार्य किये जा सकते हैं । राक्षसों और पिशाचों की शक्तियां इसका उदाहरण है इनसे वे दूसरों के शरीर के अन्दर भी प्रवेश कर सकते हैं ।[4]

6. विशिष्टों से उपहिता प्रतिभा :—विशेष महापुरुषों द्वारा दिया गया विशेष ज्ञान इस प्रतिभा का उदाहरण है । जैसे कृष्णद्वैपायन द्वारा संजय को दिया गया विशेष ज्ञान जिसके द्वारा वह युद्ध को साक्षात् देख सके ।[5]

इन छः प्रकारों का वर्णन करते हुए सुब्रह्मण्य अय्यर ने यह कहा है कि "प्रतिभा के इन छः प्रकारों द्वारा एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वाक्य द्वारा जो अर्थ प्राप्त होता है वह प्रतिभा ही है । उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, परन्तु प्रतिभा, शब्द द्वारा ही उत्पन्न होती है यह कहना संगत नहीं है । स्वभाव, योग इत्यादि द्वारा भी प्रतिभा उत्पन्न होती है जिसमें शब्दों का कोई योगदान नहीं होता ।"[6]

---

1. चरणनिमित्ता काचित् प्रतिभा । तद्यथा का (च) रणेनैवावघृतप्रकाशविशेषाणां (वसिष्ठादीनाम्) । भर्तृहरिवृत्ति वा० प० 2/152
2. अभ्यासनिमित्ता काचित् । तद्यथा—कूपतटाकादीनाम् (कादिखनकानाम्) । वही
3. योगनिमित्ता काचित् । तद्यथा —योगिनामव्यभिचारेण पराभिप्रायज्ञानादिषु । वही
4. काचिददृष्टनिमित्ता तद्यथा—रक्षः पिशाचादीनां परावेशान्तर्धानादिषु ।
5. काचिद्विशिष्टोपहिता । तद्याथ—सञ्जयादीनां कृष्णद्वैपायनादिभिः । वही
6. One must however remember that while the meaning understood from words is always in the nature of Intution. One cannot maintain that according to Bhartihari it is always aroused in that way and not in other. He has enumerated Six causes of awakening of Intution and some of them do not involve the use of words at all. Svabhava is one of them and if the singing of the cuckoo in spring is an example of it, it does not involve the use of words, Nor can there be any use of words when the Yogi understands what is going on in the minds of others.

—(Bhartrihari, a critical study with special reference to its commentaries) Subrahmanya Iyer.

अय्यर महोदय का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि भर्तृहरि का दर्शन ही शब्दपरक है। वह शब्द से बाहर कुछ भी नहीं मानते प्रतिभा का शब्द के अतिरिक्त कोई स्त्रोत नहीं है तथा शब्द द्वारा प्रकाशित प्रतिभा के अतिरिक्त और कोई ज्ञान है ही नहीं। स्वाभाविकी प्रतिभा एव योगियों की प्रतिभा के पीछे भी पूर्व-जन्म या इस जन्म में सुने गये शब्द की ही भावना है। जो भी स्वाभाविक अथवा यौगिक क्रियाएँ की जाती है उनका कारण किसी न किसी काल में सुने गये शब्द ही हैं।[1]

इस प्रकार पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा विवेचित प्रतिभा वाक्यार्थ को विस्तार से स्पष्ट किया है। उन्होंने इस सर्वज्ञानमयी सर्वशक्तिमयो प्रतिभा को "भगवती" कहा है। अर्थात् इस प्रतिभा रूप "भगवती" को ही सभी प्रमाण रूप में देखते है। प्रतिभामूलक ही समस्त व्यवहार होता है। कालिदास ने भी कहा है कि सन्देहास्पद वस्तुओं के विषय में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती है। अतः प्रतिभा के अपह्लव से आत्मा को धोखा नहीं देना चाहिए।[2]

(2) संसर्ग वाक्यार्थ पक्ष

संसर्ग वाक्यार्थ के सम्बन्ध में पुण्यराज कहते हैं कि संघात वाक्य एवं क्रमवाक्य पक्ष में वाक्य का अर्थ संसर्ग होता है। पुण्यराज ने टीका में उस कारिका को उद्धृत किया है जिसमें संसर्गवाक्यार्थ का विवेचन हुआ है।[3]

पुण्यराज संसर्ग वाक्यार्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि केवल पद जिस अर्थ का वाचक होता है यदि उसका वाक्य में प्रयोग किया जाए तो भी वह उस अर्थ का अभिधान करता है। बाद में समुदाय में पदों का परस्पर अन्वय होने पर अलग-अलग

---

1. एवं प्रतिभा बहुविधाऽपि सर्वैत्रागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या—
(भर्तृहरिवृत्ति 2/152

2. सर्वःकश्चित्तामेव भगवतीं स्वप्रतिभां प्रमाणत्वेन पश्यति। तथा चोक्तम्—
"सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" इति। तन्मूल एवं व्यवहार इति न तदपह्लवेन आत्मा वञ्चनीयः। पु० रा० वा० प० 2/147

3. संघातपक्षे क्रमपक्षे च संसर्गो वाक्यार्थः। स च—
सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेतं सम्प्राहुरनेकपदसंश्रयम्॥
इत्यादिना दर्शयिष्यते। —वही, 2-1, 2

पदार्थों के कारण एक अधिक अर्थ संसर्ग का बोध होता है वही वाक्यार्थ होता है।[1] उन्होंने महाभाष्य का एक उद्धरण भी दिया है जिसमें कहा गया है कि जो अधिक अर्थ होता है वही वाक्यार्थ होता है।[2] अर्थात् जब पदों का वाक्य में अन्वय होता है तब पदों का परस्पर सम्बन्ध होने पर पदों का अर्थ एक अन्य अर्थ का अभिधान कर देता है। वह अर्थ पदार्थों का संसर्ग रूप होता है। उसे ही वाक्यार्थ कहते हैं।

पुण्यराज कहते हैं कि जो अभिहितान्वयवादी है उनके अनुसार पूर्व-पूर्व अर्थ में अनुगत संसर्ग ही वाक्यार्थ है।[3] अर्थात् अभिहितान्वय पक्ष में पदों का अपना-अपना अर्थ होता है। जब उन पदों का वाक्य में प्रयोग होता है तब उन पदों के अर्थों के सम्बन्ध से एक अन्य अर्थ अवगत होता है जो संसर्ग है उसे ही वाक्यार्थ कहते हैं। 'पूर्व-पूर्व अर्थों में अनुगत संसर्ग वाक्यार्थ होता है' इसका तात्पर्य यह है कि वाक्य में पदों का जब उच्चारण होता है तब पूर्व-पूर्व पदों के अर्थ के साथ मिलकर उत्तरोत्तर पदों के अर्थों के द्वारा संसर्ग रूप विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।

वेलरी सुब्बाराव संसर्ग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पदवादियों के अनुसार संसर्ग वाक्यगत सम्बन्ध है जो वाक्य के प्रत्येक शब्द समुदाय में रहता है।[4] वह पुनः कहते हैं कि पृथक्-पृथक् पदों के अर्थ को सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ में से निकाल देने पर जो शेष बचता है वही संसर्ग है।[5]

(3) संसृष्ट अर्थ वाक्यार्थ पक्ष

प्रथम पद वाक्य एवं सभी साकांक्ष पद वाक्य पक्षों में वाक्य का अर्थ संसृष्ट अर्थ होता है जो पहले ही विद्यमान होता है तथा उत्तरोत्तर पदों के द्वारा उसका

---

1. केवलं पदं यस्यैवार्थस्य वाचकम्, वाक्यस्थमपि तमेवाभिदधाति। ततः समुदाये पदानां परस्परान्वच पदार्थवशाद्यदाधिक्यं संसर्गः स वाक्यार्थः।
2. उक्तं च—'यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः स' इति।

—पु०रा०वा०प० 2-42 (महाभा० 2।3।16 वा०)
3. तथा त्वभिहितान्वयवादिनः पूर्वपूर्वार्थानुगतः संसर्गो वाक्यार्थः। —वही, 2-41
4. According to Padavadin Samsarga is the syntactical connection that exists between each pair of words in a sentence and its parts.—(फिलॉसफी आफ सेन्टेन्स एण्ड इट् पार्ट्स पृ०83) वेलरी सुब्बाराव।
5. In other words it is the total import of the sentence minus the import of the individual words as held by them.

—(फिलासफी आफ सेन्टेन्स एण्ड इट्स पार्ट्स, पृ० 83) वेलरी सुब्बाराव

स्पष्टीकरण होता है ।[1] पुण्यराज कहते हैं कि संसृष्ट वाक्यार्थ में तथा क्रिया वाक्यार्थ में अन्विताभिधान होता है ।[2] अर्थात् अन्विताभिधान पक्ष में पद न केवल अपना अर्थ अपितु वाक्यगत सम्बन्ध भी अभिहित करते हैं । 'गामानय' वाक्य में गाम् पद न केवल गो पिण्ड अपितु आनयन क्रिया के साथ अपने सम्बन्ध को भी अभिहित करता है । यह संसृष्ट अर्थं जो गाम् पद के द्वारा ही अभिहित हो गया है यही वाक्यार्थ है । इसी कारण संसृष्ट वाक्यार्थ पहले ही प्रकट होता है अर्थात् 'गाम्' से केवल गौ पिण्ड अर्थ ही नहीं अपितु उसका वाक्यगत सम्बन्ध, अर्थात्, आनयन क्रिया से सम्बन्ध भी अभिहित है और वह संसृष्ट अर्थ ही वाक्यार्थ होता है । पद के द्वारा ही वाक्यगत सम्बन्ध भी अभिहित हो जाने के कारण ही प्रथम पद को को भी वाक्य माना जाता है । यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि संसर्ग वाक्यार्थ पक्ष में जो वाक्यगत सम्बन्ध (संसर्ग) होता है उसी को वाक्यार्थ माना जाता है जबकि संसृष्ट वाक्यार्थ पक्ष में संसर्ग के कारण प्राप्त होने वाला संसृष्ट अर्थ ही वाक्यार्थ होता है ।[3]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि वाक्यार्थ पहले पदार्थ में संसृष्ट अर्थ है तो अन्य पदों की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अन्विताभिधान पक्ष में उत्तरोत्तर पदार्थों के द्वारा अवगत होने वाला तथा पहले पदार्थ में ही संसृष्ट अर्थ वाक्यार्थ होता है ।[4] प्रथम ही ज्ञात उस अर्थ का, अन्य पदों का सन्निधान केवल स्वरूप मात्र अवगत कराता है ।[5] उदाहरण के लिए देवदत्त गामम्याज 'वाक्य में प्रयुक्त देवदत्त पद 'देवदत्त गां बधान' वाक्य से पृथक् रूप में ही वक्ता द्वारा उच्चारित होता है अर्थात् प्रथम 'देवदत्त' पद गोकर्मक आनयन क्रिया से सम्बन्धित है

---

1. पदमाथं पृथक् सर्वपदं साकांक्षमित्यस्मिन् तु पक्षद्वये संसृष्ट एव प्रथमतरं प्रक्रम्यते वाक्यार्थः । —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
2. संसृष्टे क्रियायां चान्विताभिधानम् । —वही, 2-1, 2

   तथा

   अन्विताभिधानवादिनस्तूत्तरोत्तरपदार्थावगतः प्रथमतरमेव संसृष्ट एव । —वही, 2-41
3. वेलरी सुब्बाराव कहते हैं कि वाक्यार्थ संसर्ग नहीं अपितु संसृष्ट अर्थ होता है— The import of a sentence is what is syntactically connected not syntactical relation alone. —(p. 54)

   —(दि फिलासफी आफ ए सेन्टेन्स एण्ड इट्स पार्ट्स)
4. सकलविशेषणखचितश्च प्रथमतरमेवोपक्रान्तः संसृष्ट एवार्थो वाक्यार्थः इति । —पु० रा० वा० प०, 2-17
5. यदि परमत्र सन्निधानं निदर्शकं यस्येतिकर्त्तव्यतामात्रस्वरूपावगतावपेक्षन्त इति बोद्धव्यम् ॥ —वही, 2-411

जबकि दूसरा गोकर्मक बन्धन क्रिया से सम्बन्धित है परन्तु भ्रम के कारण दोनों देवदत्त पद एक ही प्रतीत होते हैं। बाद में गामानय तथा गां बधान पदों के साथ सम्बन्ध होने के कारण दोनों देवदत्त पदों का विशिष्ट अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है।[1] इसीलिए पुण्यराज कहते हैं कि समस्त विशेषणों से युक्त हुआ पहले ही पद से जो संसृष्ट अर्थ होता है वही वाक्यार्थ है।[2]

(4) संसर्ग के कारण विशिष्ट रूप में अवस्थित पदार्थ वाक्यार्थ पक्ष

पुण्यराज कहते हैं कि संघात वाक्य पक्ष में जब अन्विताभिधान का प्रदर्शन किया जाता है तब वाक्य का अर्थ पदार्थ होता है।[3] अर्थात् अन्विताभिधान पक्ष में प्रत्येक पद अपना वाक्यगत सम्बन्ध बताता है। गामानय वाक्य में गाम् पद का प्रयोग हुआ है यह गाम् पद न केवल अपने अपितु आनयन के साथ अपने सम्बन्ध को भी कहता है और उसके साथ ही वाक्य में अन्वित होता है। उस वाक्यगत सम्बन्ध का अभिधान तब तक नहीं होता जब तक अन्य पदों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता। अतः अन्विताभिधान पक्ष में भी संघात वाक्य होता है। उस अवस्था में पदों का संसर्ग के कारण जो विशिष्ट अर्थ होता है वही वाक्यार्थ होता है। तात्पर्य यह है कि पद जब वाक्य में प्रयुक्त होते हैं तो अन्य पदों के संसर्ग के कारण पद के द्वारा विशिष्टि अर्थ अभिहित होता है। वह विशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ है। उदाहरण के लिए 'गामानय' वाक्य में 'गाम्' पद का अर्थ केवल गो पिण्ड नहीं अपितु आनयन क्रिया कर्मक गो-पिण्ड है। अतः 'गाम्' पद के द्वारा अभिहित यह पदार्थ ही वाक्यार्थ है। पदार्थ सामान्य रूप होता है। उसमें सभी भेदों का आनुगुण्य होता है। जब आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के कारण अन्य पदों के साथ संसर्ग होता है तब पदान्तर संसर्ग के कारण पद का विशिष्ट अर्थ अभिहित होता है। यही वाक्यार्थ है।[4] अन्य पदों के संसर्ग के द्वारा ही वह विशिष्ट अर्थ स्फुटरूपता प्राप्त करता है।[5]

---

1. देवदत्त गामभ्याजेत्यत्र देवदत्तपदं गां बधानेत्यस्माद् विशिष्टमेव वक्त्रास मुदीरितं भ्रमात्तु सकलसाधारणं प्रतिभाति। उत्तरकालं गवादिपदसम्बन्धात् विशिष्टा प्रतिपत्तिरभिव्यज्यते। —वही, 2-17
2. सकलविशेषणखचितश्च···। —पूर्वोक्त पु० रा० वा० प०, 2-17
3. संघातपक्ष एव प्रकारान्तरेणान्विताभिधानप्रदर्शनात् पदार्थ एव वाक्यार्थ इति। —पु० रा० वा० प०, 2-44
4. सर्वेषां भेदानामानुगुण्यं यस्मिन् तत्तयाविधं सामान्यंसंसर्गलक्षणमाकांक्षायोग्यतासन्निधानवशेन पदान्तरसंसर्गान्नियतस्वरूपं वाक्यार्थः। —पु०रा०वा० प०, 2-44
5. तत्र चाकांक्षावसरे येयमस्फुटरूपता वाक्यार्थस्य तामितरपदार्थसन्निधिर्निवारयतीति···। —वही, 2-45

संसर्ग एवं पदार्थ वाक्यार्थ में भेद स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि संसर्ग वाक्यार्थ में वाक्य में प्रयुक्त होने पर पदों का उतना ही अर्थ होता है जितना वाक्य में प्रयुक्त होने से पहले था। संसर्ग तो उनके संघात के द्वारा अभिहित होता है। जबकि पदार्थ वाक्यार्थ में पदों का सामान्य अर्थ ही अन्य पदों के संसर्ग के कारण विशिष्ट रूप ग्रहण कर लेता है।[1] अर्थात् संसर्ग पदों के द्वारा अभिहित होता है न कि संघात के कारण। इसीलिए पदार्थ को वाक्यार्थ कहा गया है।

पुण्यराज कहते हैं कि संसर्ग पदार्थ से अतिरिक्त ज्ञात नहीं होता। वह समुदायवाच्य नहीं है। उनका तो पदार्थों के विशेष विश्रान्तिलक्षण कार्य द्वारा अनुमान किया जाता है। उस संसर्ग का 'यह ऐसा है' इस प्रकार का रूप दिखाई नहीं देता इसीलिए आचार्य उसे असत्वभूत मानते हैं अर्थात् पदार्थ के अतिरिक्त उसकी सत्ता नहीं है।[2]

इस प्रकार साधन में साध्य नियत रूप में रहता है तथा क्रिया भी नियत—साधना होती है। केवल आकांक्षा के कारण इतर पदार्थ के सन्निधान में उसका प्रकाशन होता है। अर्थात् 'द्वारं पिधेहि' वाक्य में द्वारम् इस साधन पद में क्रिया विद्यमान है तथा पिधेहि क्रिया में द्वारम् विद्यमान है उसका स्पष्टीकरण पदान्तर के प्रयोग से होता है। इसीलिए कहा गया है कि संसर्ग (पदान्तर संसर्ग) के कारण विशेष विश्रान्त पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है।[3]

(5) क्रिया वाक्यार्थ पक्ष

पुण्यराज कहते हैं कि संसृष्ट एवं क्रिया वाक्यार्थ में अन्विताभिधान होता है।[4]

---

1. पूर्वत्र पदानां वाक्ये तावानेवार्थो यावानेव केवलानाम्, संसर्गस्तु संघातवाच्यः। इह तु तथाभूत एव सामान्यरूपः पदस्यार्थो यस्तत्तद्विशेषसन्निधौ तत्तद्विशेषविश्रान्त इति। —पु०रा०बा०प० 2-45
2. पदार्थव्यतिरेकेणासन्नैवैकान्तानुमेयो न समुदायवाच्यः, किं तर्हि सर्वभेदानुगुणसामान्यरूपो विशेषान्तरसन्निधानाद्विशेषविश्रान्तः पदार्थ एव वाक्यार्थ इति। कार्येण पदार्थानां विशेषविश्रान्तिलक्षणेनानुमीयत इति कार्यानुमेयः। इदं तदिति तु रूपं तस्यन दृश्यते। अत एवासत्वभूतं पदार्थव्यतिरेकेण सत्वं नास्ति यस्य तमेवं भूतमाचार्याः प्रतिजानते। —पु० रा० वा० प०, 2-46
3. साध्यं साधनं च परस्परं नियतमेव। केवलमाकांक्षावशादितरपदार्थसन्निधाने सति नियमः सन्नेव प्रकाशत इत्याक्षिप्तपदान्तराणि पदान्येव वाक्यम्, पदार्थश्च वाक्यार्थ इति···। वही, 2-47
4. संसृष्टे क्रियायांञ्चाऽन्विताभिधानम्। —वही, 2-1, 2
आख्यातशब्दो वाक्यमित्यस्मिन् पक्षे क्रिया वाक्यार्थः। —वही, 2-1, 2

आख्यात वाक्य पक्ष में वाक्य का अर्थ क्रिया होता है।[1] विशिष्ट क्रिया अर्थात् विशेष कर्तृकर्मादि के कारण विशिष्ट हुई क्रिया ही सर्वप्रथम वाक्य के द्वारा अभिहित होती है अतः वही वाक्य का अर्थ है।[2] अर्थात् क्रिया वाक्य का प्रधान अभिधेय होती है अन्य कर्तृकर्मादि का प्रयोग उस क्रिया के सम्बोध का ही उपाय है।[3] आख्यात के द्वारा प्रतिपाद्य वाक्यार्थ लक्षण अर्थ क्रिया प्रधान होता हैं। अतः क्रिया ही प्रधान रूप में पहले विभक्त होती है। साध्य क्रिया ही होता है तथा उस साध्य की निष्पत्ति के लिये ही साधनों का प्रयोग होता है। अतः वे अप्रधान होने के कारण उनका (वाक्यार्थ में) पहले विभाग नहीं होता।[4]

महाभाष्यकार पतंजलि ने भी वाक्य में क्रिया की प्रधानता को स्वीकार किया हैं तथा कहा है कि कोई भी वाक्य ऐसा नहीं है जिसमें क्रिया पद न हो।[5] अतः उनके अनुसार वाक्य के लिये यह आवश्यक है कि उसमें क्रिया पद हो।

बी० के० मतिलाल अपने लेख[6] में कात्यायन के वाक्य लक्षण 'एकतिङ् वाक्यम्' की दो प्रकार से व्याख्या करते हैं तत्पुरुष समास में तथा बहुव्रीहि समास में। उनका कहना है कि तत्पुरुष समास (कर्मधारय समास) में विग्रह करने पर केवल 'पचति' इत्यादि क्रियापदों की ही वाक्य संज्ञा होगी तथा बहुव्रीहि मानने पर उस पद समूह की, जिसमें क्रियापद होता है, वाक्य संज्ञा होगी। जो भी विग्रह लिया जाए यह तो स्पष्ट ही है कि कात्यायन ने भी वाक्य में क्रिया अर्थ जो भी वाक्य में क्रिया अर्थ की प्रधानता को स्वीकार किया है।

बी० के० मतिलाल ने वैयाकरणों एवं नैयायिकों में मतभेद का प्रदर्शन करते हुए कहा है कि वैयाकरणों के अनुसार वाक्य में क्रिया पद का होना अनिवार्य है

---

1. आख्यातशब्दो वाक्यमित्यस्मिन् पक्षे क्रिया वाक्यार्थः।
—पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
2. क्रियैव विशिष्टा सर्वत्र प्रथमतरं वाक्यार्थत्वेन प्रक्रान्ता। —वही, 2-4, 14
3. तत्र वाक्ये भेदानां विशेषाणां प्रयोगोऽसौ सम्बोधनोपायमात्रमिति बोध्यम्।
—वही, 254, 14
4. अर्थस्य वाक्यार्थलक्षणस्याख्यातप्रतिपाद्यस्य क्रियाप्रधानत्वात् क्रियैव प्राधान्यात् पूर्वं प्रविभज्यते न साधनानि, यस्मात् साध्यार्थं साध्यनिष्पत्तये प्रयुक्तानि साधनानि, अतोऽङ्गात् प्रधानभूतानि इति न तेषां तत्र प्रविभागः। एवं क्रियाप्रयुक्तानि बोद्धव्यानि। —पु० रा० वा० प०, 2-427
5. न हि क्रियाविनिर्मुक्तं वाक्यमस्ति। —महाभा० व० सू०, 2।1।1
6. इण्डियन थ्योरीज ऑनदि नेचर ऑफ सेण्टेन्स। बी०के० मतिलाल (फाउण्डेशन ऑफ लेंग्वेज, वॉल्यूम II, 1966

जबकि नैयायिकों के अनुसार यह कोई आवश्यक नहीं कि वाक्य में क्रियापद हो। उन्होंने संस्कृत व्याकरण में ऐसे अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं जिनमें क्रिया पद का प्रयोग नहीं है लेकिन फिर भी वे सही हैं—जैसे घटो नीलः, नरोऽयं न सुन्दरम् इत्यादि। परन्तु वैयाकरण यह नहीं मानते। वे कहते हैं कि ऐसे वाक्यों में न केवल क्रियापद को समझना हो चाहिये अपितु क्रियापद के द्वारा वाक्यार्थ ज्ञात होता है ऐसा समझना चाहिये।[1]

पुण्यराज क्रिया वाक्यार्थ के सम्बन्ध में एक कारिका उद्धृत करते हैं परन्तु उसका सन्दर्भ उन्होंने नहीं दिया। उस कारिका के अनुसार क्रिया को वाक्यार्थ बताया गया है तथा उसके तीन विशेषण बताये गये हैं।[2] जिस नियत आधार एवं नियत साधन विशिष्ट क्रिया का अखण्डवाक्यार्थ रूप अर्थ प्रतिभा का विषय है, जिस नियत साधन युक्त क्रिया के द्वारा लोक की प्रवृत्ति होती है तथा जिससे फल की उत्पत्ति होती है, ऐसी क्रिया ही वाक्यार्थ होती है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिभा वाक्य में क्रिया के रूप में दृष्टिगोचर होती है।[3]

(6) प्रयोजन वाक्यार्थ पक्ष

पुण्यराज कहते हैं कि कुछ विद्वान् प्रयोजन को वाक्य का अर्थ मानते हैं। इस मत के अनुसार वाक्य का प्रयोजन ही वाक्य का अर्थ होता है। इस मत के अनुसार अभिधेय अर्थ वाक्य का अर्थ नहीं होता वह तो पद का अर्थ होता है। वाक्य का अर्थ तो उसका प्रयोजन ही होता है।[4]

प्रयोजन का अर्थ स्पष्ट करते हुए जयन्त भट्ट कहते है कि जिस अर्थ को लक्ष्य बनाकर व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं।[5]

---

1. इण्डियन थ्योरीज ऑन दि नेचर ऑफ सेण्टेन्स। बी० के० मतिलाल (फाउण्डेशन ऑफ लेंग्वेज, वॉल्यूम II, 1966

2. प्रतिभा यत्प्रभूतार्थां यामनुष्ठानमाश्रितम्।
फलं प्रसूयेत यतः सा क्रिया वाक्यगोचरः॥
—पु० रा० वा० प०, 2-1, 2

3. अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, (कपिल देव द्विवेदी), पृ० 340

4. वाक्यस्यार्थो वाक्यप्रयोजनमुच्यते। न त्वभिधेयः पदस्यार्थ इति। पदानामर्थोऽभिधेय उच्यते। —पु० रा० वा० प०, 2-113

5. यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्। —न्यायमंजरी, 1-1-24

पण्डित रघुनाथ शर्मा प्रयोजन के सम्बन्ध में कहते हैं कि इस मत के अनुसार पद अथवा वाक्य को वाक्यार्थ में शक्ति नहीं है अपितु वाक्य के श्रवण पर प्रतीत होने वाला प्रयोजन ही वाक्यार्थ है। उदाहरण के लिये 'गंङ्गायां घोषः' वाक्य में गंगा पद का 'गंगा तीर' इस अर्थ का प्रयोजन तीर में शैत्य पावनत्व इत्यादि की प्रतीति कराना है।[1]

जयन्त भट्ट प्रयोजन की प्रधानता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वस्तुतः फल प्रधान होता है क्योंकि कोई भी ज्ञानवान व्यक्ति निष्प्रयोजन कोई कार्य नहीं करता। किसी न किसी प्रयोजन को लक्ष्य में रखे बिना कार्य नहीं हो सकता।[2]

पुण्यराज कहते है कि प्रयोजन वाक्यार्थ पक्ष मानने पर वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। कील एवं लोहे की शलाका तुल्य वाक्यों में सम्बन्ध किस आधार पर होगा? क्योंकि सम्बन्ध तो अभिधेय द्वारा होता है। यदि वाक्यों का अभिधेय ही नहीं होगा तो वाक्यों का सम्बन्ध कैसे होगा। अतः प्रयोजन को पृथक् वाक्यार्थ मानना ठीक नहीं है।[3]

इस प्रकार पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा यत्र-तत्र कारिकाओं में प्रतिपादित वाक्यार्थों को अपनी टीका के प्रारम्भ में इकट्ठा करके तथा उनका आठ वाक्य लक्षणों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उनकी व्याख्या की है। इतना ही नहीं पुण्यराज ने एक सच्चे आलोचक की भाँति वाक्यार्थ के सम्बन्ध में अन्य मतों को भी अपनी टीका में दर्शाया है। तथा यह स्पष्ट किया है कि उनका अन्तर्भाव आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित छह वाक्यार्थों में हो जाता है। पुण्यराज इन छह वाक्यार्थों के अतिरिक्त जिन वाक्यार्थों का विवेचन करते है वे इस प्रकार हैं—

विधि एवं नियोग वाक्यार्थ

विधि एवं नियोग को कुछ आचार्य पृथक् वाक्यार्थ के रूप में मानते हैं। परन्तु आचार्य भर्तृहरि ने उन्हें पृथक् वाक्यार्थ के रूप में प्रदर्शित नहीं किया। इसका

1. न पदस्य वाक्यस्य वा वाक्यार्थे शक्तिः किन्तु वाक्यश्रवणे प्रतीयमानो वाक्यार्थो वाक्यप्रयोजनं तथा गंगापदस्य तीरे लक्षणया प्रयोगे तीरे शैत्यपावनत्वादिप्रतीति प्रयोजनम्।
—पं० रघुनाथ शर्मा, वा० प०, 2-1, 2
2. अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन (कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 334)
3. एवं वादिनः परस्परं वाक्यानां सम्बन्धो न स्यात्। कीलायः शलाकाकल्पानां वाक्यानां किं कृतः सम्बन्धो भवति? अभिधेयद्वारकः परस्परं सम्बन्धः स्यात् अभिधेयं च वाक्यानां नास्तीत्यसम्बद्धानि वाक्यानि प्राप्नुवन्तीति यत्किञ्चिदेतत्।
—पु० रा० वा० प, 2-113

कारण यह है कि ये तो केवल लिङ् लोट् तथा कृत्यान्त वाक्यों के ही अर्थ होते हैं। अतः असर्वविषयत्व के कारण इनका पृथक् प्रदर्शन नहीं किया गया।[1]

भावना

पुण्यराज भावना के विषय में कहते हैं कि भावना एवं क्रिया में प्रायशः पर्यायता देखी जाती है।[2] केवल प्रकृति अर्थ प्रत्ययार्थता में ही व्याकरण एवं मीमांसकों में भेद है। अर्थात् वैयाकरण यह मानते हैं कि भावना प्रकृति का अर्थ है जबकि मीमांसक यह मानते हैं कि भावना प्रत्यय का अर्थ है।[3] पुण्यराज के इस कथन की पुष्टि नागेश (वैयाकरण, के कथन से भी हो जाती है। उन्होंने फलानुकूल यत्नसहित व्यापार को धातु का अर्थ बताया है। अर्थात् भावना धातु (प्रकृति) का अर्थ है।[4]

श्री मजूमदार लिखते हैं कि मीमांसकों के अनुसार व्यापार (भावना) आख्यात (प्रत्यय) का अर्थ है तथा फलधातु का अर्थ है।[5] मजूमदार महोदय एक अन्य स्थल पर कहते हैं कि किसी फल की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला प्रयत्न भावना है।[6]

पुण्यराज कहते हैं कि भावना एवं क्रिया में यद्यपि यह भेद है कि भावना केवल सकर्मक होती है तथा क्रिया अकर्मक एवं सकर्मक दोनों हो सकती है फिर भी दोनों ही साध्य रूप हैं। अतः इसी कारण दोनों में अवान्तर भेद होते हुये भी अभेद ही मानना चाहिये।[7]

---

1. विधिनियोगौ तु लिङ्लोट्कृत्यान्तेष्वेव वाक्येष्वर्थावित्यसर्वविषयत्वादनादृताविहेति न तत्प्रदर्शनं कृतम्। —पु०रा०वा० प, 2-1, 2
2. यस्माद् भावनाक्रिययो पर्यायता प्रायशो लक्ष्यते। —वही, 2-1, 2
3. केवलं प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थतायामत्र वैयाकरणमीमांसकयोर्विवादः। —वही, 2-1, 2
4. फलानुकूलप्रयत्नसहितो व्यापारो धात्वर्थः। —लघुमंजूषा (चौखम्बा संस्कृत सिरीज, पृ० 53)
5. फलं धात्वर्थः व्यापारः आख्यातार्थः। — फिलॉसफी ऑफ लेंग्वेज में मजूमदार द्वारा, पृ० 39 पर उद्धृत
6. Bhavana means the action or eff)rt for producing some result. —मजूमदार वही
7. किञ्च भावना सकर्मिकेवाकर्मिकापि क्रियेति सत्यपि भेदे साध्यत्वाविशेषादभेद एवानयोः। यथा धात्वर्थभूता क्रिया साध्यरूपैव तथा भावनाऽपीति कथमवान्तर भेदाद्भेदोऽनयोर्भवेत्। —पु० रा० वा० व०, 2-, 1, 2

के० कुंजुनीराजा ने नव्य मीमांसकों का मत देते हुये कहा है कि नव्य मीमांसक भावना एवं क्रिया में भेद ही मानते हैं। उदाहरण के लिये 'चलति' क्रिया में प्रयत्न तथा उस प्रयत्न के फल में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। चलता हुआ आदमी दो प्रकार के प्रयत्न करता है। मानसिक प्रयत्न तथा शारीरिक परिस्पन्द। शारीरिक परिस्पन्द का परिणाम यह होता है कि एक व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है। इस प्रकार नव्य मीमांसक भावना (मानसिक प्रयत्न) तथा क्रिया (परिस्पन्द) में भेद मानते हैं।[1] पुण्यराज दोनों में अभेद मानकर भावना को पृथक् वाक्यार्थ नहीं मानते।

बौद्धों का वाक्यार्थ

पुण्यराज ने बौद्धों के वाक्यार्थ को प्रतिभा का सहोदर माना है। बौंद्धों का वाक्यार्थ भी अखण्ड है तथा प्रतिभा भी अखण्ड है। पुण्यराज कहते हैं कि तत्तत् अनादि वाक्यार्थ विषयक विकल्प के द्वारा आहित वासना के प्रबोध से उत्पन्न, क्रमहीन होते हुए भी क्रम युक्त सा प्रतीत होनेवाला, बाह्यरूप में अध्यस्त पदार्थों द्वारा चित्रित किया सा, जिसका उल्लेख विकल्प विशेष के कारण किया जाता है, ऐसा विभाग रहित बाह्य रूप में अध्यस्त शाक्यों का वाक्यार्थ प्रायशः प्रतिभा का सहोदर ही है।[2] इसलिये उसको पृथक् वाक्यार्थ नहीं माना गया।

नैयायिक इत्यादि विद्वानों का वाक्यार्थ :

पुण्यराज कहते हैं कि नैयायिक इत्यादि के वाक्यार्थों का अन्तर्भाव संसर्ग पक्ष में ही हो जाता है। नैयायिकों के अनुसार पद नश्वर होते हैं। उनके अनुसार उत्तरोत्तर पद का उच्चारण करने पर पूर्व पूर्व पद की स्मृति से युक्त अन्तिम पद जो नाशवान है वही वाक्य है अर्थात् सभी पदों के अर्थ की स्मृति अन्तिम पद से मिलकर वाक्य कहलाती है तथा पूर्व-पूर्व पदार्थ की स्मृति से युक्त अन्तिम पद द्वारा उत्पन्न अर्थ वाक्यार्थ होता है। नैयायिकों का वाक्यार्थ भी सभी पदार्थों की स्मृति का संसर्ग ही है।[3]

---

1. इण्डियन थ्योरीज़ ऑफ मीनिंग (के० कुंजुनीजा)
2. तत्तदनादिवाक्यार्थैविकल्पाहितवासनाप्रबोधजन्मा क्रमवद्भिरिवाक्रमैर्बहीरूपतयाऽध्यस्तैः पदार्थैश्चित्रीकृत इव विकल्पविशेषोल्लिख्यमान आकारो बहीरूपतयाऽध्यस्तो निर्विभाग एव शाक्यानां वाक्यार्थं इति प्रायः प्रतिभासोदर एवासौ मन्तव्यः।
—पु० रा० वा० प०, 2-1, 2
3. पूर्वपूर्वपदार्थस्मरणसचिवेनान्त्येन पदेनोपजन्यमाना प्रतीतिर्वाक्यार्थ इति प्रायशः संसर्गपक्ष एवास्यान्तर्भाव इति। —पु० रा० वा० प०, 2-1, 2

अतः वाक्यार्थों में नैयायिकों के वाक्यार्थ का पृथक् संग्रह करने के कारण भर्तृहरि का वाक्यार्थ विवेचन अव्याप्ति दोष से युक्त नहीं कहा जाना चाहिये ।[1]

इस प्रकार पुण्यराज ने अपनी टीका में न केवल आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित वाक्यार्थों का ही विवेचन किया है अपितु उनके द्वारा प्रदर्शित वाक्यार्थों के अतिरिक्त उस समय में प्रचलित अन्य वाक्यार्थों को भी संक्षेप में स्पष्ट किया है । पुण्यराज ने उन प्रचलित वाक्यार्थों का आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित छह वाक्यार्थों में अन्तर्भाव दिखाकर उनके वाक्यार्थ विवेचन को अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त करके एक सच्चे टीकाकार की भूमिका सफलतापूर्वक निभायी है ।

---

1. न तदसंग्रहेणाव्याप्तिरत्र वक्तव्या । —पु०रा०वा०प०, 2-1.2

पंचम अध्याय

वाक्य एवं वाक्यार्थ के सम्बन्ध में कुछ अन्य महत्वपूर्ण विश्लेषण

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्य वाक्यार्थ के सम्बन्ध में कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी विचार किया है। यद्यपि वाक्य वाक्यार्थ अखण्ड है परन्तु फिर भी वाक्य में यह देखा जाता है कि कभी तो वाक्यार्थ की समाप्ति प्रत्येक अवयव में होती है तथा कभी समुदाय में ही क्रिया समाप्त होती है। इसका हेतु देते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि उच्चारण एवं प्रतिपति में भेद है। उच्चारण में तो उनका अन्य प्रकार का रूप गृहीत होता है जबकि प्रतिपत्ति को समय उनका अन्य रूप प्रतीत होता है।[1] अतः यद्यपि वाक्य वाक्यार्थ अखण्ड है परन्तु शब्द सामर्थ्य के कारण प्रतिपत्ति के समय कभी उसकी समाप्ति प्रत्येक में होती है तथा कभी समुदाय है।[2]

प्रत्येक में वाक्यार्थ की समाप्ति

आचार्य भर्तृहरि कहते हें कि जब संघ, एक शेष तथा द्वन्द्व द्वारा अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है तब क्रिया की समाप्ति प्रत्येक में होती है।[3] पुण्यराज उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे ब्राह्मणाभोज्यन्ताम्, ब्राह्मणो भोज्यताम्, देव दत्तयज्ञदतविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम् वाक्यों में क्रमशः संघ, एक-शेष एवं द्वन्द्व द्वारा प्रतिपादन किया गया है। इनमें भुजिक्रिया की समाप्ति प्रत्येक में होती है। पुण्यराज कहते हैं कि भुजि क्रिया वस्तु स्वभाव के कारण प्रत्येक में अवस्थित होती हैं।[4] अर्थात् प्रत्येक ब्राह्मण को पृथक्-पृथक् भोजन कराया जाता है। अर्थात् भुजि क्रिया की निर्वृत्ति, एक पैर धोये, एक आसन पर बैठे, दूसरा अन्न डाले तथा कोई दूसरा उसको निगले, इस प्रकार

---

1. उच्चारणे तु वांक्यानामन्यद्रूपं निगृह्यते।
   प्रतिपत्तौ तु भिन्नानामन्यद्रूपं प्रतीयते॥—वा० प०, 2-453
2. अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च निमित्तम्।—महाभा०
3. यथा ब्राह्मणा भोज्यन्तां, ब्राह्मणो भोज्यतां, देवदत्तयज्ञ दत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम।
   —पु० रा० वा० प०, 2-371
4. भुजिक्रिया सामर्थ्याद्वस्तुस्वाभाव्याद्विभागेनैवावतिष्ठते इति।
   पु० रा० वा० प०, 2-374

नहीं होती। भुजि क्रिया तृप्ति लक्षण फल तथा अन्नदानादि स्वरूप के एक ही अधिकरण में होने पर ही निवृत्त होती है।[1] यदि ऐसा न किया जाए तो भुजि का अर्थ निष्पन्न नहीं होगा।[2]

आचार्य भर्तृहरि दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि भुजि क्रिया पाद्य के समान विभाग द्वारा ही अवस्थित होती है। प्रदीप के समान तन्त्र द्वारा भुजि क्रिया अर्थ को नहीं देती।[3] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार श्राद्ध करने वाले व्यक्ति को यदि ब्राह्मणों को पाद्य अर्पण करने के लिये कहा जाए तो वह प्रत्येक ब्राह्मण को अर्पित करता है इसी प्रकार सामर्थ्य के कारण भुजि क्रिया की अवस्थिति भी प्रत्येक में होती है। प्रदीप के समान एक ही अधिकरण में ही सबके लिये तृप्ति लक्षण भुजि अर्थ को उत्पन्न नहीं करती।[4] अर्थात् जिस प्रकार एक के सम्मुख रखा प्रदीप अन्यों को भी साधारण रूप में प्रकाशित कर देता है भुजि क्रिया उस प्रकार से निर्वृत्त नहीं होती। प्रत्येक को भोजन कराने पर ही उसकी निर्वृत्ति होती है।

व्याकरण में प्रत्येक में वाक्य की समाप्ति को स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि 'वृद्धिरादैच्' सूत्र में वृद्धि शब्द की समाप्ति आ, ऐ, औ तीनों में होती है। अर्थात् आ, ऐ, औ प्रत्येक की वृद्धि संज्ञा होती है। तभी आम्रगुप्तायनिः, ऐतिकायनिः, औपगवः की सिद्धि होती है। इनमें एक-एक की वृद्धि संज्ञा है।[5]

इसी प्रकार पाणिनि सूत्रों में लिंग देखकर भी यही सिद्ध होता है कि वृद्धि संज्ञा की समाप्ति प्रत्येक में होती है। पुण्यराज कहते हैं कि 'प्रस्थेऽकर्क्यादीनाम्' तथा 'मालादीनां च' सूत्रों द्वारा प्रस्थ उत्तरपद रहते पूर्वपद अवृद्ध हो तथा कर्क्यादि न हो

---

1. इहैकेनपादप्रक्षालनमपरेणासनोपवेशनमपरेणान्नदानमन्येनान्ननिगरणमिति नैवं भुजि क्रिया निर्वर्तयितुमायाति।—वही, 2-372
2. तथा नाश्रयणे न (नाश्रयणे च) भुज्यर्थनिष्पत्तेः।—वही, 2-372
3. पाद्यवत् सा विभागेन सामर्थ्यादवतिष्ठते।
   भुजिः करोति भुज्यर्थं न तन्त्रेण प्रदीपवत्॥—वा० प०, 2-374
4. श्राद्धकर्मणि ब्राह्मणेषु कर्त्ता यथा पाद्यमनेकाधिकरणं तदभ्यर्चनायोपकल्प्यते, तथैवेयं भुजिक्रिया सामर्थ्याद्वस्तुस्वभाव्याद्विभागेनैवावतिष्ठते इति। न तु तन्त्रेण साधारण्येनासौ प्रदीपवदेकाधिकरणैव भुज्यर्थं तृप्तिलक्षणं करोति।
   —पु० रा० वा० प०, 2-374
5. 'वृद्धिरादैच्' इत्यत्र वृद्धिशब्दः प्रत्येकमादेक्ष्वर्थिषु संज्ञात्वेन नियुज्यते यस्माल्लोके, तथैव लक्ष्यं सिध्यति—आम्रगुप्तायनिः, ऐतिकायनिः, औपगव इति।
   —वही, 2-377

तो उसको आद्युदात्त होते हैं, तथा प्रस्थ उत्तरपद रहते मालादि को भी आद्युदात्त होते हैं। वृद्ध पारिभाषिक शब्द है 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' सूत्र द्वारा जिसका अचों में से आदि अच् वृद्धि संज्ञक होगा वह वृद्ध कहलायेगा। यदि आदैच् की पृथक्-पृथक् वृद्धि संज्ञा मानेंगे तभी मालादि भी वृद्ध कहे जा सकेंगे।[1]

समुदाय में वाक्यार्थ की समाप्ति

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि दृशि क्रिया एक होने पर भी तथाभूत कर्मों में आवृत्ति के बिना भी समुदायाश्रया होती है।[2] पुण्यराज उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा दृश्यन्ताम् वाक्य में दृशि क्रिया की समाप्ति देवदत्त यज्ञदत्त एवं विष्णुमित्र तीनों ही विषयों में युगपत होती है। यहाँ यह नहीं कहा जाता कि भुक्ति क्रिया के समान दृशि क्रिया प्रत्येक विषय में समाप्त हुए बिना उपपन्न नहीं हो सकती। यदि तीनों साथ-साथ खड़े हैं तो तीनों का युगपद् ही दर्शन हो जाता है।[3]

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जिन क्रियाओं में भिन्न-भिन्न व्यापार भिन्न-भिन्न कारकों में देखे जाते हैं उनकी परिसमाप्ति समुदाय में होती है।[4] पुण्यराज इस कारिका को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यां ओदनं पचति वाक्य में कारकों का प्रार्थनादि व्यापार पृथक्-पृथक् है। वे सभी व्यापार मिल

---

1. तथा शास्त्रे प्रत्येकमादैचां वृद्धिसंज्ञा लिङ्गाद् दृश्यते, यथा—'प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम्, 'मालादीनां च' 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् (वृद्धमा) इत्यत्र प्रस्थे उत्तरपदे पूर्वपूर्वपदमवृद्धमाद्युदात्तं भवति, तदनन्तरं मालादीनामादिरुदात्तो भवतीत्युक्तम्, यदि चैकैकस्य वृद्धिसंज्ञा तदा मालादीनां वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धमिति मालादयो वृद्धा भवन्ति। —पु० रा० वा० प०, 2-377

2. दृश्यादिस्तु क्रियैकापि तथाभूतेषु कर्मसु।
आवृत्तिमन्तरेणापि समुदायाश्रया भवेत्॥ —वा० प०, 2-375

3. देवदत्तयज्ञविष्णुमित्रा दृश्यन्तामित्यत्र दृशिक्रिया तथाभूतेषु योग्यदेशस्थितेषु विषयेषु प्रत्येकपरिसमाप्तिं विना भुक्तिवन्नोपपद्यत इति नोच्यते, युगपदेवात्र दर्शनक्रियाधिगमफला समुदायमाप्नोतीत्यसौ समुदायाश्रया भवेत्।
—पु० रा० वा० प० 2।375

4. भिन्नव्यापाररूपाणां व्यवहारादिदर्शने।
कर्तृणां दर्शनं भिन्नं सम्भूयार्थस्य साधकम्॥ —वा० प०, 2-376

कर पाक क्रिया लक्षण अर्थ के साधक होते हैं।[1] अर्थात् पाक क्रिया को कर्त्ता, काष्ठ स्थाली एवं ओदन सभी का व्यापार मिलकर निष्पन्न करता हैं।

पुण्यराज कहते हैं कि कुछ लोग यह मानते हैं कि क्रिया चाहे कर्तृस्था हो या कर्मस्था पचिक्रिया कर्म में ही समवेत होती है।[2] जबकि कुछ लोग यह मानते हैं कि पचि क्रिया के कर्म में समवेत होने पर भी उसमें अधिश्रयण उपसर्जन, विक्लित्ति इत्यादि कई अन्य क्रियाएँ भी हैं उन सबके द्वारा पचि क्रिया निर्वृत्त होती है। अतः पचि क्रिया समुदाय में ही समाप्त होती है।[3]

समुदाय में वाक्य की समाप्ति का एक और उदाहरण स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्' वाक्य में शतकर्मक दण्डन क्रिया समुदाय में समाप्त होती है।[4] पुण्यराज कहते हैं कि राजा दण्ड में दिये गये स्वर्ण से धनी होते हैं। वे प्रत्येक को शत मुद्राओं से दण्डित नहीं करते। इस वाक्य में दो कर्म हैं— प्रधान एवं अप्रधान। शतकर्मक दण्डन में शतदान प्रधान है। यदि प्रत्येक में शतकर्मक दान समाप्त होता तो 'गर्गाः शतानि दण्डयाः' वाक्य होता जिससे प्रधान कर्म का रूप ही भ्रष्ट हो जाता। प्रधान अर्थ का त्याग उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार संख्यान्तर (शतानि) के आश्रयण से वाक्य का विरोध हो जाएगा।[5] इस प्रकार

---

1. देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति, विक्लिद्यतस्तण्डुलान् विक्लेदयतीत्यत्र भिन्न-व्यापाररूपाणां कारकाणां दर्शनं सम्भूय सङ्घादर्थस्य पाकक्रियालक्षणस्य साधको दृश्यते व्यवहारादिदर्शने। —पु० रा० वा० प०, 2-376
2. एतदुक्तं भवति-कर्त्तृस्था वा क्रिया भवति, कर्मस्था वेत्यत्र पचिक्रिया कर्मणि सम-वेता न समुदाय इति केचन। —वही, 2-376
3. अन्ये त्वाहुः—यद्यपि कर्मणि समवेता, तथाप्यधिश्रयणोपसर्जनविक्लित्तिरपि पचेरर्थः इत्यवान्तरक्रियान्यग्भावे प्रधानक्रियासमाश्रयणेनव्यावृत्तव्यापारस्याविशेषात् सम्भूय सर्वैनिर्वर्त्यत इति समुदाय एव परिसमाप्यत इति। —वही, 2-376
4. गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामित्यत्र शतकर्मकं दण्डनं समुदाये परिसमाप्यते। —पु० रा० वा० प०, 2-378
5. अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं दण्ड्यन्ति, यस्माद्वाक्यार्थज्ञा राजानो विवेचयन्ति, यथात्र द्वे कर्मणी प्रधानमप्रधानं चेति। तत्र शतकर्मके दण्डने शतादानमेव प्रधानम्। यदि च प्रत्येकं शतकर्मदानं समाप्येत तदा गर्गाः शतानि दण्ड्याः स्युः, ततश्च प्रधानकर्मणः स्वरूपभ्रंशो भवेत् न च प्रधानार्थपरित्यागो युक्तः, अतः संख्यान्तराश्रयणे विरोधो वाक्यस्य स्यात्, वीप्सायां वार्थप्राप्तेः। —वही, 2-378

यद्यपि गुण अर्थात् दण्ड्य (गर्गाः) में भेद होता है फिर भी अप्रधान होने के कारण प्रत्येक में नहीं अपितु समुदाय में ही शतकर्मक दण्डन होता है ।[1] पुण्यराज कहते हैं कि इसका तात्पर्य यह निकलता है कि प्रत्येक में वाक्य की समाप्ति अथवा समुदाय में वाक्य की समाप्ति की व्यवस्था राजा की आज्ञा के अनुसार नहीं होती अपितु अर्थ के कारण होती है ।[2]

समुदाय में वाक्य की परिसमाप्ति को व्याकरण में स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि समास संज्ञा एवं अभ्यस्त संज्ञा समुदाय में ही समाप्त होती है । यथा— 'सह सुपा' एवं 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्रों में समास संज्ञा एव अभ्यस्त संज्ञा का साधारण रूप से समुदाय के साथ सम्बन्ध है ।[3] इसको स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि समास संज्ञा पूर्व तथा उत्तर दोनों पदों को विहित होती है तथा इसी प्रकार अभ्यस्त संज्ञा भी युगपत् दोनों की होती ।[4]

प्रत्येक एवं समुदाय दोनों में परिसमाप्ति

कहीं-कहीं एक ही वाक्य में प्रत्येक से एवं समुदाय में वाक्यार्थ की समाप्ति देखी जाती है ।[5] आचार्य भर्तृहरि उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'वृषलैर्न प्रवेष्टव्यमस्मिन् गृहे' वाक्य में प्रत्येक वृषल एवं वृषल समूह का प्रवेश निषेध एक साथ किया जाता है ।[6] इस प्रकार प्रवेश निषेध की समाप्ति प्रत्येक में एवं समुदाय में एक साथ हो जाती है । पुण्यराज कहते हैं कि भवद्भिः समग्रैरेवाद्य राजोपसेवा न कार्या,

1. अत्र गुणभेदेऽपि दण्ड्यभेदेऽपि अप्रधानत्वात्तेषां नात्र प्रत्येकमपितु अर्थिनां राज्ञां शतकर्मकं दण्डनं समुदाय एवावतिष्ठत इति बोद्धव्यम् । —वही,
2. एतदुक्तं भवति-प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः समुदाये वाक्यपरिमाप्तिरित्येतन्न राजाज्ञावशाद् व्यवस्थाप्यते, अपित्वर्थतथाभावादिति न्यायसिद्धमेवेतद्वेदितव्यम् । —वही,
3. समाससंज्ञाऽभ्यस्तसंज्ञा च समुदाय एव परिसमाप्यते—'सह सुपा', 'उभे अभ्यस्तम्' इति च । अत्र समाससंज्ञाया अभ्यस्तसंज्ञायाश्च तन्त्रेण साधारण्येन समुदायस्यैव सम्बन्धः । —पु० रा० वा० प०, 2-374
4. यस्मादत्र संघ एव विधीयते । पूर्वपदोत्तररूपे हि समाससंज्ञा विधीयते । तथाऽभ्यस्तमित्यत्र युगपद् द्वयोरभ्यस्तसंज्ञा विधीयते किञ्चित्कार्यं विधातमिति ।—वही,
5. इदानीं क्वचिदेकत्रोभयथापि वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यत इति । — वही, 2-380
6. वृषलैर्न प्रवेष्टव्यमित्येतस्मिन् गृहे यथा ।
   प्रत्येकं संहतानां च प्रवेशः प्रतिषिध्यते ।। —वा० प०, 2-381

समुद्गमनं वा न विधेयम्, कृषिकर्म वा नानुष्ठेयम्' वाक्य में समुदाय एवं प्रत्येक दोनों में ही निषेध हो जाता है अतः दोनो में ही वाक्य की प्रवृत्ति अनुपन्न नहीं है। अर्थात् उपपन्न है।[1] यद्यपि प्रत्येक के लिये अलग-अलग निषेध नहीं है फिर भी प्रत्येक के लिये भी वाक्यार्थ की समाप्ति होने के कारण वाक्य की प्रवृत्ति हो जाती है।

व्याकरण शास्त्र में प्रत्येक एवं समुदाय में वाक्य की समाप्ति का उदाहरण देते हुये आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि व्यवाय के उपलक्षग होने के कारण अट्, कु, पु, आङ्, तथा नुम् समुदाय अथवा इनमें से प्रत्येक का व्यवधान होने पर भी णत्व का प्रतिषेध नहीं होता।[2] पुण्यराज कहते हैं कि 'अट्कुप्वानुम्व्यवायेऽपि' वार्तिक में कहे गये अडादि में से किसी एक के अथवा सभी के उपस्थित होने पर भी व्यवाय की सिद्धि हो जाती है अतः दोनों ही अवस्थाओं में णत्व हो जाता है कोई भी दोष नहीं जाता।[3]

भुजि क्रिया की समाप्ति प्रत्येक में एवं समुदाय में भी होती है जब देवदत्त यज्ञदत्तविष्णुमित्रैः सह भोक्तव्यम् वाक्य हो। यद्यपि भुजिक्रिया तृप्तिलक्षण फल के कारण प्रत्येक में समाप्त होती है फिर भी जब सह भोजन उपदेश द्वन्द्व एवं एकशेष द्वारा किया जाए तब भुज् धातु का लक्षणा के द्वारा भोजन सामान्य अर्थ होता है उस अवस्था में वाक्यार्थ की समाप्ति समुदाय में भी होती है कि देवदत्त यज्ञदत्त विष्णु मित्र इक्ट्ठे ही भोजन करें। अतः जब 'सह एव भोक्तव्यम् न वा' कहा जाए तो समुदाय में ही विधि अथवा प्रतिषेध का विधान होता है क्योंकि केवल सह भोजन का विधान अथवा प्रतिषेध ही अभीष्ट होता है। अतः भुजि क्रिया की समाप्ति प्रत्येक एवं समुदाय में होती है।[4]

---

1. भवद्भिः समग्रैरेवाद्य प्रभृति राजोपसेवा न कार्या, समुद्गमनं वा न विधेयम्, कृषिकर्म वा नानुष्ठेयमित्यत्र समुदाये प्रत्येकं वा निषेधे वाक्यस्य न प्रवृत्यनुपपत्तिः। —पु० रा० वा०, 2-382
2. व्यवायलक्षणार्थत्वादट् कुप्वाङ्गादिभिस्तथा।
प्रत्येकं वा समस्तैर्वा णत्वं न प्रतिषिध्यते॥ —वा० प०, 2-383
3. व्यवायो व्यवधानं तदुपलक्षणार्थत्वादट्कुप्वाङादिभिरिति प्रत्येकं समुदायेऽपि तेषां स्थितेर्व्यवायस्य सिद्धत्वात्तथैव णत्वं प्रवर्तत इति न कश्चिचघोषः।
—पु० रा० वा० प०, 2-383
4. लक्षणार्थत्वादिति यस्मादत्र सह भोजनं सहैव प्रतिषेधः इत्येव तावल्लक्ष्यते।... एवं च सहैव भोक्तव्यं न वेति समुदाय एवं विधिर्वा प्रतिषेधो वा विधीयते केवलं सहभोजनविधिस्तत्प्रतिषेधो वाऽभीष्ट इति प्रत्येकं समुदाये च वाक्यार्थोऽत्र समाप्यत इति बोद्धव्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-388

वाक्य की समाप्ति

वाक्यार्थ की समाप्ति का प्रदर्शन करने के बाद यह प्रश्न स्वाभाविक है कि वाक्य के समाश्रयण से यह विचार किया जाए कि प्रत्येक में वाक्य की समाप्ति होती हैं अथवा समुदाय में होती है। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि देवदत्तयज्ञदत्त विष्णुमित्रा भोज्यन्ताम् वाक्य में वाक्य की समाप्ति देवदत्त आदि प्रत्येक में होती है।[1] अर्थात् देवदत्तः भोज्यताम्, यज्ञदत्तः भोज्यताम् तथा विष्णुमित्रः भोज्यताम् वाक्य इस द्वन्द्व द्वारा समझना चाहिये। यद्यपि एक ही वाक्य का उच्चारण किया गया है परन्तु उसकी प्रतिपत्ति भेद द्वारा ही होती है। क्योंकि उच्चारण एवं प्रतिपत्ति में भेद होता है।[2] व्याकरण शास्त्र का उदाहरण स्पस्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'कर्तरिकृत्' सूत्र सामान्य रूप से अभिहित हुआ है। उस कृत् प्रत्यय की प्रत्यय अर्थ के उपाधिभूत पशु आदि विभिन्न विषयों में विभाग द्वारा सम्बन्ध प्राप्त करके लक्ष्य सिद्धि होती है।[3]

यह तो स्पष्ट हो गया कि देवदत्त इत्यादि में भुजि क्रिया प्रत्येक में समाप्त होती है। जहाँ क्रिया विभिन्न पदों द्वारा वाच्य होती है तथा साधन एक पद वाच्य होता हैं वहां भिन्न क्रियाओं के साथ साधनों का सम्बन्ध कैसे हो सकेगा ?[4] इसका उत्तर देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि प्रतिपत्ति काल के समाश्रयण द्वारा जिस प्रकार भिन्न-भिन्न साधनों का एक क्रिया से सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार क्रियाएँ भी प्रत्येक में अर्थ की समाप्ति द्वारा भिन्न हुए साधनों के साथ वाक्य सम्बन्ध को प्राप्त कर लेती

---

1. प्रतिस्वतन्त्रं वाक्यं वा भेदो न प्रविभज्यते ॥ —वा० प०, 2-452
वाक्यमेवात्र प्रत्येकं देवदत्तादिषु भेदेनावतिष्ठते इति बोद्धव्यम् ।
पु० रा० वही, 2-452
2. सत्यप्याख्यातस्याभेदेऽर्थपर्यालोचनेनात्र प्रत्येकं समाप्तिः
—पु० रा० वा० प०, 2-453
3. शास्त्रेऽपि कर्तरि कृदित्येकं प्रत्ययार्थप्रतिपादकं सामान्येन ग्रहणकवाक्यमुपादीयते, तच्च प्रत्येकं प्रत्ययार्थोपाधिषु पश्वादिषु विभिन्नेषु विषयेषु विभागेन सम्बन्धमुपनीयाभिमतलक्ष्यनिष्पत्तये व्यापार्यत इति प्रत्येकमेव तत्परिसमाप्यते ।
—पु० रा० वा० पा० 2-454
4. यत्र विजातीया विभिन्नपदवाच्या क्रिया एकशब्दवाच्यानि च साधनानि तत्र कथं भिन्नाभिः क्रियाभिस्तेषां साधनानां सम्बन्धः स्यादिति...?
—पु० रा० वा० प०, 2-459

हैं ।[1] जाति तथा इतिकर्त्तव्यता आदि के द्वारा जो क्रियाएँ भिन्न हैं वे साधन के अभिधायक शब्द के एक सुनाई देने पर भी प्रतिपत्तिभेद के कारण भेद द्वारा ही सम्बन्ध को प्राप्त करती है ।[2] आचार्य भर्तृहरि द्वारा दिये गये उदाहरण को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अक्षा भज्यन्तां भुज्यन्तां दीव्यन्ताम् वाक्य में जो भिन्न शब्द द्वारा वाच्य तथा भिन्न प्रकार वाली क्रियाएँ हैं वे वाक्यभेद के बिना भी प्रत्येक में वाक्य की समाप्ति द्वारा भेद द्वारा ही स्थित है । क्योंकि प्रतिपत्ति के समय साधन भेद द्वारा ही क्रिया से सम्बन्ध प्राप्त करते हैं । प्रतिपत्ति के समय अर्थ होगा अक्षा भज्यन्ताम्, अक्षा भुज्यन्ताम्, अक्षा दीव्यन्ताम् ।[3]

पुण्यराज कहते हैं कि शब्दों के प्रयोग के दो उपाय हैं—एक क्रम दूसरा यौगपद्य कभी तो शब्दों का विभाग से प्रयोग होता है जैसे अक्षा भुज्यन्ताम्, अक्षा भज्यन्ताम् तथा अक्षा दीव्यन्ताम् । कभी तन्त्र न्याय का समाश्रयण करके शब्दों का युगपत् प्रयोग किया जाता है । जैसे—'अक्षा भुज्यन्तां दीव्यन्ताम्' अर्थात् अनेक अर्थों को कहने के लिये एक ही शब्द का प्रयोग करना तन्त्र कहलाता है । इसी तन्त्र न्याय के कारण ही अक्षा भुज्यन्तां दीव्यन्ताम् वाक्य में भिन्न अक्ष शब्दों का युगपत् प्रयोग किया गया है तथा प्रतिपत्ति के समय इनका भेद द्वारा ही क्रिया से सम्बन्ध हो जाता है ।[4] आचार्य भर्तृहरि कहते है कि क्रम एवं यौगपद्य ये दो शब्दप्रयोग के उपाय है । इनका अतिक्रमण लोक नहीं कर सकता ।[5] पुण्यराज कहते हैं कि क्रम में तो शब्दों का रूप भिन्न

1. तत्रापि प्रतिपत्तिकालसमाश्रयणेन भिन्नान्येव साधनान्यवगतानि इति तथैवेताः क्रियास्तैर्भिन्नैरेव साधनैः प्रत्येकमर्थसमाप्त्या वाक्यसम्बन्धमुपयान्तीति···।
वही, 2-459
2. जात्या आदिग्रहणादितिकर्त्तव्यतादिभिश्च या क्रिया भिन्ना असम्बद्धा उपात्तास्ताः साधनाभिधायिनः शब्दस्य सकृदभेदेन श्रुतावपि प्रतिपत्तिभेदसमाश्रयणेन भेदेनैव विनियुज्यन्ते सम्बन्धमुपगच्छन्तीति बोद्धव्यम् । —पु० रा० वा० प०. 2-459
3. अक्षा भज्यन्तां भुज्यन्तां दीव्यन्तामिति या भिन्नजातिका भिन्नशब्दवाच्याश्च क्रिया यास्ता वाक्यभेदोपादानरहिता अपि प्रत्येकं समाप्त्या भेदेनैव स्थिता इति। यस्मादन्यसाधनानि तत्र निबद्धानि भेदेनेवोपात्तानीति प्रतिपत्तिवेलायां भेदनैव क्रिया यथास्व सम्बन्धमुपयान्तीति । —वही, 2-460
4. यस्माच्छब्दाः क्रमेण विभागेनैव कदाचित् प्रयुज्यन्ते कदाचित्तन्त्रन्यायसमाश्रयणेन युगपदेवेति शब्दानां प्रयोगवेलायां क्रमयौगपद्ये उपायस्तदत्र भिन्नाः प्रयुक्ता अक्षा इति क्रिया भेदेनैवैषां सम्बन्धं गच्छन्ति । —पु० रा० प०, 2-461
5. द्वावभ्युपायौ शब्दानां प्रयोगे समवस्थितौ ।
क्रमो वा यौगपद्यं वा यौ लोको नातिवर्तते ।। —वा० प०, 2-462

होता ही है, यौगपद्य द्वारा शब्दों का प्रयोग करने पर भी अर्थ ही वैसा होने के कारण क्रियाएँ क्रमानुपातिनी होती हैं। अर्थात् ('अक्षा भज्यन्ता, भज्यन्ता दीव्यन्ताम' वाक्य में शकटाक्ष का भंजन, विभीतकाक्ष और देवनाक्ष का नहीं, इसी प्रकार विभीतकाक्ष का भक्षण न कि शकटाक्ष अथवा देवनाक्ष का तथा देवनाक्ष का ही देवन न कि शकटाक्ष अथवा विभीतकाक्ष का; इस प्रकार से अर्थ होने के कारण क्रिया क्रमानुपातिनी होती है ।[1] ये क्रम एवं यौगपद्य शब्द की भेद एवं संसर्ग रूप दो शक्तियाँ ही हैं। शब्द का ही व्यापार होने पर भी शब्द से भिन्न सी रहती हैं।[2] भेद शक्ति के कारण क्रम से शब्द रहता है जबकि संसर्गशक्ति के कारण युगपत्।[3]

पुण्यराज इस पर एक प्रश्न की आशंका करते हैं कि भेद द्वारा प्रयुक्त होने पर अनेक क्रिया पद के साथ सम्बन्ध होने से अक्षादि शब्द भिन्न होते हैं परन्तु यौगपद्य एवं क्रम स्वरूप में तो भेद होता है फिर युगपत् प्रयोग होने पर क्रिया का क्रमपूर्वक अनुपात कैसे हो सकता है।[4] इसका समाधान करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि साधन का यौगपद्य द्वारा प्रयोग करने पर भी तन्त्र द्वारा भेद से ही क्रियापद के साथ सम्बन्ध हो जाता है अतः तन्त्र के कारण वे भिन्न ही प्राप्त होते हैं।[5] इस प्रकार साधन अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है।

वाक्यों का साकांक्षत्व एवं निराकांक्षत्व

पुण्यराज कहते हैं कि वाक्य की समाप्ति का ज्ञान होने पर यह ज्ञान होता है कि वह एक वाक्य हैं या अनेक वाक्य है। तब यह आशंका होती है कि वाक्य की परि-

---

1. रूपविभागेनैव क्रमः, साधारण्येन यौगपद्यं तत्र भिन्ना क्रिया यौगपद्येति (पि) शब्दानां प्रयोगे क्रमरूपमेवानुपततीत्यर्थतथाभावात्क्रमरूपानुपातिन्येव बोद्धव्येति···। तथा च शकटाक्षस्यैव भञ्जनं न विभीतकदेवनाक्षयो, तथा विभीतकाक्षस्यैव भक्षणं नेतरयोः, देवनाक्षस्यैव देवनं न पूर्वयोरित्यर्थतथाभावाद्यौगपद्येऽपि क्रमानुपातिन्येवासाविति। —पु० रा० वा० प०, 2-463
2. ततश्च ते क्रमयौगपद्ये भेदसंसर्गशक्तिरूपे शब्दव्यापाररूपे अपि शब्देभ्यो भिन्न इव व्यतिरिक्ते इव स्थिते लक्ष्येते। —वही, 2-463
3. शब्दस्यैवंते द्वे शक्ती, यद्भेदशक्त्या क्रमेणावभाति संसर्गेण तु युगपदिति। —वही, 2-464
4. नन्वेवं भेदेप्रयोगेऽनेकेन क्रियापदेन सम्बन्धाद्भिद्यते एव साधारण्याद् यौगपद्यक्रमस्वरूपयोर्भेदात् कथं युगपत्प्रयोगे क्रमरूपानुपातित्वमेव क्रियायाः श्रुतेरुक्तमिति···। —वही, 2-464
5. यौगपद्येऽपि साधनस्य प्रयोगे भेदेन क्रियापदसम्बन्धाद्भिद्यत एव साधारणी श्रुतिरिति; तन्त्रेण हि सा भिन्नैवोपात्तेत्यर्थः। —पु० रा० वा० प०, 2-464

समाप्ति शब्दलक्षणा होनी चाहिये अथवा अर्थ लक्षणा । इसका उत्तर देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि शब्दलक्षणा वाक्यपरिसमाप्ति जाननी चाहिये अर्थ लक्षणा नहीं । यह निश्चित है कि शब्दलक्षणा वाक्य की समाप्ति होती है अतएव वाक्यों के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने साकांक्षत्व एवं निराकांक्षत्व का विचार किया है ।[1]

आचार्य भर्तृहरि कहते है कि जिस वाक्य में शब्द लक्षणा आकांक्षा समाप्त हो जाती है वह वाक्य समाप्तार्थ कहलाता है, सामर्थ्य के कारण अर्थ की इतिकर्त्तव्यता में चाहे आकांक्षा है ।[2]

पुण्यराज उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'व्रीहयो बहवोऽवहन्यन्ताम्' वाक्य में शब्दाश्रित आकांक्षा नहीं है । व्रीहियों का अवहनन उलूखल मूसल आदि के सन्निधान के बिना नहीं हो सकता । इस अर्थ की अपेक्षा होने पर भी वाक्य अपरिसमाप्त नहीं कहा जाता क्योंकि शब्दलक्षणा अपेक्षा नहीं है ।[3] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि तत्त्व के अन्वाख्यान मात्र में जो अर्थ नान्तरीयक रूप में सम्बद्ध होता है उसका शब्दों द्वारा प्रयोग किये बिना भी शब्दों के द्वारा वह वाक्य समाप्त होता है । अर्थात् शब्दलक्षणा आकांक्षा न होने पर वह वाक्य समाप्त होता है ।[4] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'व्रीहयो बहवोऽवहन्यन्ताम्' वाक्य द्वारा केवल व्रीहियों के अवहनन मात्र का अन्वाख्यान होता है । उलूखलादिका जो सन्निधान आनुषाङ्गिक रूप से प्राप्त होता है उसका शब्द द्वारा प्रतिपादन किये बिना भी वह वाक्य समाप्त कहलाता है ।[5]

---

1. अथ वाक्यपरिसमाप्तिज्ञानपूर्विका नानावाक्यतैकवाक्यतावा ज्ञातुं शक्या, नान्यथेत्याशङ्क्य शब्दलक्षणा वाक्यपरिसमाप्तिर्बोद्धव्या, नार्थलक्षणेत्यत्र साकांक्षत्वानाकांक्षत्वविचारमाह ।' —वही, 2-445
2. इतिकर्त्तव्यताऽर्थस्य सामर्थ्याद्यस्य काङ्क्ष्यते ।
अशब्दलक्षणाकांक्षं समाप्तार्थं तदुच्यते ।। — वा० प०, 2-445
3. यथा व्रीहयो बहवोऽवहन्यन्तामित्यत्र शब्दापेक्षा तावन्नास्त्येव, व्रीहीणां त्ववहननमुलूखलमुसलकर्मकर्त्रादिसन्निधानमन्तरेण न सम्पद्यत इति तदपेक्षणाद्वाक्यं नात्र परिसमाप्तमिति न युक्तं वक्तुम्, शब्दलक्षणापेक्षाऽयोगादिति । —पु० रा० वा० प०, 2-445
4. तत्वाख्यानमात्रे तु यावानर्थोऽनुषज्यते ।
विनाऽपि तत्प्रयोगेण श्रुतेर्वाक्यं समाप्यते ।। —वा० प०, 2-446
5. व्रीहीणामवहननमत्रान्वाख्यायते, तस्मिंश्च सति उलूखलादिसन्निधानं यदनुषज्यते तस्य प्रयोगेण शब्देन प्रतिपादनेन विनाऽपि तत्र तद्वाक्यं श्रुतया शब्दव्यापारेण समाप्तमेवेति बोद्धव्यम् । —पु० रा० वही, 2-446

वाक्यों में शब्दवैचित्र्य

अर्थ में भेद न होने पर भी शब्दस्वभाव के कारण शब्दों में गुणप्रधान भाव होता है।[1] अर्थात् शब्द अपने स्वभाव के कारण कभी गौण रूप में कभी प्रधान रूप में प्रयुक्त होते हैं परन्तु अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं आता। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि चङ्क्रम्यमाणोऽधीष्व तथा जपंश्चङ्क्रमणं कुरु वाक्यों में अर्थ भेद न होने पर भी शब्द के कारण भेद प्रतीत होता है।[2] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'चङ्क्रम्यमाणो जपं कुरु' अथवा 'जपंश्चङ्क्रमणं कुरु दोनों ही वाक्यों के द्वारा जप विधि अभिहित है केवल चङ्क्रममाणो जप वाक्य में जप प्रधान रूप में अभिहित है तथा चङ्क्रमण गुण रूप में जपंश्चङ्क्रमणं कुरु वाक्य में जप गुण रूप में है तथा चङ्क्रमण की प्रधानता है। पुण्यराज कहते हैं कि दोनों ही वाक्यों में जपयुक्त चङ्क्रमण प्रतीत होता है अतः अर्थ भेद नहीं है केवल शब्द प्रतिपादन का वैलक्ष्य है।[3]

कभी कभी शब्दभेद नहीं होने पर भी सामर्थ्य के कारण अर्थ प्रतिपत्ति का वैचित्र्य होता है। यह अशाब्द् व्यापार है।[4] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि कभी एक ही आख्यात के द्वारा क्रिया भेदों की प्रतीति हो जाती है क्योंकि उनकी इतिकर्तव्यता एवं फल में भेद होता है।[5] उदाहरण के लिए 'यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहोति' तथा 'यजते देवदत्तः' इत्यादि वाक्यों में यद्यपि एक ही आख्यात पद है फिर भी उसी के द्वारा क्रिया भेदों की प्रतीति

---

1. इदानीमर्थप्रत्यायनाभेदेऽपि शब्दवृत्तेन गुणप्रधानतयाऽभिधानं शब्देषु सम्भवतीति।
—पु० रा० वा० प०, 2-447

2. चङ्क्रम्यमाणोऽधीष्वात्र जपंश्चङ्क्रमणं कुरु।
तादर्थ्यस्याविशेषेऽपि शब्दाद्भेदः प्रतीयते॥
—वा० प०, 2447

3. चङ्क्रम्यमाणोऽत्र जपं कुरु अथवा जपंश्चङ्क्रमणं कुर्वित्यत्र उभयथा जपविधिः प्रतीयते, केवलं चङ्क्रम्यमाणो जपेत्यत्र जपः प्राधान्येनाभिधीयते, चङ्क्रमणं गुणवृत्या, जपंश्चङ्क्रमणं कुर्वित्यत्र तु जपस्य गुणभावः, प्राधान्यं तु चङ्क्रमणस्य। अथवोभयथाऽपि जपयुक्तत्वाच्चङ्क्रमणस्यार्थभेदो न कश्चित्। शब्दप्रतिपादन वैलक्षण्यमात्रमेवावशीयत इति। —पु० रा० वा० प०, 2-447

4. एवमर्थाभेदेऽपि शब्दप्रतिपादनवैचित्र्यमुपदर्शितमिदानीं शब्दभेदात् सामर्थ्यादर्थप्रतिपत्तिवैचित्र्यं भवतीत्यत्राशाब्दमपि व्यापारं प्रदर्शयितुमाह'''।
—पु० रा० वा० प०, 2-448

5. फलवन्तः क्रियाभेदाः क्रियान्तरनिबन्धनाः।
असंख्याताः क्रमोद्देशैरेकाख्यातनिदर्शनाः॥ —वा० प०, 4-448

हो रही हैं। वह भेद फल एवं स्वरूप के कारण होता है। कभी स्वर्ग की इच्छा से यज्ञ किया जाता है, कभी हस्ति की इच्छा से यज्ञ किया जाता है, कभी धन की इच्छा से। आख्यात एक होने पर भी इतिकर्त्तव्यता एवं फल में भेद होने के कारण अनेक क्रियाओं की प्रतीति होती है।[1] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि निवृत्त भेद वाली सभी क्रियाएँ आख्यातपद में सामान्य रूप से अभिहित होती है। शब्द मात्र से भेदों का प्रविभाग ज्ञात नहीं हो सकता।[2] उदाहरण के लिये अश्वमेधेन यक्ष्यन्ते राजानः तथा सत्रमासते ब्राह्मणा इन दोनों वाक्यों में फल एवं साधन के भेद के कारण यजिक्रिया में भेद होने पर भी आख्यात के द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती। वह भेद अर्थ के सामर्थ्य से ही अवगत होता है। इस प्रकार शब्द अनेक धर्मवाला होता है।[3] आचार्य भर्तृहरि द्वारा दिये गये वैदिक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि सप्तदश प्राजापत्यानेकवर्णानजांस्तूपरान् लभेत' वाक्य में आलम्भन क्रिया की आवृत्ति न होने पर भी एक ही बार श्रवण होने पर भी आलम्भ्य भेद के कारण भेदरूप में ही अवस्थित होती है। अतः शब्द भेद न होने पर भी अर्थ वैचित्र्य होता है।[4]

द्व्यर्थक वाक्य

कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जिनके दो अर्थ होते हैं। पुण्यराज ने लोक एवं व्याकरण शास्त्र दोनों में ही द्विष्ठ[5] वाक्यों के उदाहरण दिये हैं जैसे व्याकरण में इग्यणः सम्प्र-

---

1. 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' तथा 'यजते देवदत्तः' इत्यादावेकाख्यातनिदर्शनाः एकमाख्यातपदं निदर्शनं वाचकं येषां ते तथाभूताः क्रियाभेदाः प्रतीयन्ते। भेदश्च स्वरूपेण फलेन च भवतीति···। स्वर्गकामः कदाचिद् यजते, कदाचिद्धस्तिकामः कदाचित्पुत्रकामो धनकामो वेति। —पु० रा० वही, 2-448
2. निवृत्तभेदा सर्वैव क्रियाऽख्यातेऽभिधीयते।
   श्रुतेरशक्या भेदानां प्रविभागकल्पना॥ —वा० प०, 2-449
3. अश्वमेधेन यक्ष्यन्ते राजानः सत्रमासते।
   ब्राह्मणा इति नाख्यातरूपाद्भेदः प्रतीयते॥ —वही, 2-450
   अत्र फलसाधनभेदाद् यजिक्रियायाः सत्यपि भेदे नैवाख्यातशब्दात् तत्प्रतीतिरस्ति, अर्थसामर्थ्यात्तु भेदस्तस्या अवगम्यते इति नाना शब्दधर्माः।
   पु० रा० वही, 2-450
4. सप्तदश प्राजापत्यानेकवर्णानजांस्तूपरानालभेतेत्यत्रानावृत्ताप्यालम्भनक्रिया सकृच्छ्रुता शब्देनानावृत्तेनैकेनावगतोत्तरकालं त्वालभ्यभेदाद्भेदेनावतिष्ठत इति बोद्धव्यम्। —वही, 2-451
5. द्वयोरर्थयोस्तिष्ठन्तीति द्विष्ठानि। —पु० रा० प०, 2-468

सारणम्', 'द्विर्वचनेऽचि', 'तद्धरति वहत्यावहतिभारानंशादिभ्य:' तदस्य ब्रह्मचर्यम् इत्यादि । लोक में श्वेतो धावति अलम्बुसानां याता इत्यादि वाक्य ।[1] पुण्यराज कहते हैं कि जो शब्दाभेदवादी हैं वे यह मानते हैं कि शब्द की अनेक शक्तियाँ होने के कारण ही उस शब्द की शक्ति ही दो अर्थों के प्रतिपादन के लिये विभक्त होती है ।[2]

पुण्यराज कहते हैं कि शब्दैकत्ववादी शक्ति तन्त्र के कारण एक शब्द का अनेक अर्थों मे प्रयोग मानते हैं ।[3] जबकि शब्दभेदवादी शब्द तन्त्र को मानते हैं अर्थात् उनके अनुसार दोनों ही अर्थों में शब्द भिन्न-भिन्न ही हैं । दोनों के लिये एक शब्द प्रयुक्त किया गया है ।[4] जैसे किसी ने यह पूछा कि यण् स्थानिक इग् लक्षण वर्ण की क्या संज्ञा है तथा दूसरे ने यह पूछा कि यण एवं इक् का क्या अर्थ है ? यदि स्थानी आदेश भावलक्षण सम्बन्ध है तो उसकी क्या संज्ञा है अर्थात् यण् के स्थान पर इक् होता है' इस वाक्य की क्या संज्ञा है । पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य पाणिनि ने लाघव के कारण तन्त्र न्याय का आश्रय लेकर सम्प्रसारणम् इस एक शब्द द्वारा ही उत्तर दे दिया ।[5] इसी प्रकार एक ने पूछा कि कौन भाग रहा है तथा दूसरे ने पूछा कि किस वर्ण वाला भाग रहा है ? इन दोनों के लिये लाघव के कारण 'श्वेतो धावति' वाक्य द्वारा उत्तर दिया जाता है । यह वाक्यार्थ प्रतिपत्ताओं के लिये भिन्न-भिन्न होता है । जिसने पूछा कौन भाग रहा है उसके लिये 'श्वा इतो धावति' इस रूप में अवस्थित होता है तथा

1. यथा 'इग्यण: सम्प्रसारणम्', 'द्विर्वचनेऽचि', 'तद्धरतिवहत्यावहति भारानंशादिभ्य:', 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' इत्यादीनि शास्त्रीयाणि । तथा श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेत्यादीनि लौकिकानि वाक्यानि । —वही, 2-468
2. द्विष्ठानि शास्त्रीयाणि लौकिकानि च यानि वाक्यानि तेष्वपि शब्दैकत्वदर्शिनां मते एकस्यैव तस्य प्रतिपादकस्य शब्दस्यानेकशक्तेरसौ स्वशक्तिरेव प्रविभज्यते । —वही, 2-468
3. तेष्वर्थद्वयप्रतिपादनाय शक्तिर्विभज्यत इति शक्तितन्त्रप्रतिपादनम् । —वही, 2-468
4. भेददर्शिनां पुनर्मते भिन्नावेव शब्दौ तन्त्रेणोपातावित्ति शब्दतन्त्रं प्रतिपादयितुमाह···। —पु० रा० वा० प०, 2-469
5. यथा यण्स्थानिकस्येग्लक्षणस्य वर्णस्य का संज्ञा स्यादित्येकेन पृष्टम्, तदपरेण यणि कोऽर्थ ? (यहाँ यणिकोऽर्थ: न होकर यणिक: कोऽर्थ: होना चाहिये) । स्थान्यादेश भावलक्षण सम्बन्ध:, स किंसंज्ञ इति । लाघवादाचार्यस्तन्त्रन्यायसमाश्रयात् सम्प्रसारणमित्येकेनैव शब्देनोत्तरमाह । —वही, 2-469

जिसने पूछा किस रंग वाला भाग रहा है उसके लिये 'श्वेतो धावति' इस रूप वाला होता है। इस प्रकार तन्त्र के कारण दो प्रकार की अर्थव्यक्ति उत्पन्न होती है।[1]

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि वक्ता को एक ही शब्द के प्रतिपादन की विवक्षा उत्पन्न होती है दूसरा अर्थ स्वयं हो जाता है। शब्दभेदवादी यह कहते है कि वक्ता की इच्छा न होने पर भी समान रूप से श्रुति के कारण दूसरे की भी निष्पत्ति हो जाती है जिससे दोनों अर्थों का बोध होता है।[2] अभेद वादियों के मत में प्रयोक्ता द्वारा अभिसन्धान (अर्थ में शब्द का विनियोग) के बिना ही साधारणत्व के कारण वह शब्द शक्तिद्वय से युक्त हो जाता है।[3] स्पष्ट शब्दों में शुक्लजातीय के प्रत्यायन की शक्ति वाला श्वेत शब्द उच्चारित किया जाता है। एक ही अर्थ का प्रत्यायन करता हुआ तन्त्र द्वारा सामर्थ्य के कारण दूसरे अर्थ का प्रकाशन कर देता है।[4]

पुण्यराज कहते हैं कि यदि दोनों ही अर्थों की विवक्षा हो तब भी शक्तिद्वय के कारण युगपत् ही दोनों अर्थों का प्रकाशन करता है। यह शक्ति तन्त्र है।[5] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि कहीं एक ही शब्द की एक साथ अनेक शक्तियों का आश्रय लिया जाता है। एक ही अग्नि प्रकाश एवं दाह दोनों के लिये एक ही स्थान पर नियोजित की जाती है।[6] पुण्यराज स्पष्ट कहते हैं कि श्वेतो धावति इत्यादि में एक साथ ही दो

---

1. तथैकेन पृष्टं किं जातीयो धावतीत्यपरेण किं वर्णो धावत्यनयोर्लाघवात् प्रतिपत्ति श्वेतो धावतीति तत्रासौ वाक्यार्थः प्रतिपत्तृषु भिद्यते, येन पृष्टं किं जातीयस्तस्य श्वा इतो धावतीत्येवंरूपतया व्यवतिष्ठते। येन च किं वर्ण इत्ययुक्तं तस्य श्वेतगुणयुक्तो धावतीत्यर्थरूपोऽसौ जायत इति तन्त्रनिबन्धना द्विधात्रार्थव्यक्तिरुपजायत इति। —पु० रा० वा० प, 2-469
2. वक्त्रिच्छाविरहादपि साधारणत्वादपरस्य निष्पत्तिस्ततोऽर्थद्वयप्रतिपत्तिः। —वही, 2-471
3. अभेदवादिनामपि मते तन्त्रस्य प्रकारान्तरमाह—विनेति। प्रयोक्त्रभिसन्धानमन्तरेण तत्रासौ शब्दः साधारणत्वाच्छक्तिद्वययुक्तः प्रकाशते। —वही,
4. एतदुक्तं भवति—शुक्लजातीयप्रत्यायनशक्तिः प्राणिविशेषप्रत्यायनशक्तिर्वा श्वेतशब्दस्तत्रोदीरितः, स तत्रैकमर्थं प्रत्याययंस्तन्त्रेण सामर्थ्यादर्थान्तरप्रकाशनं करोत्येव। — वही,
5. अथवा तुल्यलक्षतया शक्तिद्वययोगाद्युगपदेव अर्थद्वयप्रकाशनं करोतिति शक्तितन्त्रतामाश्रित्याह···। —पु० रा० वा० प०, 2-472
6. अनेकशक्तिरेकस्य युगपच्छ्रूयते क्वचित्। अग्निः प्रकाशदाहाभ्यामेकत्रापि नियुज्यते ॥ —वा० प० 2-472

अर्थों के प्रत्यायन में समर्थ शक्तिद्वय का आश्रयण कर लिया जाता है। इस प्रकार अनेक शक्तियों के योग के कारण युगपत् ही दो अर्थों के प्रकाशन के लिये शब्द का समाश्रयण होता है।[1]

इस प्रकार शब्दभेदवादियों के अनुसार आवृत्ति के द्वारा भिन्नार्थ को एक ही शब्द प्रदान करता है तथा शब्दैकत्ववादियों के अनुसार शक्ति भेद द्वारा एक ही शब्द अनेक अर्थों को प्रदान करता है। इग्यणः सम्प्रसारणम् सूत्र में सम्प्रसारणम् शब्द शब्द-भेदवादियों के अनुसार लिंग के कारण एक ही समय दो अर्थों को प्रदान करता है।[2]

पुण्यराज इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सम्प्रसारणात्पर पूर्वो भवति तथा सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवति सूत्रों में भूतविभक्ति का निर्देश है इससे यह सिद्ध होता है कि वर्ण संज्ञी है तथा वसोः सम्प्रसारणम् इत्यादि सूत्रों में भावि-विभक्ति निर्देश से 'यण् के स्थान पर इक्' इस वाक्यार्थ को भी संज्ञी मान लिया जाता है।[3] अभेदवादी शक्तितन्त्र के कारण शक्ति भेद मान लेते है अतः इग्यणः सम्प्रसारणम् सूत्र में सम्प्रसारण शब्द शक्तिद्वय के कारण एक ही बार वर्ण एवं वाक्य लक्षण अर्थ का प्रतिपादन करा देता है।[4] महाभाष्य में भी कहा गया है कि विभक्ति विशेष निर्देश ज्ञापक है कि दोनों की ही सम्प्रसारण संज्ञा होती है।[5]

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि महाभाष्यकार ने 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र में एकशेष द्वारा निर्देश करके तन्त्र एवं आवृत्ति का ही वर्णन किया है।[6] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते

---

1. एकस्यैव शब्दस्य क्वचित् श्वेतो धावतीत्यादौ विषये युगपदेवार्थद्वयप्रत्यायनसमर्थं शक्तिद्वयमाश्रीयते, यथा क्वचिदवसरे दाहप्रकाशाभ्यां युक्तोऽग्निरेकत्रापि प्रकाशे दाहे वा नियुज्यते उपयोगवशाद्धर्मद्वयायप्युपादीयत इत्यर्थः। तथैवानेकशक्तियोगा-द्युगपदर्थद्वयप्रकाशनाय शब्दः समाश्रीयत इति। —पु० रा० वही, 2-472

2. आवृत्तिशक्तिभिन्नार्थे वाक्ये सकृदपि भूते।
लिङ्गाद्वा तन्त्रधर्माद्वा विभागेनावतिष्ठते॥ —वा० प०, 2-473

3. यस्मात्सम्प्रसारणस्येति भूतविभक्तिनिर्देशं पश्यति, ततोऽवस्यति वर्णः सञ्ज्ञीति वसोः सम्प्रसारणमित्यादि भाविविभक्तिनिर्देशाद्वाक्यार्थस्यापि संज्ञित्वमवस्यतीत्यावृत्तिमेव शब्दभेदवाद्यनुमिनोति। —पु० रा० वा० 2-473

4. अभेदवादी तु शक्तिभेदं तन्त्रधर्माच्छक्तितन्त्रलक्षणादनुमिनोतीत्यत्र सम्प्रसारणशब्दः शक्तिद्वयवशाद्युगपद्वर्णवाक्यलक्षणस्यार्थद्वयस्यापि प्रतिपादनं करोत्येव। —वही, 2-473

5. उक्त च—'विभक्तिविशेषनिर्देशस्तु ज्ञापक उभयसंज्ञात्वस्य' इति।
—पु० रा० वा० प० 2-474 तथा महाभा०, 1।1।45 वार्तिक 3

6. तथा द्विर्वचनेऽचीति तन्त्रोपायादिलक्षणः।
एकशेषेण निर्देशोभाष्य एवोऽवर्णितः॥ —वा० प०, 2-475

हुए कहते है कि 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र का महाभाष्य में द्वित्व निमित्तक अच् पर रहते जो अजादेश होता है वह द्वित्व करने के लिये ही स्थानीवत् होता है, अर्थ किया गया है। महाभाष्य में यह प्रश्न किया गया है कि द्वितीय 'द्विर्वचन' का ग्रहण करना चाहिये अथवा नही ? इस पर भाष्य में कहा गया है कि एकशेष द्वारा निर्देश होने के कारण दूसरा द्विर्वचन भी इसमें समाविष्ट है। यदि एक शेष है तो दूसरा 'द्विर्वचन' प्राप्त हो जाता है। पुण्यराज कहते हैं कि एक शेष के समान फल वाला तन्त्र ही एकशेष शब्द द्वारा महाभाष्यकार ने कहा है।[1] इस प्रकार एकशेष के बिना भी तन्त्र न्याय के समाश्रयण से द्विर्वचनेऽचि सूत्र की अर्थ संगति हो जाती है अतः एकशेष के समान फल वाला शास्त्र की प्रवृत्ति का उपायभूत तन्त्र ही महाभाष्यकार ने भी स्वीकार किया है।[2]

इस प्रकार अखण्ड वाक्यपक्ष में यद्यपि श्वेतो धावति, इग्यणः सम्प्रसारणम् इत्यादि अखण्ड हैं फिर भी श्वेतः इत्यादि में श्वा इतः इनका संसर्ग सा प्रतीत होता है। इसीलिये तन्त्र द्वारा अवस्थित अखण्ड रूप श्वेत, श्वा इत तथा श्वेतः इन नाना रूपों की प्रतीति कराता है।[3]

---

1. इह द्विर्वचनेऽचीत्यत्र द्विर्वचननिमित्तेऽचि योऽलादेशः द्विर्वचन एव कर्त्तव्ये स्थानीवदिति सूत्रार्थो व्याख्यायते, तत्रोक्तं यत्पुनर्द्वितीयं द्विर्वचनग्रहणं कर्त्तव्यमित्याह— 'एकशेषनिर्देशात् सिद्धम्' इति। यद्येकशेषस्तदा द्विर्वचनं प्राप्नोतीत्यत एकशेषसमान फलसाधारणलक्षणं तन्त्रमेवात्रैकशेषशब्देनोक्तम्। — वही, 2-475
2. तस्मादेकशेषमन्तरेणापि तन्त्रन्यायसमाश्रयणाद् द्विर्वचनेऽचीत्यत्रार्थसङ्गतेरेकशेषसमानफलं शास्त्रप्रवृत्युपायभूतं तन्त्रमभ्युपगतं भाष्य इति सिद्धम्।
—पु० रा० वही०, 2-475
3. एकस्मिन् श्वेत इत्येवं भेदानां रूपे श्वा इत श्वेतश्च इत्येतेषां संसर्ग इव स्थितः। तस्मात्तद्रूपं रूपान्तरादन्यदपि तन्त्रन्यायसमाश्रयणेनोभयार्थप्रत्यायकतया प्रविभज्यत इत्यस्मिन् पक्षे श्वेत इत्यखण्डमेव प्रत्यायकम्। —पु० रा० वा० प०, 2-67

षष्ठ अध्याय

भर्तृहरि का पदविवेचन

पूर्व अध्याय में स्पष्ट कर दिया गया है कि वैयाकरणों को अखण्डवाक्य पक्ष ही अभिप्रेत है। अर्थात् वाक्य अखण्ड रूप से ही अर्थ का अभिधान करता है। पदवाद वैयाकरणों को मान्य नहीं है। वे वाक्य में अलग-अलग पदों के अर्थों की सत्ता नहीं मानते। 'अयं गोः अस्ति' वाक्य अखण्ड रूप से गो का अस्तित्व विषयक ज्ञान कराता है। अयम्, गौः, अस्ति इन पृथक्-पृथक् पदों का वाक्यार्थ ज्ञान में अर्थ नहीं है। पदवादी इसके विपरीत पदों के अर्थ से अतिरिक्त वाक्यार्थ को नहीं मानते। वे यह मानते हैं कि वाक्य में पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ ही किसी न किसी रूप मे अन्वित होता हुआ अर्थबोध कराता है। अतः पदवादियों के अनुसार तो पदों का विवेचन उपयुक्त है। अब प्रश्न यह उठता है कि अखण्डवाक्य पक्ष में वाक्य में पदों का कोई अर्थ ही नहीं है तो फिर उनके सम्बन्ध में विवेचन आचार्य भर्तृहरि ने अपनी वाक्यपदीय में क्यों किया है। इसका उत्तर देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अबुध बोधन के लिये वाक्य में पदों का अपोद्धार किया जाता है कि यह गो पद का अर्थ है, यह देवदत्त पद का अर्थ है।[1] वास्तव में पद-पदार्थ का विभाग अविद्या है परन्तु फिर भी ये वाक्यार्थ ज्ञान के उपाय हैं। जिस प्रकार अविद्या के द्वारा ब्रह्म रूप विद्या का बोध होता है उसी प्रकार पदों के द्वारा वाक्य रूप विद्या का ज्ञान होता है।[2]

इस प्रकार अपोद्धार बुद्धि से पद पदार्थ की कल्पना करके उनके सम्बन्ध में विवेचन करना उचित होता है।[3] इसलिये आचार्य भर्तृहरि ने पद विभाग एवं पदार्थ का विवेचन किया है।

---

1. वाक्य एवार्थापोद्धारसमाश्रयणेन पदार्थभेद उपपद्यते अयं देवदत्तपदार्थ अयं गोपदार्थ इति। —पु० रा० वा० प०, 2-20
2. शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
   अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्तते॥ —वा० प०, 2-233
   अविद्योवासत्या प्रक्रियाभेदेनोपवर्ण्यत इति···।
   अविद्योपमर्देन ह्युत्तरकालमागमविकल्परहिता शास्त्रप्रक्रियाप्रपञ्चशून्या विद्योपवर्तते प्रकटीभवति। एतदुक्तं भवत्यविद्यैव विद्योपाय इति।
   —पु० रा० वा० प०, 2-233
3. इत्येवमपोद्धारप्रसङ्गेन पञ्चधा पदविभागः प्रदर्शितः। —वही, 2-205

आचार्य भर्तृहरि ने तत्कालीन प्रचलित पांच पदविभागों का विवेचन अपनी कारिकाओं में किया है वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड की एक कारिका से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भर्तृहरि ने उस समय प्रचलित सभी पदविभागों का विवेचन किया है।[1]

आचार्य भर्तृहरि ने निरुक्तकार के मत का अनुसरण करते हुए ही नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात तथा अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत कर्मप्रवचनीय, पाँचों का विवेचन किया है।

नामपद

नाम पद का विवेचन करते हुए आचार्य भर्तृहरि सर्वप्रथम सामान्य रूप से पद का अर्थ क्या है इस विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत बारह मतों का विवेचन करते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि पद के अर्थ को (अपोद्धार के द्वारा) स्वीकार कर लेने पर पद का अर्थ क्या है इस सम्बन्ध में आचार्य भर्तृहरि मतभेद के द्वारा विचार करते हैं।[2] भर्तृहरि द्वारा विवेचित बारह पक्षों का वर्णन इस प्रकार है —

पदों के अर्थ के विषय में प्रचलित बारह मत

प्रथम मत

प्रथम मत को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि इस मत के अनुसार सभी गवादि शब्दों का वाक्यार्थ कुछ विद्वानों के अनुसार अपूर्व, देवता, स्वर्ग इत्यादि के समान आकारादि से रहित, अर्थ-सामान्य मात्र होता है।[3] पुण्यराज उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि कुछ आचार्यों के अनुसार शब्द केवल अर्थमात्र (सत्तामात्र) का बोध कराते हैं। उनमें आकारादि का परामर्श नहीं होता।[4] अर्थात् गवादि पदों के द्वारा गो पिण्ड के आकारादि का अभिधान नहीं होता। जो आकारादि हमें दिखाई देते

---

1. यथा—द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धापञ्चधापि वा।
   अपोद्धृत्येव वाक्येभ्य प्रकृतिप्रत्यादिवत्॥
   —पु० रा० वा० प० 2-205 पर उद्धृत
2. अथ पदप्रविभागश्चेत् समाश्रितस्तदुच्यतां पदस्यार्थ इति प्रविभागप्रसङ्गात् पदार्थविवेचनं मतभेदेन कर्तुमाह···। —पु० रा० वा० प०, 2-119
3. अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
   अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥ —वा० प०, 2-119
4. सर्वशब्दानामपरामृष्टाकारविशेषमर्थमात्रं वाच्यमिति केचिदाहुः।
   —पु० रा० वा० प०, 2-119

हैं वे वास्तव में शब्द के वाच्य नहीं होते। वे उस अर्थ से नान्तरीयक रूप में सम्बद्ध होने के कारण प्रतीत होते हैं।[1] पुण्यराज कहते हैं कि यदि आकारादि भी गवादि के वाच्य होते तो अपूर्व, देवता, स्वर्ग, इत्यादि शब्दों से भी आकार ग्रहण होता।[2] आचार्य भर्तृहरि आकार की प्रतीति का कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आकार का अवग्रह बार-बार उसी आकार से युक्त अर्थ में प्रयोग को देखने के कारण होती है। वह शब्द का विषय न होकर अन्य किसी प्रयत्न के कारण होती है।[3] अर्थात् बार-बार जब गो शब्द के उच्चारण करने पर मास्नादि-पिण्ड को देखता है तो वह उस शब्द का वाच्य नहीं होता, अपितु बार-बार के प्रयोग के दर्शन के कारण ऐसी प्रतीति होती है। अतः शब्द का अर्थ विशिष्ट आकार से रहित अर्थ मात्र ही होता है।[4]

द्वितीय पक्ष

द्वितीय पक्ष का विवेचन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि कुछ भेदतदभिधायक शब्दों के द्वारा प्रकाशित होते हैं और कुछ अनुनिष्पादी अर्थ होते हैं। इस सभी को शब्द का ही अर्थ कहते हैं।[5] पुण्यराज उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कुछ जाति इत्यादि भेद तो शब्द के वाच्य होते हैं तथा कुछ अनुनिष्पादि अर्थात् अर्थोत्पत्ति के बाद उत्पन्न होने के कारण अर्थ के प्रयोजक होते हैं। द्वितीय पक्ष के अनुसार पदों के द्वारा इन सभी का बोध होता है।[6]

इस मत का आचार्य भर्तृहरि ने खण्डन किया है। वे कहते हैं कि जाति पदार्थ पक्ष में पदों के द्वारा जाति का ही बोध होता है उसके साथ-साथ जो व्यक्ति की प्रतीति

---

1. यत्तु गवादिष्वाकारप्रथनं तन्नान्तरीयकतया बोद्धव्यम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-119

2. अन्यथाऽपूर्वशब्दाद्देवताशब्दात्स्वर्गशब्दादश्वगवादिशब्दवदाकारादिप्रथनं स्यात्।
—वही, 2-119

3. प्रयोगदर्शनाभ्यासादाकारावग्रहस्तु यः।
न स शब्दस्य विषयः स हि यत्नान्तराश्रयः॥ —वा० प०, 2-120

4. शब्दस्यार्थमात्रमेवापरामृष्टाकारविशेषं वाच्यं युक्तमित्येकः पक्षः।
—पु० रा० वा० प०, 2-120

5. केचिद् भेदाः प्रकाश्यन्ते शब्दैस्तदभिधायिभिः।
अनुनिष्पादिनः कांश्चिच्छब्दार्थं इति मन्यते॥ —वा० प०, 2-221

6. केचिद्भेदाः जात्यादयः शब्दवाच्या, केचित्त्वार्थप्रयोजका अनुनिष्पादिन एव। तथा तांश्च शब्दार्थ इत्यपरे मन्यन्ते। —पु० रा० वा० प०, 2-121

होती है वह अनुषांगिक रूप से होती है (न कि शब्द के वाच्यार्थ के रूप में) यही कारण है कि जातिशब्द व्यक्तिगत आकारों का बोध नही कराता ।[1] पुण्यराज भर्तृहरि का ही अनुकरण करते हुए कहते है कि जातिपदार्थ पक्ष में शब्द केवल जातिमात्र का ही वाचक होता है । जाति निरधिकरण नहीं रह सकती अतः आनुषंगिक रूप से व्यक्ति की प्रतीति होती है परन्तु उस व्यक्ति को शब्द का अर्थ नहीं माना जाता यही कारण है कि शब्द के द्वारा व्यक्तिगत आकार विशेष का बोध नहीं होता ।[2] उदाहरण के लिये 'घट' शब्द के द्वारा सामान्य आकार से युक्त घट सामान्य का ही बोध होता है । अलग-अलग घटादि के आकार विशेष की अवगति 'घट' शब्द से नहीं होती । जो आकार सामान्य सभी घटों का होता है उसका ही बोध घट शब्द कराता है । परन्तु कई बार कोई घट नीचे से मोटा होता है तो कोई कम मोटा होता है । घट शब्द के उच्चारण द्वारा उस विशिष्ट आकृति का बोध नहीं होता ।[3] अतः घटादि पदों के द्वारा व्यक्तिगत आकारादि का बोध नहीं होता ।

तृतीय पक्ष

इस पक्ष को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि इस मत के अनुसार जिस अर्थ के बिना शब्द के अभिधेय का निर्वहण नहीं होता वह सारा का सारा साध्य एवं साधनात्मक अर्थ शब्द का ही अभिधेयार्थ कहलाता हैं ।[4] यह कहना उचित नहीं है कि कुछ शब्द के द्वारा प्रत्याय्य होता है तथा अन्य अर्थ नान्तरीयक रूप में ज्ञात हो जाता है । अपितु सारा ही गौण अथवा मुख्य अर्थ शब्द के ही द्वारा प्रतीत होता है ।[5] आचार्य

---

1. जातेः प्रत्यायके शब्दे या व्यक्तिरनुषङ्गिणी ।
न तद् व्यक्तिगतान् भेदान् शब्दोऽवलम्बते ॥ —वा० प०, 2-122
2. जातिशब्दा जातिमात्रं प्रत्यायन्ति । व्यक्तिस्तु तत्रानुषङ्गिणी । निरीधकरणाया जातेरसम्भवादिति कृत्वा । तद्व्यक्तिगतानाकारविशेषान् जातिपदार्थपक्षे जातिशब्दो नावलम्बते । —पु० रा० वा० प०, 2-122
3. घटादीनां प्रसिद्धानामाकारान्वाचकः शब्दो घटादिर्न प्रत्याययति, पृथुबुध्नोदराकारमात्रनिवेशित्वात् । नहि सकलविशेषसहितमर्थं शब्दः प्रत्याययितुमलमिति तत्राकारविशेषावगतिर्नान्तरीयक्येवानुनिष्पादिन्येव बोद्धव्या ।
—पु० रा० वा० प०, 2-12
4. येन केनचिद्विना शब्दस्याभिधेयं न निर्वहति तत्सर्वं साध्यसाधनात्मकं शब्दाभिधेयं वक्तुं युक्तम् । —पु० रा० वा० प०, 2-125
5. किञ्चित् प्रत्याय्यते, अन्यत्तत्र नान्तरीयकतयाऽवगम्यत इत्यपि न शोभनम्; किन्तु सर्वाकारमेवाभिधेयं गुणप्रधानभावेन तस्मात् प्रतीतमित्ययं पक्षः शोभनः ।
—पु० रा० वा० प०—2-125

कपिलदेव द्विवेदी द्वितीय मत एवं इस मत में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि द्वितीय मतावलम्बी कुछ आकारों को शब्द का साक्षात् अर्थ मानते हैं। अन्य आकारों के अविनाभाव से ज्ञेय मानते हैं जबकि इस मत के अनुसार शब्द किसी विशिष्ट आकार का नहीं, अपितु समस्त आकार जाति के अन्तर्गत होने के कारण सर्वाकार विशिष्ट जाति का बोध कराता है।[1]

चतुर्थ पक्ष

आचार्य भर्तृहरि इस पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विकल्प एवं समुच्चय से रहित समुदाय ही शब्द का अभिधेय हैं।[2] पुण्यराज 'अविकल्पसमुच्चयो' का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि शब्द समस्त आकारों का बोध कराएगा अर्थात् समुच्चित आकार समुदाय का बोध कराने वाला माने तो शब्द से हमेशा बहुवचन का ही प्रयोग हो तथा यदि आकार विकल्प से युक्त आकार समुदाय का बोध करायेगा तो कभी आकार होने के कारण बहुवचन तथा कभी एक ही आकार होने के कारण एकवचन का प्रयोग होता इसीलिये कहा गया है कि शब्द के द्वारा विकल्प एवं समुच्चय से रहित समुदाय का बोध होता है।[3] पुण्यराज ने कहा है कि अर्थनिर्णय के समय 'उपमासमुद्देश' में इसका विस्तारपूर्वक विवेचन आचार्य भर्तृहरि करेंगे।[4] परन्तु यह समुद्देश अब तृतीय काण्ड में उपलब्ध नहीं होता।

पंचम पक्ष

इस पक्ष को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि कुछ आचार्य शब्द का अभिधेय असत्य संसर्ग मानते हैं।[5] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शब्द से जाति गुण एवं क्रियात्मक अर्थ का असत्यभूत संसर्ग ही अभिहित होता है।[6] अर्थात्

---

1. 'अर्थ विज्ञान और व्याकरणदर्शन' —कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 84
2. 'समुदायोऽभिधेयो वा विकल्पसमुच्चयः। —वा० प०, 2-126
3. ननु यद्याकारसमुदायं समुच्चितमेव प्रत्याययति, तर्हि बहुवचनमेव तत्र स्यात्। अथ विकल्पितं प्रत्याययति, तदा वचनविकल्पः इत्याशङ्क्याह—अविकल्पसमुच्चय इति। अविद्यमानौ विकल्पसमुच्चयो यस्यासौ तथाभूतस्तस्मात् प्रतीयत इति सम्भाव्यते।' —पु० रा० वा० प०, 2-126
4. एतच्चोपमासमुद्देशेऽप्यर्थनिर्णयविचारणावसरे सविस्तरं प्रदर्शयिष्यति। —पु० रा० वा० प०, 2-126
5. 'असत्यो वाऽपि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते ॥ —वा० प०, 2-126
6. 'अथ जातिगुणक्रियात्मकस्यार्थस्यासत्यभूतः संसर्ग एव शब्दार्थ इति पञ्चमं पक्षम्...।' —पु० रा० वा० प०, 2-126

घटादि वस्तुओं का जाति गुण या क्रिया रूप से संसर्ग ही घट शब्द द्वारा कहा जाता है। वह संसर्ग घटादि के बिना नहीं रह सकता अतः सम्बन्ध असत्य रूप है।[1] संसृष्ट पदार्थ ही सत्य है।[2]

षष्ठम पक्ष

इस मत को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द का अर्थ असत्य उपाधि से युक्त सत्य ही है।[3] पुण्यराज भी केवल इतना ही कहते हैं कि असत्य रूप उपाधि से विचित्रित सत्य ही शब्द का वाच्य अर्थ है।[4] आचार्य कपिलदेव द्विवेदी ने इस मत को सुस्पष्ट किया है।[5] उनका कहना है कि अर्थ वास्तव में सत्य होता हैं किन्तु असत्य वस्तु से सम्बद्ध होने के कारण असत्य प्रतीत होता है। आचार्य पतंजलि द्रव्य को पदार्थ मानकर उसे नित्य मानते हैं ('द्रव्यं हि नित्यम्' पस्पशाह्निक) कैयट एवं नागेश सभी शब्दों का अर्थ ब्रह्म तत्व मानते हुए कहते हैं कि ब्रह्म ही असत्य रूप में द्रव्य रूप है। अर्थात् नामरूपात्मक जगत् असत्य है, केवल ब्रह्म ही सत्य हैं। शब्द ब्रह्म रूप अर्थ का बोध कराता है अतः अर्थ सत्य एवं नित्य है परन्तु लौकिक वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होने के कारण असत्य एवं अनित्य प्रतीत होता है।

सप्तम पक्ष

इस पक्ष के अनुसार अध्यास रूप को प्राप्त 'शब्द-स्वरूप' ही शब्द का वाच्य है।[6] पुण्यराज इस मत को स्पष्ट करते हुए कहते है कि इस मत के अनुसार अभिजल्प अर्थात् अध्यास रूप को प्राप्त स्वलक्षण शब्द ही शब्द का वाच्य होता है।[7] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि 'सोऽयम्' यह अध्यास सम्बन्ध ही अभिजल्प है तथा इसी के कारण ही शब्द का पदार्थ के साथ एकाकार प्रतीत होता है।[8] पुण्यराज कहते हैं कि यद्यपि

---

1. घटादिभिः शब्दैर्घटादीनां जातयादिसंसर्ग उच्यते। स चात्र तद्व्यतिरेकेणानुपलम्भादसत्यभूत एवोच्यते। —पु० रा०, 2-126
2. तस्मात् संसृष्टः पदार्थ एव सत्यभूत इति। —पु० रा० वा० प०, 2-126
3. असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धम्। —वही, 2-217
4. अथ सत्यमेवासत्योपाधिविचित्रितं शब्दवाच्यमिति'। —वही, 21-127
5. 'अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन'। —कपिलदेव द्विवेदी
6. शब्दो वाप्यभिजल्पत्वमागतः याति वाच्यताम्॥ —वा० प०, 2-127
7. शब्दस्य वा स्वरूपमेवाभिधेयमिति'''। अभिजल्पत्वमध्यासरूपत्वमागतः शब्द एव स्वलक्षणः शब्दस्य वाच्यः। —पु० रा० व० प०, 2-127
8. सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद् रूपमेकीकृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते॥ —वा० प०, 2-128

अध्यास के कारण शब्द एवं अर्थ का एकीभाव हो जाता है फिर भी अर्थभाग का ही प्रयोग होने के कारण अर्थभाग की ही प्रधानता होती है ।[1] दोनों में किसी रूप की लोक अथवा शास्त्र में प्रधानता हो जाती है ।[2] काशिकाकार पा० सू 1।1।68 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि शास्त्र में 'शब्द संज्ञा' को छोड़कर शब्द का ग्राह्य उसका स्वरूप ही होता है न कि उसका बाह्य अर्थ । क्योंकि अर्थ से कार्य असम्भव होता है ।[3] 'अग्नेढर्क' सूत्र में अग्नि शब्द का अर्थ दाह युक्त बाह्य अग्नि नहीं है क्योंकि उससे प्रत्यय विधान नहीं हो सकता । उपधा इत्यादि शब्दसंज्ञाओं में शब्द का स्वरूप वाच्य नहीं होता उनका अर्थ ही वाच्य होता है । पुण्यराज इसीलिये कहते हैं कि शास्त्र में कहीं पर स्वरूप प्रधान निर्देश होता है तथा कहीं पर अर्थ प्रधान ।[4]

अष्टम पक्ष

एक अन्य मत के अनुसार अर्थ में पृथक् शक्ति नहीं है अपितु शब्दाधीन हैं । जिस रूप में शब्द, अर्थ की अभिव्यक्ति करना चाहता है उसी प्रकार से अर्थ गृहीत हो जाता है । अतः अर्थ, शब्द के माहात्म्य से उत्पन्न होता है ।[5]

नवम पक्ष

नवम पक्ष का निरूपण करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि इस मत को मानने वालों के अनुसार अर्थ ही सर्वशक्तिमान होता है । शब्द के द्वारा तो केवल उनकी

---

1. सोऽयमिति अभिसम्बधोऽध्यासाख्य उच्यते । तेन पदार्थस्वरूपमाच्छादितमेकीकृतमिव प्रत्याय्यते । तदाऽभिजल्पः शब्द उच्यते । अध्यासवशाच्छब्दार्थयोरेकात्मत्वेऽप्यर्थांशस्यैव प्राधान्यमुपयोगवशात् ।। —पु० रा० वा० प०, 2-128
2. किञ्चिदेव रूपं योगवशात् क्वचिदेव लोके शास्त्रे वा प्राधान्येनोद्रिक्ततयाऽवतिष्ठते । —पु० रा० वा० प०, 2-129
3. शास्त्रे एवमेव रूपं शब्दस्य ग्राह्यं बोध्यं प्रत्याय्यं भवति न बाह्योऽर्थ; शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा । —काशिका, अ० सू०, 1।1।68
4. शास्त्रे हि स्वरूपप्रधानो निर्देशः क्वचित्क्वचिच्चार्थप्रधानोऽपीत्युभयरूपता शब्दस्य । —पु० रा० वा० प०, 2-130
5. अर्थेषु न शक्तिः पृथगस्ति किन्तुशब्दाधीनेति यथा ते शब्दैर्विधीयन्ते, तथैवावगम्यन्त इति स्वमाहात्म्योपस्थापित एव शब्दार्थ इति । —वही, 2-131

शक्ति नियत की जाती है। अर्थ अपनी शक्ति के कारण ही कभी क्रिया के रूप में तो कभी सिद्ध रूप में गृहीत होता है तथा यही क्रियादिरूपता शब्दार्थ कहलाती है।[1]

दशम पक्ष

इस मत के अनुसार शब्द का अर्थ बाह्य नहीं होता अपितु आभ्यन्तर होता है। अर्थ बुद्धि में स्थित रहता है। आचार्य भर्तृहरि इस मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अर्थ बुद्धि का विषय है, यह ही बाह्य पदार्थ का कारण है। अतः कुछ आचार्य 'बाह्य पदार्थ के रूप में ज्ञात उस बौद्ध अर्थ को ही शब्दार्थ कहते हैं।[2] पुण्यराज इस मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शब्द वास्तव में बुद्धिस्थ है, वर्ण पद इत्यादि क्रम से युक्त पद एवं वाक्य के रूप में वह विकल्प युक्त प्रतीत होता है। इसीलिये वह शब्द वैकल्पिक है। उसका अर्थ भी बौद्ध है, बाह्य वस्तु के द्वारा उसमें विकल्प उत्पन्न किया जाता हैं। अतः बाह्य वस्तु उस अर्थ का निबन्धन कहलाती है। वह अर्थ यद्यपि बहीरूप वाला नहीं है फिर भी विकल्प युक्त बाह्य पदार्थ से एकाकार होने के कारण भ्रम के का कारण बाह्यरूप को प्राप्त हो जाता है। वही बाह्य वस्तु के साथ अध्यस्त अन्तः अर्थ ही शब्द का अर्थ है।[3]

एकादश पक्ष

इस पक्ष के अनुसार जिन शब्दों के द्वारा एक बार दृष्ट व्यक्ति की स्मृति हो जाती है उन शब्दों का आकार विशेष से युक्त अर्थ होता है तथा इनसे अतिरिक्त (स्वर्गादि) शब्दों का अर्थ आकार विशेष से रहित संवित्मात्र होता है।[4]

---

1. शक्त्यार्थः कदाचित् क्रियारूपतयाभिधीयते कदाचित् सिद्धरूपतयेति नियता क्रिया-रूपता शब्दार्थतया प्रतिपाद्यते ! —पु० रा० वा० प०, 2-131
2. यो वार्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः।
   स बाह्यवस्त्विवति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते ॥ —वा० प०, 2-132
3. शब्दस्य बुद्ध्युपारूढस्य वैकल्पिकस्य यो बुद्ध्युपारूढो बाह्यवस्तुनिबन्धनः, बाह्य-वस्तुविकल्पजननद्वारेण निबन्धनं यस्य स तथाभूतः। स च वैकल्पिकोऽर्थो भ्रमव-शाद् दृश्यविकल्पैकाकारेणाबहीरूपोऽपि बहीरूपतयाऽवसितोऽध्यस्तमेव वस्त्व-गच्छामि शब्दादिति शब्दनिमित्तमिति (निमित्त इति)। शब्दार्थ इष्यते।
   —पु० रा० वा० प०, 2 132
4. आकारवन्त संवेद्या व्यक्तस्मृतिनिबन्धनाः।
   ये ते प्रत्यवभासन्ते संविन्मात्रं त्वतोऽन्यथा ॥ —वा० प०, 2-133

   तथा

   'गवादीनां शब्दानामाकारविशेषवानर्थो पूर्वप्रभृतीनां संविन्मात्रमपरामृष्टाकार-विशेषमर्थमिति। —पु० रा० वा० प०, 2-133

द्वादश पक्ष

इस पक्ष के अनुसार शब्द के द्वारा कुछ भी अर्थ नियत रूप से अभिहित नहीं होता।[1] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हैं कि अविपरीत भी जिस प्रकार इन्द्रिय दोष के कारण नाना प्रकार का प्रतीत होता है उसी प्रकार अनेक प्रकार के संस्कारों से युक्त चित्तवाले व्यक्तियों को भी अलग-अलग प्रकार से शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है अतः शब्द का कोई एक नियत अर्थ नहीं है[2] उदाहरण के लिये एक ही 'घट' शब्द वैशेषिक दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति के अनुसार अवयवी के प्रतिपादन के लिये प्रयुक्त होता है तथा सांख्य दर्शन के ज्ञाता व्यक्ति के अनुसार गुण समाहार मात्र के लिये प्रयुक्त होता है तथा जैन एवं बौद्धों के अनुसार परमाणु संचय मात्र के लिये प्रयुक्त होता है। इस प्रकार जैसा जिनका ज्ञान होता है उसी प्रकार से उनको अर्थ की प्रतीति होती है।[3] यही नहीं कि अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग अर्थ की प्रतीति होती है अपितु एक ही व्यक्ति को एक ही वस्तु एक समय में एक प्रकार से प्रतीत होती है तथा दूसरे समय में वही वस्तु दूसरी प्रकार से प्रतीत होती है।[4] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब एक व्यक्ति की सुगत दर्शन के अध्ययन से बुद्धि संस्कृत हो जाती है तब वह एक पद का अर्थ अन्य प्रकार से ग्रहण करता है, वही व्यक्ति वैशेषिक दर्शन का कालान्तर में अध्ययन कर लेता है तो उसे उसी पद का अन्य अर्थ प्रतीत होने लगता है।[5] इस प्रकार जिसे जैसा अर्थ अपने ज्ञान के अनुसार दिखाई देता है उसके लिये वे ही शब्द का अर्थ होता है।[6]

---

1. इदानीं प्रतिनियतवासनावशेनैव प्रतिनियताकारोऽर्थस्तत्वतस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयत इति। —वही, 2-134
2. अविपरीतमप्यर्थमिन्द्रियं दोषवशान्नानारूपमवभासयति यथा, तथैव नियतवासनावासितचेतसां शब्दार्थप्रतीतिरिति नास्ति कश्चिन्नियत एकः शब्दस्यार्थः। —पु० रा० वा० प०, 2-134
3. 'तथाहि—सांख्यजैनसौगतप्रभृतयः प्रतिपत्रनुसारेणान्यथैव शब्दार्थं प्रतिपद्यन्ते, वक्त्रा तु वैशेषिकादिना स्वप्रत्ययानुसारेण वक्तुं प्रक्रान्तः। तथा च वैशेषिकेणावयविनं प्रतिपादयितुं घटशब्दः प्रयुक्तः, सांख्यैर्गुणसमाहारमात्रमभिमन्यते, जैनसौगतैः परमाणुसंचयमात्रमिति तथैव तस्मात्तेषामर्थप्रतिपत्तिः।' —पु० रा० वा० प०, 2-135
4. एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्।
   कालान्तरेणचै कोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः॥ —वा० प०, 2-136
5. एकोऽपि च पुरुषः सुगतदर्शनसंस्कृतमतिरन्यथाध्यवस्यत्यर्थं कालान्तरेण वैशषिकशास्त्रश्रवणादन्यथेति। —पु० रा० वा० प०, 2-136
6. यस्य यथैव स्वदर्शनानुसारेण प्रतिभाति तथैव तस्य स शब्दार्थ इत्येवाश्रयणीयमित्यलं निर्वस्तुबहुविकल्पप्रदर्शनेन इति। —पु० रा० वा० प०, 2-141

भर्तृहरि एवं पुण्यराज का मत

पुण्यराज ने आचार्य पतंजलि के समान ही जाति एवं व्यक्ति दोनों को ही पद का अर्थ स्वीकार किया है। पुण्यराज ने वाजप्यायन के जातिपदार्थ एवं व्याडि के व्यक्तिपदार्थ दोनों ही पक्षों को स्वीकार किया है। पुण्यराज कहते हैं कि जहाँ जाति को पदार्थ मानने की आवश्यकता होती है वहाँ जातिपदार्थ पक्ष को माना जा सकता है तथा जहाँ व्यक्ति अर्थ को मानने की आवश्यकता होती है वहाँ व्यक्ति पदार्थ पक्ष मानना चाहिये। इन दोनों को मानते हुए भी पुण्यराज पद के अर्थ के विषय में कहते हैं कि जो अर्थ, शब्द का प्रयोजन होता है उसी को शब्दार्थ मानना चाहिये 'तथा अन्य जो विशेष गुण होते हैं वे पद के अर्थ न होकर उस अर्थ के साथ नान्तरीयक रूप में सम्बद्ध होने के कारण स्वयमेव गृहीत हो जाते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार सामान्य अथवा व्यक्ति कोई भी शब्द का अर्थ माना जा सकता है मुख्य आवश्यकता यह है कि अर्थ उस शब्द का प्रयोजक होना चाहिये।[1]

पुण्यराज कहते हैं कि सामान्य मात्र में शब्द का व्यभिचार नहीं देखा जाता अतः सामान्यतया शब्द का अर्थ सामान्य मात्र होता है।[2] आचार्य भर्तृहरि उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार गो शब्द संयोगीद्रव्यों से उपलक्षित अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ भी उन विशेषों को प्रकाशित नहीं करता उसी प्रकार गवादि शब्द आकार-वर्ण एवं अवयवों से संसृष्ट गवादि अर्थ के लिये प्रयुक्त होता हुआ भी उनको अंगीकृत नहीं करता।[3] पुण्यराज स्पष्ट करते है कि जिस प्रकार गवादि पदार्थों के साथ सूक्ष्म मणि इत्यादि द्रव्य भी संसृष्ट रहते हैं परन्तु वे गवादि शब्दों के वाच्य नहीं होते उसी प्रकार गवादि शब्दों के द्वारा गवादि पदार्थ मात्र का बोध होता है। (या गोत्व जाति अथवा गो व्यक्ति का)। उन गवादि के अन्तरंग, विशिष्ट आकार वर्ण संस्थान इत्यादि

---

1. 'इह शब्दस्य सामान्यं वाजप्याययनमतेनार्थः, व्यक्तिर्वा व्याडिमतेनार्थः। तत्रेह सामान्यमात्रं वा व्यक्तिमात्रं वा तस्य प्रयोजकमर्थत्वेनावबुध्यते, विशेषास्तु नान्तरीयकतया ततोऽवगम्यन्ते। —पु० रा० वा० प०, 2-153

2. ततः शब्दस्यादृष्टव्यभिचारं सामान्यमात्रमेवार्थः। —पु० रा० वा० प०, 2-153

3. यथा संयोगिभिर्द्रव्यैर्लक्षितेऽर्थे प्रयुज्यते।
गोशब्दो न त्वसौ तेषां विशेषाणां प्रकाशकः॥
आकारवर्णावयवैः संसृष्टेषु गवादिषु।
शब्दः प्रवर्तमानोऽपि न तानङ्गीकरोति॥ —वा०प०, 2-153,154

का प्रकाश नहीं होता ।[1] आकारादि व्यभिचारी होने के कारण शब्द के वाच्य नहीं होते ।[2]

पुण्यराज एक आशंका की उद्भावना करते हुए कहते हैं कि यदि आकारादि, शब्द के वाच्य नहीं होते तो ह्रस्व, कर्बुर, शबल इत्यादि शब्दों के द्वारा क्या आकारादि की प्रतिपत्ति नहीं माननी चाहिये ? ह्रस्व शब्द आकार वाचक तथा कर्बुर एवं शबल शब्द विशेष प्रकार के वर्ण के वाचक होते है । इसीलिये यह शंका उद्भूत हुई कि क्या इन शब्दों के द्वारा भी आकार वर्ण इत्यादि वाच्य नहीं होते ।[3] इस शंका का समाधान करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जिन शब्दों का जो प्रयोजक होता है वही उसका अर्थ होता है अतः ह्रस्वादि शब्दों का प्रयोजक आकारादि है अत: उनका वही अर्थ होता है । अन्य अर्थ नान्तरीयक होता है ।[4] इस प्रकार आकारादि के वाचक शब्दों की अवयवमात्र में प्रवृत्ति नहीं होती ।[5] अतः शब्द के द्वारा कभी विशेष का अभिधान होता है तथा कभी सामान्य मात्र का ।[6]

आचार्य भर्तृहरि कारिका द्वारा स्पष्ट करते हैं कि 'अपः शब्द संस्था प्रमाण तथा आकार की अपेक्षा न करता हुआ ही जल के बिन्दु के लिये भी तथा जल के समुदाय के लिये भी प्रयुक्त होता है ।[7] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शब्द अपने प्रयोजकमात्र को ही अर्थ मानते हुए प्रवृत्त होते हैं चाहे वह जाति हो चाहे व्यक्ति हो आकारादि विशेष की प्रतीति नान्तरीयक रूप में होती है । इसीलिये अपः

---

1. यथा संयोगिनो द्रव्यविशेषा सूक्ष्मा मण्यादयः उपलक्षणमात्रभावेन गवादीनामर्थानां स्थिता न गवादिशब्दवाच्य भवन्ति, तथान्तरङ्गा अप्याकारवर्णसंस्थानादयः इति न तेषामस्नी प्रकाशक उच्यते । —वही, 2-153
2. आकारादयो व्यभिचारित्वाच्छब्दवाच्या न भवन्तीत्यर्थः । वही, 2-154
3. 'मन्वाकारवाचकानां स्थूलह्रस्वकर्बुरशबलादीनां शब्दानां किमाकारादिवाचकत्वं नाङ्गीकार्यमेवेत्याशङ्क्याह···। —पु० रा० वा० प०, 2-155
4. स्वशब्दैराकारादय उच्यन्त एवेति न सर्वत्र वयं तदप्रतीतिं ब्रूमः, यद्धि प्रयोजकं शब्दस्य तदेव तस्य वाच्यम् अन्यन्नान्तरीकमिति ब्रूमः । —वही, 2-155
5. 'अतः आकारादिवाचकान नावयवमात्रे एकदेशमात्रे प्रवृत्तिरङ्गीकार्या, । —वही, 2-155
6. शब्दैरर्थस्य क्वचिद्विशेष उच्यते, क्वचित्सामान्यमात्रम् । —वही, 2-155
7. संख्याप्रमाणसंस्थाननिरपेक्षः प्रवर्तते ।
बिन्दौ च समुदाये च वाचकः सलिलादिषु ॥— पु० रा० प०, 2-156

शब्द के द्वारा एक जल कणिका का भी बोध होता है तथा बहुत बड़ा जल स्रोत भी अभिहित होता है क्योंकि शब्द के द्वारा विशिष्ट आकारादि का बोध नहीं होता। एक शिला भी शुक्ल हो सकती है और बहुत बड़ा हिमवान भी शुक्ल हो सकता है।[1]

शब्द आकार वर्ण एवं अवयव का बोध नहीं कराते इस पर एक शंका की उद्‌भावना करते हैं कि यह देखा जाता है कि समुदाय के लिये प्रयुक्त अवयव अर्थ को भी प्रदान करता है, कैसे[2] पुण्यराज की इस शंका का आधार आचार्य पतंजलि का महाभाष्य है ?[3] महाभाष्य में 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' वार्तिक की व्याख्या के समय यह कहा गया है कि समुदायवाची शब्द अवयव अर्थ में भी प्रयुक्त हो जाते हैं जैसे तैलं भुक्तं घृतं भुक्तम् वाक्य में तैल एवं घृत शब्द समुदायवाची होने पर भी अवयव के लिये प्रयुक्त होते हैं।[4] पुण्यराज ने वाक्यपदीय तृतीय काण्ड से उद्धरण देकर तथा मण्डन मिश्र की स्फोटसिद्धि से उद्धरण देकर भी यह शंका स्पष्ट की है कि जाति वाचक शब्द तथा गुणवाचक शब्दों में आकार भेद विवक्षित नहीं होता। अर्थात् वे अवयव अथवा समुदाय में प्रयुक्त हो जाते हैं।[5] इस प्रकार पूर्वपक्षी यह नहीं मानते कि प्रयोजक अर्थ शब्दार्थ होता है वे कहते हैं कि यदि प्रयोजक ही अर्थ होता तो तैल घृत इत्यादि शब्दों का समुदाय प्रयोजक होने के कारण समुदाय ही अर्थ होता अवयव न होता।

इस शंका का समाधान करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि तैल घृत इत्यादि शब्द वास्तव में जाति वाचक नहीं है। क्योंकि तेल घृत इत्यादि शब्द केवल संस्कारादि से

---

1. एकापि जलकणिकाऽपो बहुलमपि सरित्स्त्रोतस्तथैवोच्यते, एकापि शिला शुक्ला हिमवानपि शुक्ल इति शब्दाः प्रयोजकमात्रमेव जात्यादिकं स्वार्थीकृत्य प्रवर्तन्ते, आकारादिविशेषावभासस्तु नान्तरीयक इति स्थितम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-156
2. ननु समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते। —वही, 2-157
3. यथा तैलं भुक्तं घृतं भुक्तं शुक्लो नीलः कपिशः इत्युक्तम्। —वही, 2-157
4. 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' वार्तिक पर महाभाष्य (पस्पशाह्निक)।
5. उक्तं च—

न जातिगुणशब्देषु मूर्तिभेदो विवक्षितः।
ते जातिगुणसम्बन्धभेदमात्रनिबन्धनाः॥ —पु० रा० द्वारा वा० प०, 2-157 पर उद्धृत वा० प० की 3-1-172 कारिका

तथा— नेक्षिता जातिशब्दानां समुदायानुपातिता।
जातिमाचक्षते ते हि व्यक्तीर्वा जातिसंगताः॥
—पु० रा० वा० प०, 2 157 पर उद्धृत स्फोटसिद्धि का नवम श्लोक।

परिच्छिन्न तैलादि के लिये प्रयुक्त होते हैं अतः वास्तव में ये शब्द अवयव वाची हैं। इनमें समुदाय का अध्यारोप किया जाता है। ये शब्द वास्तव में जाति शब्द नहीं है अपितु तत्सदृश हैं। ये तो नियतपरिमाण के अभिधायक हैं और समुदाय के अध्यारोप के द्वारा उस समुदाय के एक देश के वाचक है अतः महाभाष्य में इन शब्दों के विषय में एक देश वाचक कहना दोष नहीं है।[1]

इस प्रकार शब्द का अर्थ वही होता है जिसके प्रतिपादन के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है चाहे वह समुदाय अर्थ हो, अवयव हो, आकार हो अथवा वर्ण हो।[2]

नान्तरीयक अर्थ

नान्तरीयक अर्थ के सम्बन्ध में आचार्य भर्तृहरि ने बहुत स्पष्ट विवेचन किया है। जिसके प्रतिपादन के लिये शब्द प्रयुक्त होते हैं, वह प्रयोजक अर्थ मुख्य अर्थ है। उस मुख्य अर्थ की प्रतिपत्ति के समय सान्निध्य के कारण लिंग संख्या इत्यादि जिस अन्य अर्थ का प्रतिपादन करता है वह अर्थ नान्तरीयक होता है।[3] जिस प्रकार घटादि के ज्ञापन के लिये प्रयुक्त दीप उस घटादि के प्रकाशन रूप प्रयोजक के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है तथा उन अन्य वस्तुओं का प्रकाशन वह नान्तरीयक रूप से करता है। उसी प्रकार 'भावः' शब्द अनेक प्रकार के संसृष्ट अर्थ जैसे सिद्धत्व, पुल्लिग तथा एकवचन की प्रतीति करा सकता है। भाव शब्द का प्रयोजक सिद्धत्व है तथा उसके साथ संसृष्ट रूप में प्रतीत लिंग संख्या इत्यादि नान्तरीयक अर्थ कहलाते हैं।[4]

---

1. संस्कारोपघातादिपरिच्छिन्ने तैलादौ तेलघृतादिशब्दो व्यवस्थितोऽसावेकदेशम् समुदायाध्यारोपेणाह। एतदुक्तं भवति —न ते जातिशब्दा अपितु तत्सदृशा एव ते नियतपरिमाणाभिधायिनस्तदध्यारोपेण तदेकदेशवाचिन उच्यन्त इति। अतस्तेषाम-वयववर्तिता भाष्य उक्तेति न कश्चिद्दोषः। —पु० रा० वा० प०, 2-157
2. 'यत्प्रतिपादनाय शब्दाः प्रयुज्यन्ते, तत्तस्य प्रयोजकम्''।'
पु० रा० वा० प०, 2-298
3. इह यत्प्रतिपादनाय शब्दाः प्रयुज्यन्ते, तत्तस्य प्रयोजकं मुख्यं तत्प्रतिपादनावसरे च सन्निधानवदन्यत् प्रत्याययति तत्तस्य नान्तरीयकमुच्यते। —वही, 2-218
4. यथा भाव इत्यादावर्थेषु बहुषु संसर्गिषु मध्याद्येनार्थेन सिद्धत्वादिनाऽसौ भावशब्दः प्रयुज्यते, तस्मादन्यानपि लिङ्गसंख्यादीन् नान्तरीयकतया स्थितान् सन्निधानात् प्रत्याययत्येवेति बोद्धव्यम्॥ —वही, 2-299

ज्ञापक दृष्टान्त के बाद कारक दृष्टान्त द्वारा भी नान्तरीयक अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जिस प्रकार दो अरणियों का निर्मन्थन अग्नि के लिये किया जाता है परन्तु अनभिप्रेत धुँआ भी उत्पन्न हो जाता है क्योंकि दोनों का एक ही साधन है।[1] पुण्यराज स्पष्ट करते हैं कि अग्नि अरणियों के निर्मन्थन का प्रयोजक है परन्तु नान्तरीयक रूप से अनुपयोगी धूम भी उत्पन्न हो जाता है।[2] इसी प्रकार शब्द भी सिद्धत्व इत्यादि प्रत्याय्य अर्थ के अतिरिक्त अविवक्षित पुस्त्वैकत्वलक्षण को भी सन्निधान के कारण प्रकाशित कर देता है।[3]

पुण्यराज इस सम्बन्ध में एक प्रश्न की उद्भावना करते हुए कहते हैं कि शब्द, जिस अर्थ के प्रतिपादन के लिये वक्ता को अभीष्ट है, वैसा होकर उसी का प्रतिपादन क्यों नहीं करता। नान्तरीयक का प्रत्यायन करने की क्या आवश्यकता है।[4] इसका समाधान करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जिस प्रकार अत्यन्त संसृष्ट अर्थ का त्याग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार शब्द भी, सम्बद्ध होने के कारण उस अर्थ का परिहार नहीं कर सकता।[5] जिस प्रकार केवल मत्स्य के माँस का इच्छुक व्यक्ति उससे संसृष्ट त्वक्, तोक तथा कण्टक इत्यादि अनुपयोगी वस्तुओं को नहीं त्याग सकता अर्थात् इनसे युक्त माँस ही मिल सकता है। उसी प्रकार अत्यन्त सम्बद्ध होने के कारण लिंग संख्या का भी प्रतिपादन शब्द करता है। 'केवल प्रकृति तथा न ही अकेला प्रत्यय प्रयुक्त होना चाहिये इस न्याय के कारण संख्या इत्यादि का परिहार नहीं किया जा सकता।[6]

---

1. निर्मन्थनं यथाऽरण्योरग्न्यर्थममुपपादितम्।
धूममप्यनभिप्रेतं जनयत्येकसधनम्॥ —वा० प०, 2-300
2. अरण्योः सम्बन्धिर्यन्निर्मथनं तदग्न्यर्थम् अग्निनिष्पत्तये, अग्निस्तस्य प्रयोजक इत्यर्थः। यस्मान्नान्तरीयकतया धूममप्यनुपयोगिनं जनयत्येव।'
—पु० रा० वा० प०, 2-300
3. कस्मिंश्चित् प्रत्याय्येऽर्थे सिद्धताख्ये धर्मेऽविवक्षितमप्यर्थं पुंस्त्वैकत्वलक्षणं प्रकाशयति, प्रत्याययतिसन्निधानादिति॥ —पु० रा० वा० प०, 2-301
4. 'शब्दस्तु यत्प्रतिपादनाय वक्त्रा प्रतिपादयितुमिष्टः, तथैव भूत्वा तत्प्रतिपादनं करोतु, किं तस्य नान्तरीयकप्रत्यायनेनेत्याशङ्क्याह···।'
—पु० रा० वा० प०, 2-302
5. यथैवात्यन्तससृष्टस्त्यक्तुमर्थो न शक्यते।
तथा शब्दोऽपि सम्बन्धी प्रविवेक्तुं न शक्यते॥ —वा० प०, 2-302
6. यथा मत्स्यमाँसार्थिना मत्स्यमांससंसृष्टस्तोकत्वककण्टकादिरनुपयोग्यपि त्यक्तुं न शक्यते, तथा शब्दोऽध्यन्तसम्बन्धाल्लिङ्गसंख्याप्रतिपादकः, तत्र न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न च केवलः प्रत्यय इति प्रविवेक्तुं परिहर्तुं न शक्यते।
—पु० रा० वा० प०, 2-302

इस प्रकार यद्यपि प्रयोजक अर्थ वाच्य होता है तथा नान्तरीयक अर्थ वाच्य नहीं होता परन्तु फिर भी इस विषय में शास्त्र में चार प्रकार देखे जाते हैं। कहीं पर अर्थ का गुण प्रधान भाव विवक्षित नहीं होता अर्थात् उनका विपर्यय होता है, कहीं पर सारा पदार्थ ही अविवक्षित रहता है, तथा कहीं पर प्राप्त अर्थ का त्याग किये विना ही अन्य अर्थ का ग्रहण हो जाता है।[1]

(1) गुणप्रधानता विपर्यय

आचार्य भर्तृहरि गुणप्रधान भाव का विपर्यय दर्शाते हुए कहते हैं कि तद्धित प्रत्यय में अन्त होने वाले शब्दों के अर्थ को बताने वाले सूत्र में) आख्यात तद्धित के अर्थ के विषय में ही कुछ कहता है। वहाँ पर गुणप्रधान भाव का विपर्यय दिखाई देता है।[2] पुण्यराज उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' सूत्र से जिससे जुआ खेलता है, खोदता है, जीतता है तथा जीता गया है इन अर्थों में ठक् प्रत्यय (तद्धित प्रत्यय) होता है। क्योंकि यहाँ आख्यात तद्धित अर्थ के निमित्त के रूप में प्रयुक्त किया गया है, अतः आख्यात क्रिया प्रधान होने के कारण, तद्धितान्त 'आक्षिकः' इत्यादि से भी क्रिया अर्थ की अवगति होनी चाहिये। परन्तु आख्यात क्रिया प्रधान होने पर भी, तद्धित, स्वभाव से ही साधन प्रधान होता है अतः साधन अर्थ ही प्रधान रूप से अवगत होता है।[3] अतः 'तेन दीव्यति' इत्यादि सूत्र में

---

1. क्वचिद् गुणप्रधानत्वमर्थानामविवक्षितम्।
क्वचित् सान्निध्यमप्येषा प्रतिपत्तावकारणम्॥
यच्चानुपातं शब्देन तत्कस्मिंश्चित् प्रतीयते॥
क्वचित् प्रधानमेवार्थो भवत्यन्यस्य लक्षणम्॥ —वा० प०, 2-304-305
तथा—
अत्र च गुणप्रधानताविपर्ययः, पदार्थैकदेशाविवक्षा, सकलपदार्थाविवक्षा, उपात्तपदार्थापरित्यागेनैवान्यार्थोपलक्षणमित्येवमनेन श्लोकद्वयेन प्रकारचतुष्टयस्योद्देशः कृतः। —पु० रा० वा० प०, 2-304-305
2. आख्यातं तद्धितार्थस्य यत्किञ्चिदुपदर्शकम्।
गुणप्रधानभावस्य तत्र दृष्टो विपर्ययः॥ —वा प०, 2-306
3. तेन दीव्यतीत्याख्यातं तद्धितार्थस्य निमित्तत्वेनोक्तम् अतश्च तव क्रियाप्रधानमाख्यातमिति तदर्थस्यैव तद्धितान्तादवगतिः स्यात्। यतश्च तत्र क्रियाप्रधानत्वेऽपि चाख्यातस्य तद्धितः स्वभावात् साधनप्रधान इति साधनार्थस्यैव प्राधान्येनावगतिरिति। —पु० रा० वा० प०, 2-306

प्रधानभाव की विवक्षा नहीं है। अक्ष करणक देवनादि क्रिया का कर्ता मात्र अर्थ ही प्रयोजक है अतः यही मुख्य अर्थ है।[1]

(2) पदार्थ के एकभाग की अविवक्षा

पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'भावे' सूत्र में सिद्ध लक्षण भाव घञादि के निमित्त के रूप में अभीष्ट है। अतः उस सिद्ध लक्षण भाव के प्रतिपादन के लिये ही भावे सूत्र का निर्देश है परन्तु इसके साथ-साथ लिंग एवं संख्या (पुल्लिग एवं एकवचन) की भी नान्तरीयक रूप में प्रतिपत्ति होती है। फिर भी लिंग संख्या आदि का सन्निधान उनकी (लिंग संख्या की) प्रतिपत्ति का कारण नहीं है।[2] अर्थात् घञ् प्रत्यय केवल पुल्लिग, एकवचन में ही न होकर स्त्रीलिंग में भी तथा बहुवचन में भी हो सकता है। अतः भावे सूत्र में पदार्थ का एक भाग (लिंग एवं संख्या) विवक्षित नहीं है। इसीलिये लिंग एवं संख्या का सन्निधान भी इनकी प्रतिपत्ति का कारण नहीं है।

(3) प्राप्त अर्थ का परित्याग तथा अन्य अर्थ का ग्रहण

'समाहारः स्वरितः' सूत्र उदात्त अनुदात्त के समाहार की स्वरित संज्ञा का विधान करता है। पुण्यराज कहते हैं कि इसका अर्थ यह है कि एकमात्रिक, द्विमात्रिक एवं त्रिमात्रिक ह्रस्व दीर्घ तथा प्लुत, उदात्त, एवं अनुदात्त स्वर के समाहार रूप होते हैं। अब यह सन्देह होता है कि ह्रस्वस्वरित इत्यादि का कितना भाग उदात्त तथा कितना भाग अनुदात्त होता है, तथा आदि का भाग उदात्त होता है अथवा मध्य का या अन्त का इसी प्रकार आदि का भाग अनुदात्त होता है अथवा मध्य का या अन्त का। इस सन्देह का निवारण तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (1।2।32) सूत्र द्वारा किया गया है। इस सूत्र के द्वारा आदि की अर्धमात्रा उदात्त होती है। अतः ह्रस्वादि की आधी मात्रा उदात्त होती है। पुण्यराज कहते हैं कि इस सूत्र में 'ह्रस्व' शब्द ह्रस्व स्वर के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है अपितु मात्रालक्षण प्रमाण का उपलक्षण है।[3] पण्डित

---

1. तेन दीव्यतीत्यादौ निर्देशे गुणप्रधानभावो न विवक्षितः अक्षकरणकदेवनक्रिया-कर्तृमात्रमेव तत्र प्रयोजकमिति स एव मुख्योऽर्थः। —वही, 2-306
2. सिद्धलक्षणो भावो घञादीनां निमित्तत्वेनाभीष्ट इति तत्प्रतिपादनाय भाव इत्यस्मिन् निर्देश लिङ्गसंख्ययोनान्तरीयकतया प्रतिपत्तावपि सन्निधानमकारणम्। तत्र तयोः प्रयोजकत्वमिति यावत्। —पु० रा० वा० प०, 2-307
3. इह उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारः स्वरितः इत्युक्तम्, ह्रस्वदीर्घप्लुताश्च मात्रिक-द्विमात्रिकत्रिमात्रलक्षणा उदात्तानुदात्तस्वरसमाहाररूपा भवन्ति। तत्र ह्रस्वस्वरि-

क्रमशः

रघुनाथ शर्मा ने कहा है कि महाभाष्य में ह्रस्व शब्द को मात्रा अर्थ में रूढ़ माना गया है।[1] इसीलिये पुण्यराज ने ह्रस्व शब्द के ह्रस्व स्वर अर्थ को अप्रधान मानते हुए यह कहा है कि इस सूत्र में अप्रधान 'ह्रस्वस्वर' अर्थ की अविवक्षा है। इस उपात्त अर्थ के स्थान पर 'मात्रा' अर्थ का ग्रहण किया गया है।

(4) प्राप्त अर्थ का त्याग किये बिना ही अन्य अर्थ का ग्रहण

कहीं-कहीं पर प्रधान अर्थ ही अन्य अर्थ का उपलक्षण हो जाता है।[2] आचार्य भर्तृहरि उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं कि '(इससे भी आगे) जाना है, सूर्य को देखो' यहाँ पर यद्यपि सूर्य के विषय में कहा गया है, परन्तु यह निश्चय सहित काल के ज्ञान का उपलक्षण है।[3] पुण्यराज इस कारिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यहाँ 'सूर्यं दृश्यताम्' सूर्य दर्शन रूप प्रधान अर्थ के लिये प्रयुक्त होता हुआ भी 'देखो दिन का थोड़ा भाग शेष रह गया है', इस अर्थ का उपलक्षण हो जाता है। अर्थात् यहाँ प्रधान अर्थ द्वारा ही अन्य अर्थ का उपलक्षण हो गया है। यहाँ परार्थ को लक्षित करने वाला मुख्य अर्थ भी परित्यक्त नहीं हुआ है।[4]

इसी को शास्त्रीय उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'विध्यत्यधनुषा' इस सूत्र में अधनुषा इस विशेष के प्रयोग के द्वारा करणसामान्य का निर्देश किया गया हैं।[5] पुण्यराज कहते हैं कि 'करण निषेध' के द्वारा धनुर्लक्षण

तादीनां कियदुदातं कियदनुदातम् ? आदौ किमुदात्तमथानुदातं मध्येऽन्ते वेति सन्देहापकरणायोक्तम्—'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (1।2।32) इति। अत्र चार्द्धह्रस्वग्रहणमर्द्धमात्रालक्षणस्य प्रमाणस्योपलक्षणमिति।

—पु० रा० वा० प०, 2-307

1. अत्र चार्धह्रस्वग्रहणमर्थमात्रारूपस्य प्रमाणस्य रूढ्या बोधकम्, न तु यौगिकं योगरूढं वा, दीर्घादिष्वप्राप्तेः। वस्तुतस्त्वर्धह्रस्वशब्दोऽर्धमात्रायां रूढ इति भाष्यस्य लक्षणया रूढ इत्यर्थः।' —पं० रघुनाथ शर्मा, वा० प०, 2-307
2. 'क्वचित् प्रधानमेवार्थो भवत्यन्यस्य लक्षणमिति···।'
—पु रा० वा० प०, 2-310
3. गन्तव्यं दृश्यतां सूर्य इति कालस्य लक्षणे।
ज्ञायतां काल इत्येतत्सोपायमभिधीयते ॥ —वा० प०, 2-310
4. 'सूर्यदर्शनप्राधान्येन शब्दः श्रूयमाणो ज्ञायतामल्पीयान भागोऽह्नः परिशिष्यत इत्यर्थस्य सोपायस्य सनिश्चयस्योपलक्षकः सम्पद्यत इति प्रधानेनार्थेनान्यार्थोपलक्षणमिति लक्षितपरार्थो मुख्यः शक्त्यर्थो न त्यक्तः। —पु० रा० वा० प०, 2-310
5. अधनुषेत्यनेन विशेषेण करणसामान्यमात्रं निदर्श्यते। —वही, 2-311

विशिष्ट अर्थ का परित्याग किये बिना करणमात्र अर्थ लक्षित होता है, अर्थात् अधनुषा शब्द 'धनुष का निषेध' अर्थ का भी प्रतिपादन करता है और साथ ही साथ 'करण सामान्य' का भी प्रतिपादन करता है।[1]

इसी को लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि 'काकेभ्यः सर्पि रक्ष्यताम्' ऐसा बालक को भी आदेश देने पर वह भी उस सर्पि की उन सभी जन्तुओं से रक्षा करेगा जो उसको खा सकते हैं क्योंकि वह जानता है कि यह आज्ञा सामान्यरूप से सभी उन जीवों से घी की रक्षा करने के लिये दी गई है जो उसे खा सकते हैं।[2] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सर्पिः काकेभ्यः रक्ष्यताम्' वाक्य में विशिष्ट रूप से काकों से रक्षण अर्थ ही गृहीत होता है फिर भी यह विशिष्ट अर्थ उन सभी जन्तुओं से निवारण अर्थ का उपलक्षणक हो जाता है जो इसे खा सकते हैं।[3] इसी प्रकार जब यह कहा जाये कि 'इसे भोजन कराओ' तब 'भोजनमुपपाद्यताम्' भोजन कराओ अर्थ के साथ-साथ भोजन के ही अंग आसनदान, पादप्रक्षालन इत्यादि का भी प्रत्यायन नान्तरीयक रूप में कराया हो है। अतः अपने अर्थ 'भोजन कराओ' का परित्याग किये बिना ही आसनदान, पादप्रक्षालन अर्थ की भी प्रतीति करा देता है।[4]

प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ विचार

नामपद के अर्थ का विवेचन करने के पश्चात् उसके भाग प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थ का विचार करना आवश्यक हो जाता है। आचार्य भर्तृहरि पद के प्रकृति एवं प्रत्यय रूप विभाग के सम्बन्ध में अपनी वृत्ति में स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार वाक्य में पदार्थ का विभाग करके व्यवहार होता है उसी प्रकार पद में प्रकृति प्रत्यय का अपोद्धार करके अनेक प्रकार से व्यवहार होता।[5] वास्तव में प्रकृति प्रत्यय का कोई

---

1. करणनिषेधपराग्रां चोदनायां धनुर्लक्षणस्य विशेषस्यापरित्यागेनैव करणमात्रस्य मुख्यत्वमिति (लक्ष्यत्वमिति) शास्त्रीयमुदाहरणम्। —वही, 2-311
2. काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः।
उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति॥ —वा० प०, 2-312
3. सर्पिषः काकेभ्यो रक्षणमत्र विशिष्टमेव विहितमप्युपघातमात्रनिवारणफलं पर्यवस्यतीति तदेव तत्र प्रयोजकं बोद्धव्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-312
4. भोजनमस्योपपाद्यतामित्यत्र भोजनोपपादनं शब्दः प्रत्याययंस्तदङ्गानामासनदान-पादप्रक्षालनादीनां नान्तरीयकतया प्रत्याययनं करोत्येव। – वही, 2-313
5. यथैव वाक्यात् पदार्थप्रविभागेण व्यवहारः क्रियते, तथा पदादपि प्रकृति प्रत्यया-पोद्धारेण शास्त्रे भूयान् व्यवहारो दृश्यते। भर्तृहरिवृत्ति वा० प० 2-164

अर्थ नहीं होता। पद में प्रकृति एवं प्रत्यय का कोई अर्थ नहीं होता। पद में प्रकृति एवं प्रत्यय का विभाग काल्पनिक होता है। शास्त्रीय कार्यों की सिद्धि के लिये ही पद का प्रकृति एवं प्रत्यय रूप विभाग किया जाता है। आचार्य भर्तृहरि मीमांसकों के मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वे यह मानते हैं कि पाणिनि इत्यादि शिष्टों ने अपनी बुद्धि के द्वारा ही पद में प्रकृति एवं प्रत्यय माने हैं। वे वास्तविक नहीं है। उनके अर्थ भी शास्त्र में ही आचार्यों द्वारा अन्वयव्यतिरेक से विभक्त किये जाते हैं।[1]

पुण्यराज प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थ का विचार करते हुए उनके सम्बन्ध में तीन मत प्रस्तुत करते हैं—

(1) प्रथम मत के अनुसार प्रत्यय द्वित्वादि के द्योतक अथवा वाचक होते हैं।[2] शब्द के जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या, कारक अर्थों में से जब जाति, व्यक्ति एवं लिंग को प्रकृति का अर्थ तथा संख्या एवं कारक को प्रत्यय का अर्थ माना जाता है। उस अवस्था में 'सु' आदि विभक्तियाँ अर्थ की वाचक मानी जाती हैं। इसके विपरीत जब पाँचों अर्थ प्रकृति के द्वारा अभिहित माने जाते हैं उस अवस्था में प्रत्यय उन संख्या आदि के द्योतक होते हैं।

(2) द्वितीय मत के अनुसार न केवल प्रकृति ही अर्थ का अभिधान कर सकती है न केवल प्रत्यय। अतः प्रकृति प्रत्यय का समुदाय ही संख्या आदि से युक्त अर्थ का अभिधान करता है। पुण्यराज कहते हैं कि यह मत प्रकृति भाग एवं प्रत्यय भाग के आनर्थक्य को सिद्ध करता है।[3]

(3) इस मत के अनुसार शब्द संख्या इत्यादि का बोधक नहीं होता किन्तु

---

1. न्यायविदस्तु मन्यन्ते—स्वबुद्धिपरिकल्पितसमर्थापिता एव शिष्टैर्बहुधा प्रकृति-प्रत्ययादयः। तेषां चार्थाः शास्त्र एवमाचार्यार्थे निमित्तभूता अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यावहारिकाभ्यां कृतविभागा एवाश्रीयन्ते।

—भर्तृहरिवृत्ति, वा० प०, 2-164

2. प्रत्ययभागस्य संख्याकर्मादयो वाच्यत्वेन द्योत्यत्वेन वार्था इति ज्ञेयम्।

—पु० रा० वा० प०, 2-164-65

3. इदानीं प्रकृतिभागस्यार्थमभिधातुं (प्रकृति भागस्य प्रत्ययभागस्य चानर्थक्यम-भिधातुं) प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय एव संख्यादिविशिष्टस्यार्थस्याभिधायक इत्याह···।

—पु० रा० वा० प०, 2-164-165

प्रकृति प्रत्यय का समुदाय द्विवचन आदि के रूप में स्वरूपभेद के कारण संख्यादि से उपलक्षित अर्थ को अभिहित कर देता है ।[1]

इस सम्बन्ध में पुण्यराज ने एक प्रश्न उठाया है । वैयाकरणों के अनुसार शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य होता है । जब प्रकृति एवं प्रत्यय को पृथक् करते हैं तभी उनकी शक्ति का ज्ञान होता है । अब प्रश्न यह है कि विभाजन करने पर यह किस आधार पर ज्ञात होता है कि यह प्रकृति का अर्थ है और यह प्रत्यय का अर्थ है ? इसका आधार आचार्य भर्तृहरि ने 'अन्वयव्यतिरेक' बताया है ।[2] पुण्यराज अन्वयव्यतिरेक को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब शब्द के अर्थ का विभाग किया जाता है अर्थात् 'वृक्षः' इस शब्द का एकत्व विशिष्ट वृक्ष अर्थ विभक्त होता है तब प्रातिपदिक के रहने पर तथा 'सु' विभक्ति (प्रत्यय) के न रहने पर 'वृक्षत्व मात्र' अर्थ शेष रहता है । एकत्वादि से युक्त वृक्ष अर्थ की अवगति नहीं होती 'सु' के योग होने पर एकत्व विशिष्ट वृक्ष की अवगति होती है । इस प्रकार इस अन्वय व्यतिरेक के द्वारा प्रथमा एकवचन अर्थ 'सु' का निश्चित हो जाता है । वृक्षत्व मात्र अर्थ प्रकृति का अर्थ है यह भी निश्चित हो जाता है ।[3] अर्थात् जिसके न रहने अथवा रहने से जितना अर्थ घटता या बढ़ता है वही उसका अर्थ होता है ।

पुण्यराज कहते हैं कि अन्वय व्यतिरेक के शक्यत्व एवं अशक्यत्व के द्वारा ही प्रकृति के अर्थ एवं प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिये ।[4] अर्थात् जहाँ अन्वय-व्यतिरेक सदैव उपलब्ध होते हैं वहीं पर ही यह निश्चय होता है कि अमुक अर्थ प्रकृति का है अमुक प्रत्यय का जहाँ पर अन्वयतिरेक नियमपूर्वक उपलब्ध नहीं होता वहाँ उनका अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता ।[5] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि लुट् एवं

---

1. अथवा संख्याद्युपलक्षितमेवार्थं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायोऽभिधत्ते । —वही
तथा—विना संख्याभिधानाद्वा संख्याभेदसमन्वितान् ।
अर्थान् स्वरूपभेदेन कांश्चिदाहुर्गवादयः ॥ —वा० प०, 2-165
2. 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषामर्थो विभज्यते ॥ —वही, 2-166
3. विवेके सति शब्दार्थविभागे कृते सति च प्रातिपदिके प्रत्यये चासत्येकत्वादिविरहितं वृक्षत्वमात्रं अवगम्यत इत्येवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतिप्रत्ययार्थप्रविभागो व्यवस्थाप्यते ।' —पु० रा० वा० प०; 2-166
4. 'तत्रापि शक्याशक्यत्वाभ्यामन्वयव्यतिरेकावाश्रित्य तत्प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्याह···।' —पु० रा० वा० प०, 2-167
5. 'यत्रान्वयव्यतिरेकावुपलभ्येते तत्रैव नियमः, न त्वशक्ये विषय इति···।' —वही, 2-167

शप् इत्यादि में अन्वयव्यतिरेक उपलब्ध नहीं होता। अतः उनका अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता।[1] पुण्यराज उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भवताम् एवं 'अत्ति' उदाहरणों में क्रमशः नुट् एवं शप् प्रत्यय नहीं प्रयुक्त हुए हैं फिर शप् एवं नुट् का अर्थ इनमें विद्यमान रहता है इसीलिये 'वृक्षाणाम्' 'पचति' शब्दों में नुट् एवं शप् का कोई अर्थ नहीं माना जाता केवल इनको सहायक मात्र माना जाता है।[2] पुण्यराज महाभाष्य से उद्धरण देकर भी नुट् शप् इत्यादि की अपृथगर्थता को सिद्ध करते हैं।[3] महाभाष्य में सार्वधातुक (गवादि) के अर्थ के विषय में कहा गया है कि यदि शबादि का अर्थ भाव कर्म एवं कर्ता माने तो एक द्वि एवं बहु में नियम की उपपत्ति नहीं होगी।[4] इसी प्रकार विकरण (नुट् आदि) के अर्थ के सम्बन्ध में महाभाष्य में कहा गया है कि यदि विकरण का अर्थ भाव कर्म कर्ता है तब कृत के द्वारा अभिहित शब्दों में विकरण का अभाव होता है।[5] इस प्रकार महाभाष्य में भी इनको निरर्थक सिद्ध किया गया है।

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जिन शब्दों में पृथगर्थता उपलब्ध नहीं होती उनमें अर्थाभिधान संघात के द्वारा ही होता है। कूप, यूप, सूप, इत्यादि शब्दों में प्रकृति प्रत्यय के अर्थ को पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः इन शब्दों में अपोद्धार नहीं किया जा सकता।[6]

---

1. नियमस्तत्र न त्वेवं नियमो नुट्शवादिषु ॥ —वा० प०, 2-167
2. भवतामत्तीत्यादावसति शब्नुडादावर्थदर्शनाद् वृक्षाणां पचतीत्यादौ तस्य साहाय्य-मात्रं स्थापितं न पृथगर्थतेति। —पु० रा० वा० प०, 2-167
3. उक्तं च—भावकर्मकर्तारः सार्वधातुकाणां इति चेदेकद्विबहुषु नियमानुपपत्तिर-तदर्थत्वात्, विकरणार्था इति चेत् कृताऽभिहितेषु विकरणाभावः(3।1।67 भाष्यंद्र०) इति। —पु० रा० वा० प०, 2-167
4. भावकर्मकर्तारः सार्वधातुकार्थाश्चेदेकद्विबहुषु नियमस्यानुपपत्तिः। किं कारणम्? 'अतदर्थत्वात्'। न हि तदानीमेकत्वादय एव विभक्त्यर्थाः। किं तर्हि? भावकर्म-कर्तारोऽपि। —महाभा०, 3।1।67
5. सन्तु तर्हि विकरणार्था। विकरणार्था इति चेत्कृताऽभिहिते विकरणो न प्राप्नोति—धारयः, पारय इति। —वही, 3।1।67
6. न कपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य दृश्यते।
अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते ॥—वा० प०, 2-169

पदों के भागों तथा पदों के अन्वाख्यान के निमित्त

पुण्यराज एक प्रश्न की उद्भावना करते हुए कहते हैं कि पदों एवं पदभागों का अन्वाख्यान सनिमित्त होता है अथवा अनिमित्त ही हैं। इसका समाधान करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि पदों का अन्वाख्यान सनिमित्त होना चाहिये।[1] व्युत्पत्तिपक्ष एवं अव्युत्पत्ति पक्ष, इन दोनों के आधार पर ही पदों के निर्वचन होते हैं या व्युत्पत्ति पक्ष को ही स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि सभी नाम आख्यातज हैं जबकि वैयाकरण अव्युत्पत्ति पक्ष को भी स्वीकार करते हैं।

(1) व्युत्पत्ति पक्ष

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जब शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है तब अनेक प्रकार से उसका अन्वाख्यान किया जा सकता है। अतः अनेक निमित्तों के सम्भव होने पर किसी एक ही निमित्त के द्वारा अन्वाख्यान कर लिया जाता है।[2] एक ही गौः शब्द का गिरति इति गौः, गर्जति इति गौ; गच्छति इति गौ, गदति इति गौः तथा गवति इति गौः इन अनेक निमित्तों द्वारा अन्वाख्यान हो सकता है। अतः कोई गच्छति के द्वारा गौः शब्द का अन्वाख्यान कर लेता है तथा कोई गर्जति (गर्ज) द्वारा अन्वाख्यान कर लेता है।[3] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि वैर वासिष्ठ गिरिश, तथा एकागारिक शब्दों की अलग-अलग व्यक्ति अलग प्रकार से अनेक प्रकार के निमित्त होने के कारण व्याख्या कर लेते ह।[4] पुण्यराज वैर वासिष्ठ तथा गिरिशः शब्दों की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति दिखाते हुए कहते हैं कि वैर शब्द का वीरस्येदम्' तथा 'वीराया इदम्' दोनों प्रकार से अन्वाख्यान किया जा सकता है। इसी प्रकार वासिष्ठम् शब्द का भी वसिष्ठेन प्रोक्तम्, वसिष्ठस्य इदम्' दो प्रकार से अन्वाख्यान हो सकता है। गिरिशः शब्द भी 'गिरौ शेते' (गिरौडश्छन्दसि 3।2।15 वा०) इस प्रकार से 'ड' प्रत्यय लगने पर तथा 'गिरिं श्यति'

---

1. किं सनिमित्तमथ निर्निमित्तमेवेत्याशङ्क्य सनिमित्तमेव पदभागयोः पदस्य चान्वाख्यानं कार्यमिति।' —पु० रा० वा० प०, 2-170
2. अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु।
   बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते॥ —वा० प०, 2-170
3. कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।
   गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्॥ —वा० प०, 2-174
4. वैरवासिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः।
   कैश्चित्कथञ्चिदाख्याता निमित्तावधिसङ्करैः॥ —वही, 2-171

(आतोऽनुपसर्गे कः 3।2।3) इस प्रकार से 'क' प्रत्यय लगकर भी व्युत्पन्न हो सकता है ।[1]

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि अर्थ के अवस्थाभेद अनेक होते हैं अतः किंशुकादि की किसी भी अवस्था को देखकर उसका निर्वचन कर लिया जाता है ।[2] पुण्यराज कहते हैं कि किंशुक शब्द पलाश वृक्ष के लिये प्रयुक्त होता है । पलाश की शुकरहित अवस्था को देखकर 'किं शुको न' इस व्युत्पत्ति द्वारा पलाश का नाम किंशुक पड़ गया ।[3]

अव्युत्पत्ति पक्ष

इस पक्ष के अनुसार शब्द अपने स्वरूप को ही प्रवृत्ति निमित्त मानकर प्रवृत्त होता है ।[4] गो शब्द अपने स्वरूप के कारण ही 'गो' अर्थ में प्रयुक्त होता है । इस मत को माननेवाले कहते हैं कि शब्द व्युत्पन्न नहीं होते ।[5] पुण्यराज ने 'औविथक्याः' कह-कर यह मत औविथक्यों का माना है । पुण्यराज ने इस मत को औविथक्यों का मत भर्तृहरि वृत्ति के आधार पर ही माना है । वृत्ति में कहा गया है कि औविथक्य इत्यादि आचार्य गो होने के कारण ही यह गौ है । इस प्रकार निर्वचन मानते हैं ।[6]

कुछ आचार्य ऐसे हैं जो दोनों ही पक्षों को मानते हैं अर्थात् कुछ शब्दों का निमित्त उनका वाच्य होता है तथा कुछ शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त उनका स्वरूप होता है ।[7]

---

1. वीरस्येदं वैरं वीराया वा, तथा वसिष्ठस्येदं वसिष्ठेन कृतं प्रोक्तं वा वासिष्ठम्; गिरौ शेते इति 'गिरौऽश्छन्दसि' (3।2।15 वा०) इति डप्रत्येयऽथवा गिरिं श्यतीति' आतोऽनुपसर्गे कः (3।2।3) इति के गिरिशः, इत्येवं निमित्तावधिसङ्करेणान्वाख्यानं कृतम् । —पु० रा० वा० प०, 2-171
2. अन्यथा च समाख्यानमवस्थाभेददर्शिभिः ।
   क्रियते किंशुकादीनामेकदेशावधारणात् ।। – वा० पा०, 2-173
3. 'किं शुको नेति किंशुकशब्दं प्रयुञ्जत इति ।' —पु० रा० वा० प०, 2-173
4. स्वरूपमेव शब्दानां प्रवृत्तिनिमितम् इति…। —वही, 2-175
5. 'अथ कस्माद् गौरित्युच्यते गौरित्येव हि गौर्गविवर्तत इत्यौविथक्याः ।
   अतश्च स्वरूपमात्रप्रयुक्ताः सर्वे शब्दा इत्यव्युत्पत्तिपक्ष एवेति…।'
6. अपरे आचार्या औविथयादयो गौः कस्माद्, गौरित्येव गौरिति निर्वचनमाहुः ।
   —भर्तृहरिवृत्ति वा० प०, 2-175
7. कैश्चिच्चोभयथेष्यते ।। —वा० प०, 2-175

पं० शिवनारायण शास्त्री स्पष्ट कहते हैं कि यास्क एवं अन्य नैरुक्त शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त के विषय में एकमत थे, अर्थात् उनके अनुसार नाम आख्यात से उत्पन्न होते हैं।[1] इस सम्बन्ध में वैयाकरणों में मतभेद है। कुछ वैयाकरण अव्युत्पत्ति पक्ष को स्वीकार करते हैं तथा कुछ व्युत्पत्ति पक्ष को। आचार्य यास्क सभी नामों को आख्यातज सिद्ध करते हैं जबकि गार्ग्य सभी नामों को आख्यातज नहीं मानते। इस प्रकार दोनों ही पक्षों को विद्वानों ने स्वीकार किया है।

(2) आख्यात

आचार्य भर्तृहरि ने क्रिया के सम्बन्ध में द्वितीय काण्ड में इतना अधिक नहीं कहा इसके लिये उन्होंने अलग से तृतीय काण्ड में 'क्रियासमुद्देश' की रचना की पुण्यराज ने भी इसके विषय में अधिक विवेचन नहीं किया। उपसर्गों के प्रसंग में तथा आख्यात वाक्य के विवेचन में आख्यात के अर्थ के सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश पुण्यराज ने डाला है। आख्यात शब्द का प्रयोग किस अर्थ में होता है इसे स्पष्ट करते हुए मजूमदार महोदय कहते हैं कि मीमांसक केवल तिङ् के लिये आख्यात शब्द का प्रयोग करते हैं। जबकि वैयाकरण तिङ् सहित पूरे क्रिया शब्द के लिये प्रयोग करते हैं।[2] पुण्यराज भी 'तिङ् सहित धातु' को ही आख्यात मानकर उसके अर्थ का विवेचन करते हैं अर्थात् उनके मतानुसार 'पचति' यह समूचा तिङन्त पद आख्यात है। इस प्रकार क्रिया तथा आख्यात पर्याय शब्द के रूप में वैयाकरणों ने प्रयुक्त किये हैं। क्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि तृतीय काण्ड में कहते हैं कि जो कुछ भी सिद्ध अथवा असिद्ध कार्य साध्य रूप में अभिहित होता है उसे क्रिया कहते हैं। उसमें क्रम का आश्रयण होता है।[3] यास्क आख्यात के सम्बन्ध में कहते हैं कि आख्यात के द्वारा पूर्वापरीभूतभाव का अन्वाख्यान होता है। व्रजति, पचति क्रियाओं में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की चेष्टाएँ होती हैं। जिनसे 'व्रजति' क्रिया पूर्ण रूप ले लेती है। व्रजति क्रिया में कदम बढ़ाना रूप अनेक चेष्टाएँ होती है जिनके द्वारा व्रजति क्रिया पूर्ण होती हैं।[4] आचार्य पतंजलि क्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि क्रिया क्या है? ईहा

---

1. नामान्याख्यातजानि—निरुक्त
2. फिलासफी आफ लेंग्वेज़, मजूमदार, पृ० 20
3. यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
   आश्रितक्रमरूपत्वाद् तत्क्रियेत्यभिधीयते॥
   —वा० प०, 3।8।1 (क्रियासमुद्देश)
4. पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे; व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम्।
   —निरुक्त

ईहा क्या है ? चेष्टा । चेष्टा क्या है व्यापार ।[1] क्रिया को मूर्त रूप में उसी प्रकार नहीं दिखाया जा सकता, जिस प्रकार गर्भस्थ शिशु को प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखाया जा सकता । आचार्य पतंजलि कहते हैं कि सभी साधनों के सन्निहित रहने पर कभी 'पचति' ऐसा व्यवहार होता है तथा कभी नहीं होता । अतः क्रिया केवल अनुमानगम्य है कि जिस साधन के सन्निहित रहने पर 'पकाता है' यह अर्थ होता है वह ही निश्चित रूप से क्रिया है ।[2]

पुण्यराज ने पृथक् रूप से आख्यात के सम्बन्ध में नहीं कहा । पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन तथा 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' इन दो पक्षों का स्पष्टीकरण करते हुए प्रसंगवश उन्होंने आख्यात के स्वरूप पर प्रकाश डाला है । उपसर्गसहित धातु ही आख्यात है इसे स्पष्ट करते हुए पुण्यराज आख्यात के सम्बन्ध में कहते हैं कि आख्यात में धातुवाच्य विशिष्ट क्रिया की निर्वृत्ति (सम्पन्नता) होती है ।[3] क्रिया उपसर्ग के द्वारा विशिष्ट होती है अतः उपसर्गसहित ही धातु होती है अतः धातु का पहले उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होता है ।[4] पुण्यराज साधन के साथ पहले सम्बन्ध पक्ष के अनुसार भी आख्यात का अर्थ 'विशिष्ट क्रिया की निर्वृत्ति अथवा 'वचनत्व' ही मानते हैं ।[5]

महाभाष्य में 'भूवादयो धातवः' सूत्र (1।3।1) की व्याख्या करते हुए 'क्रियावचनो धातुः' ऐसा कहा गया है अर्थात् भूवादय के स्थान पर क्रियावचनः कहा गया है ।

---

1. का पुनः क्रिया ? ईहा । का पुनरीहा ? चेष्टा । का पुनश्चेष्टा ? व्यापारः ।
—महाभा० अ० सू० 1।3।1

2. अशक्या क्रिया पिण्डीभूता निर्दर्शयितुम्, यथा गर्भो निर्लुठितः । साऽसावनुमानगम्या । कोऽसावनुमानः ? इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कदाचित्पचतीत्येतद्भवति, कदाचिन्न भवति । यस्मिन्साधने सन्निहिते पचतीत्येद्भवति सा नूनं क्रिया ।
—महाभा०, 1।311

3. 'आख्याते विशिष्टैव धातुवाच्या क्रिया निर्वातयितुमुपक्रम्यते इति ।'
—पु० रा० वा० प०, 2-181

4. वस्तुतः पुर्नविशिष्टक्रियावचना एव ते इति सोपसर्गाणामेव धातुत्वम् ।
—वही, 2-180

5. भाविसम्बन्धादुपक्रम एव विशिष्टक्रियावचनत्वं दृश्यतां को दोषः
—पु० रा० वा० प०, 2-184

इससे भी आख्यात का क्रियावचनत्व सिद्ध होता है।[1] आचार्य भर्तृहरि भी कारिका के द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि आख्यात क्रिया प्रधान होता है जब कि नाम में सत्व की प्रधानता होती है।[2] आख्यात का महत्व स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि आख्यात के द्वारा प्रतिपाद्य क्रिया ही प्रधान होती है और उसी का पहले विभाजन होता है। साधन का नहीं। क्योंकि साधन, साध्य की निष्पत्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं।[3] क्रिया के प्रयोजक को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि एवं पुण्यराज दोनों का कहना है कि क्रिया का प्रयोजक फल होता है।[4]

(३) उपसर्ग

नाम एवं आख्यात के उपरान्त उपसर्ग का विवेचन आवश्यक हो जाता है। इनके अर्थ के सम्बन्ध में तीन पक्षों का विवेचन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते है कि उपसर्ग द्योतक, वाचक एवं अर्थाभिधान में सहकारी, तीन प्रकार के होते हैं।[5]

उपसर्ग द्योतकत्व पक्ष

पुण्यराज उपसर्गों के द्योतकत्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'पचति' इत्यादि से ही यद्यपि प्रकर्ष इत्यादि का अभिधान होता है परन्तु उपसर्ग के बिना उन प्रकर्षादि की प्रतीति नहीं होती। अत: उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होने पर 'प्रकर्षादि' द्योतित हो जाते हैं। अर्थात् 'पचति' में स्थित प्रकर्ष का द्योतन उपसर्ग के द्वारा होता है।[6] महा-

---

1. 'यदि पुन: क्रियावचनो धातुरित्येतल्लक्षणम् क्रियेत?' —महाभा०, 1।3।1
2. क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्वप्रधानता। —वा० प०, 2-341
3. अर्थस्य वाक्यार्थलक्षणस्याख्यातप्रतिपाद्यस्य क्रियाप्रधानत्वात्क्रियैव प्राधान्यात् पूर्वं प्रविभज्यते न साधनानि। —पु० रा० वा० प०, 2-427
4. फलं यस्या: प्रयोजकम्। --वा० प०, 2-427
   फलप्रयुक्ता क्रियाऽपीति फलापेक्षया क्रियाया अङ्गत्वं बोद्धव्यम्। --पु० रा० वा० प०, 2-427
5. स वाचको विशेषाणां सम्भवाद् द्योतकोऽपि वा।
   शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते॥ —वा० प०, 2-188
   उपसर्ग के सम्बन्ध में इन्हीं तीन पक्षों का स्पष्टीकरण जैन शाकटायनीय धातुपाठ में भी किया गया है—
   धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते।
   तमेव विशिनष्ट्यन्य: उपसर्गगतिस्त्रिधा॥ —जैनशाकटायनीय धातुपाठ
6. क्वचित्पचत्यादौ प्रकर्षादीनां सम्भवात् केवलैस्तेषामप्रतीतेरुपसर्गसम्बन्धात् तदवगम इति तेषूपसर्गाणां विशेषद्योतकत्वमुच्यते। —पु० रा०वा०प०, 2-187

भाष्य में 'तमेव विशिनष्ट्यन्य:' उपसर्गों के द्योतकत्व को सूचित करता है।[1] महाभाष्य में 'क्रियाविशेषक: उपसर्ग:' वार्तिक की व्याख्या के समय पतंजलि कहते हैं कि 'पचति' के द्वारा क्रिया गम्य होती है तथा उसको 'प्र' विशिष्ट करता है।[2] उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष को निरुक्त में भी स्पष्ट किया गया है। निरुक्तकार कहते हैं कि शाकटायन आचार्य के अनुसार उपसर्ग नाम पदों एवं आख्यात पदों के साथ लगकर उनके अर्थ को द्योतित करते हैं।[3]

उपसर्गों का वाचकत्व पक्ष

उपसर्ग केवल द्योतक ही नहीं पृथक् अर्थ के वाचक भी होते हैं इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'प्रतिष्ठते' इत्यादि में धातु (स्था) गति निवृत्ति की वाचक है 'प्र' के द्वारा उसका गतिवाचकत्व व्यवस्थापित किया जाता है जिससे प्रतिष्ठते का अर्थ होता है जाता है।[4] इस प्रकार उपसर्ग द्योतक ही नहीं वाचक भी होते हैं। धात्वर्थ बाधते कश्चित् महाभाष्य के इस वचन से भी उपसर्गों का वाचकत्व पक्ष सिद्ध हो जाता है।[1] निरुक्त में आचार्य गार्ग्य का मत देते हुए कहा गया है कि उपसर्ग के अर्थ का नाम पदों और आख्यात पदों के अर्थ से योग होता है और इससे नाम और आख्यात पदों के अर्थ में विकार (बदलाव) आ जाता है।[5] नैरुक्तों एवं वैयाकरणों के मतों में अन्तर यह है कि नैरुक्त नाम एवं आख्यात दोनों के साथ उपसर्ग का योग मानते हैं जबकि वैयाकरण उपसर्ग का क्रिया के साथ ही योग मानते हैं।[6]

उपसर्गों का धातु के साथ सहकारित्व पक्ष

इस पक्ष को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि उपसर्ग एवं धातु मिलकर अर्थ का अभिधान करते हैं। इस पक्ष के अनुसार उपसर्ग धातु में शक्ति मात्र का आधान

---

1. अतएव चोक्तम्—'तमेव विशिनष्ट्यन्य:' इति। —वही, 2-187
2. पचतीति क्रियागम्यते, तां प्रो विशिनष्टि। —महाभा० अ० सू०, 1।3 वार्तिके
3. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायन:।
   नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।। —निरुक्त, 1।3
4. केवलं न द्योतका यावद्वाचका अपि दृश्यन्ते। यथा प्रतिष्ठत इत्यादौ धातोर्गति-निवृत्तिवाचकत्वे प्रेण तु गतिवाचकत्वं व्यवस्थाप्यते। तथा चोक्तम् 'धात्वर्थं बाधते कश्चित्' इति। —पु० रा० वा० प०, 2-188
5. तद्य एषु पदार्थ: प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम् —निरुक्त, 1. 13
6. 'उपसर्गा: क्रियायोगे।' —पा० सू०, 1।4।59

करते हैं। अतः वे अर्थ के अभिधान में धातु के सहकारी होते हैं।[1] उपसर्ग एवं धातु के मिलकर अर्थाभिधान को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि अधि एवं परि उपसर्गों के प्रयोग के बिना धातु के द्वारा अन्य क्रिया की अवगति दिखाई देती है अपने आप में अनर्थक धातु उस अर्थ को उन अधि एवं परि के साथ ही अभिधान करती हैं।[2] इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'अध्यागच्छति' पर्यागच्छति' उदाहरणों में अधि एवं परि अर्थ रहित हैं क्योंकि आगच्छति के द्वारा ही उपरिभाव विशिष्ट आगमन तथा सर्वतोभाव विशिष्ट आगमन रूप अर्थों की अवगति प्रकरणादि के द्वारा दिखाई देती है परन्तु फिर भी इनका प्रयोग किया जाता है इससे यही सिद्ध होता है कि धातु एवं उपसर्ग मिलकर ही अर्थ के अभिधायक होते हैं। अधि एवं परि धातु के बिना अर्थ रहित है। धातु के द्वारा प्रकरणादि के कारण अवगत अर्थ का ही अभिधान करने के कारण उपसर्गों का सहकारित्व स्पष्ट हो जाता है।[3]

पुण्यराज एक बात और स्पष्ट करते हैं कि 'केवल' अधि एवं परि को अनर्थक कहना इस बात को सिद्ध करता है कि वास्तव में उपसर्ग अर्थ युक्त होते हैं।[4]

महाभाष्य में 'अधिपरी अनर्थकौ' सूत्र की व्याख्या में यह कहा गया है कि यहाँ अनर्थकौ शब्द का अर्थ अर्थ रहित' नहीं है अपितु अनर्थान्तर वाचक' है। अर्थात् अधि एवं परि उपसर्ग धातु के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ के वाचक न होकर धातुवाच्य क्रिया का ही अभिधान करते हैं।[5] इससे भी उपसर्गों का धातु के अर्थ में सहकारित्व सिद्ध होता है।

---

1. सम्भूय धातूपसर्गावर्थमाहतुरिति शक्तिमात्रमुपसर्गः कुरुत इत्यर्थाभिधाने सहकारिण उपसर्गाः। —पु० रा० वा० प० 2-188
2. अप्रयोगेऽधिपर्योश्च यावद् दृष्टं क्रियान्तरम्।
   तस्याभिधायको धातु सह ताभ्यामनर्थकः।। —वा० प०, 2-190
3. अध्यागच्छति पर्यागच्छतीत्यधिपरी अनर्थकावागच्छतीत्यस्मादेवोपरिभावविशिष्टस्य सर्वतोभावविशिष्टस्य वाप्यागमनस्य प्रकरणादिनावगतत्वाद् लौकिकशब्दव्यवहारे लाघवं प्रत्यनादरादिति स्पष्टार्थमेवाधिपर्योः प्रयोगः। समुदाय एव विशिष्टार्थाभिधायक इत्यधिपर्योः केवलयोर्धातोश्चानर्थकत्वमनर्थान्तरवाचकत्वमित्यर्थः। अतो धातूपसर्गौ सम्भूयैवार्थविशेषं ब्रूत इति धातोरर्थाभिधाने सहकारिण उपसर्गाः। —पु० रा० वा० प०, 2-190
4. उपसर्गाणां रूढितोऽर्थवत्त्व एव तावधिपरी अनर्थकाविति (अष्टा० 1।4।93) केवलानर्थकतया। —पु० रा० वा० प०, 2-190
5. अथवा नेवेमावनर्थकौ। किं तर्ह्यनर्थकावित्युच्यते ?
   अनर्थान्तरवाचिनावनर्थकौ, धातुनोक्तां क्रियामाहतुः। —महाभा० उपसर्ग, 1।4।93

उपसर्गों के सबन्ध में भर्तृहरि के मत का पुण्यराज द्वारा स्पष्टीकरण

आचार्य भर्तृहरि ने यद्यपि तीनों ही पक्षों का विवेचन किया है। परन्तु उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष को उन्होंने पुनः दो प्रकार के अनुमान द्वारा स्पष्ट किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्हें उपसर्गों का द्योतकत्व पक्ष अधिक अभीष्ट था। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि केवल 'स्था' आदि धातुओं के द्वारा गमनादि की अवगति होती है। अतः दो प्रकार के अनुमान के द्वारा प्रादि गमकत्वादि धर्म (द्योतकत्व धर्म) से युक्त सिद्ध होते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि 'स्था' इत्यादि धातु ही गमनत्व अर्थ को भी अभिहित करती है अतः 'प्रतिष्ठते' इत्यादि में उपसर्ग अर्थ के वाचक न होकर अर्थ के द्योतक होते हैं। पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि के इस संक्षिप्त कथन को विस्तारपूर्वक स्पष्ट करते हुए उनके मत को स्पष्ट किया है। उन्होंने दो प्रकार के अनुमान की प्रक्रिया को विस्तार से स्पष्ट करते हुए उपसर्गों का द्योतकत्व पक्ष स्पष्ट किया है। 'स्था' धातु प्रसिद्धि के कारण गतिनिवृत्ति का अभिधान करती है। अतः स्था धातु अकेली गमन अर्थ की प्रतीति नहीं कराती। परन्तु पुण्यराज ने धातुओं के अनेकार्थत्व का अनुमान करके 'स्था धातु का गतिवाचकत्व भी व्यवस्थापित किया है और उपसर्ग को उस गमनत्व का द्योतक सिद्ध किया है।[2] पुण्यराज कहते हैं कि प्रसिद्धि के कारण यद्यपि स्था धातु को गतिनिवृत्तिवाचक माना जाता है तथा प्र शब्द के द्वारा प्रतिष्ठते में गति की अवगति मानी जाती है परन्तु वास्तव में प्र आदि गति के वाचक न होकर द्योतक ही होते हैं तथा धातुएँ अनेकार्थक होती हैं। इसकी सिद्धि सामान्यतोदृष्ट एवं विशेषतोदृष्ट इन दो प्रकार के अनुमानों द्वारा हो जाती है।[3] अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार है—

सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा 'प्रतिष्ठते' में 'प्र' उपसर्ग के द्योतकत्व की सिद्धि—

प्र शब्द आदिकर्म का द्योतक है	साध्य
क्योंकि वह प्र शब्द है	हेतु

1. स्थादिभिः केवलैर्यच्च गमनादि तु गम्यते।
तत्रानुमानाद्द्विविधात्तद्धर्मा प्रादिरुच्यते ॥ —वा० प०, 2-189
2. तिष्ठतिर्गतिनिवृत्तिं प्रसिद्धयाभिदधाति। अतः केवलेन तेन गमनं न प्रतिपाद्यत इत्यनेकार्था धातवः इति कृत्वानुमानाद् गतिवाचकत्वमपि तस्य व्यवस्थाप्यते; उपसर्गस्तु द्योतक एव। —पु० रा० वा० प०, 2-189
3. गतिनिवृत्तौ प्रसिद्धत्वात्तिष्ठतेः प्रशब्दस्य गतिवाचकत्वमुच्यते, वस्तुस्थित्या त्वनुमानेन प्रादेर्द्योतकत्वमेव सामान्यतो दृष्टेन विशेषतो दृष्टेन चेति···। धातुरनेकार्थ उपसर्गश्च द्योतक इत्यनुमानेन व्यवस्थाप्यते। —पु० रा० वा०, प०, 2-189

'पच्' आदि धातुओं के साथ — उदाहरण
देखे गये 'प्र' शब्द के समान — 3

अर्थात् 'प्रपचति' में 'प्र' का प्रयोग है तथा वह द्योतक है इसी प्रकार 'प्रतिष्ठते' में भी 'प्र' उपसर्ग का ही प्रयोग है अतः वह भी द्योतक ही है।[1]

विशेषतोदृष्ट अनुमान द्वारा उपसर्गों का द्योतकत्व सभी प्रआदि द्योतक है— — साध्य

क्योंकि वे उपसर्ग हैं — हेतु
प्रपचति में द्योतकत्व धर्म से
युक्त उपसर्ग के समान — उदाहरण।

अर्थात् प्रपचति में 'प्र' उपसर्ग है तथा वह द्योतक है अतः द्योतकत्व धर्म से युक्त 'प्र' शब्द के समान धर्म वाले सभी प्र आदि भी द्योतक ही हैं। इस प्रकार विशेष 'प्रपचति' में 'प्र' के द्योतकत्व को देखकर इस विशेष के द्वारा अनुमान किया जाता है कि सभी प्र आदि उपसर्ग द्योतक हैं।[2]

अब पुण्यराज धातु का अनेकार्थत्व सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तिष्ठतिधर्मी स्था धातु
अनेकार्थक हैं — साध्य
क्योंकि वह धातु है — हेतु
वादी एवं प्रतिवादी के द्वारा सम्मत
अनेकार्थक 'यजि' इत्यादि धातुओं
के समान — उदाहरण[3]

---

1. तत्राविशेषेणोपसर्गाणां द्योतकत्वं तथा च प्रशब्दो धर्मी आदिकर्मद्योतक इति साध्यो धर्मः प्रशब्दत्वात् पूर्वोदितपच्यादि (पूर्व) दृष्टप्रशब्दवदिति।
—पु० रा० वा० प०, 2-189
2. विशेषतो दृष्टानुमानेन तदुर्मप्रशब्दस्य समानधर्मा सर्वोऽपि आदिरुपसर्गो द्योतकत्व-धर्मयुक्त उच्यते इति।
—वही, 2-189
3. धातुश्च सामान्यतो दृष्टेनानुमानेनानेकार्थः। यथा तिष्ठतिर्धर्म्मी अनेकार्थ इति साध्यो धर्मो धातुत्वाद् उभयवादिसम्मतानेकार्थयजत्यादिधातुवदिति। एवं सामान्यतो दृष्टानुमानाद्, तद्धर्माऽन्यो धातुरप्यनेकार्थ उच्यते इति योजना।
—पु० रा० वा० प०, 2-189

अर्थात् सभी यह मानते है कि यजि इत्यादि धातुएं अनेकार्थक हैं। स्था भी धातु है अतः वह भी अनेकार्थक है। इस प्रकार यजि इत्यादि सामान्य धातुओं में अनेकार्थत्व को देखकर 'स्था' धातु का अनेकार्थत्व सिद्ध हो जाता है। धातुओं का अनेकार्थत्व सिद्ध करके पुण्यराज उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष को ही स्पष्ट करते हैं अर्थात् यदि स्था धातु केवल गति निवृत्ति अर्थ वाली ही मानें तो प्रतिष्ठते से जो गमन अर्थ की अवगति होती है उसका कारण 'प्र' उपसर्ग सिद्ध होती है जिससे प्र उपसर्ग गमन अर्थ का वाचक मानना पड़ेगा परन्तु स्था धातु अनेकार्थक सिद्ध करके पुण्यराज 'गति' अर्थ को भी स्था धातु का ही अर्थ मानकर 'प्र' आदि उपसर्ग को उस गति अर्थ का केवल द्योतक सिद्ध करते है।

इस प्रकार पुण्यराज अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष को स्पष्ट करते हैं। महाभाष्यकार ने भी उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि धातुएँ अनेकार्थक होती हैं अतः 'प्रतिष्ठते' में भी व्रजि क्रिया स्था धातु से ही अभिहित होती है। अतः स्था धातु का ही अर्थ 'व्रजन' होता है।[1]

एक अन्य स्थान पर महाभाष्यकार कहते हैं कि उपसर्ग, जहाँ कहीं भी कोई क्रियावाची शब्द प्रयुक्त होता है, वहाँ उस क्रिया की विशेषता को कहते हैं।[2]

पण्डित शिवनारायण शास्त्री लिखते है कि यद्यपि आचार्य दुर्ग ने उपसर्गों के वाचकत्व पक्ष को स्पष्ट किया है तथा उनके अनेक अर्थ भी दिये हैं। परन्तु वस्तुतः श्रद्धा के कारण वे उपसर्गों को द्योतक ही मानते हैं।[3]

इस प्रकार पुण्यराज ने जिस प्रकार से भर्तृहरि के पक्ष को सामने रखा है उससे यह स्पष्ट होता है कि उन्हें भी उपसर्गों का द्योतकत्व पक्ष अभीष्ट था।

---

1. इह तर्हि व्यक्तमर्थान्तरगम्यते—तिष्ठति प्रतिष्ठत इति। तिष्ठतिति व्रजिक्रियाया-निवृत्तिः, प्रतिष्ठत इति व्रजिक्रियागम्यते। तेनमन्यामहे उपसर्गकृतमेतर्थेनाऽत्र व्रजि-क्रिया गम्यत इति। प्रोऽयं दृष्टापचार आदि कर्मणि वर्तते। न चेदं नास्ति—'बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति। तद्यथा—वापिः प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्तते—केशश्मश्रु वपतीति ईडिः स्तुतिचोदनायाञ्चासु दृष्टः प्रेरणे चापि वर्तते अग्निर्वा इतोवृष्टिमीट्टे, मरुतोऽमुतश्च्यावयन्तीति।'''एवामिहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाया निवृत्तिम्।

—महा० भा० अ० सू०, 1।3।1 पर वार्तिक

2. आह—नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्युक्तम्। अत्र नाम्नः कर्मोप-संयोगद्योतका भवन्तीत्येवं गृह्यते तथा —वही,

3 उक्तमुपसर्गलक्षणं सामान्यं नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीति।

—दुर्गाचार्य, (1।3।1)

धातु का साधन-सम्बन्ध से पूर्व उपसर्ग के साथ सम्बन्ध

उपसर्गों के सम्बन्ध में आचार्य भर्तृहरि ने एक अन्य समस्या की भी उद्भावना की है कि क्या पहले धातु उपसर्ग के साथ सम्बद्ध होती है अथवा पहले साधन से सम्बद्ध होकर बाद में उपसर्ग के साथ सम्बद्ध होती है। धातु पहले उपसर्ग के साथ सम्बद्ध होती है इस पक्ष को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि उपसर्ग के साथ सम्बन्ध की धातु से पृथक् कल्पना शास्त्र में अट् आदि की व्यवस्था के लिये ही की जाती है। सङ्ग्राम' यहां सम् उपसर्ग सहित धातु से ही विधि होती है अतः उपसर्ग एवं धातु के संघात से ही 'क्रियाविशेष' होते हैं।[1] पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'असङ्ग्रामयत' 'सिसंग्रामयिषते' में उपसर्ग से युक्त धातु को ही अट् एवं द्वित्व होता है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि उपसर्ग सहित धातु ही धातु कहलाती है।[2] आचार्य भर्तृहरि अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में उपसर्गों एवं धातु के पृथक्-पृथक् उपदेश को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि निवासयति, आस्फोटयति, जुगुप्सते, सूत्रयति इत्यादि में ल्यप् तथा द्विर्वचन, विभाग होने पर ही इष्ट व्यवस्था को प्राप्त करते हैं इसीलिये इनकी अलग-अलग कल्पना की जाती है।[3]

धातु एवं उपसर्ग का पहले सम्बन्ध मानने पर धातु एवं उपसर्ग को आश्रय मानकर किये जानेवाले कार्य अन्तरंग होते हैं। अतः उन कार्यों से युक्त होकर ही क्रिया साधन के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है।[4] पुण्यराज अपनी टीका में उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं कि धातु एवं उपसर्ग को आश्रय मानकर किये जानेवाले कार्यों से युक्त ही क्रिया साधन सम्बन्ध को प्राप्त करती है। 'अनुभूयते' रूप धातु का उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होने पर ही निष्पन्न होता है। अर्थात् भू धातु का अनु उपसर्ग के साथ

---

1. अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः॥
तथाहि सङ्ग्रामयते सोपसर्गाद्विधिः स्मृतः।
क्रियाविशेषाः संघातैः प्रक्रम्यन्ते तथाविधाः॥ —वा० प०, 2-180-181
2. 'असङ्ग्रामयत सिसङ्ग्रामयिषते, सोपसर्गस्यैवाङ्द्विर्वचनदर्शनात् सोपसर्गस्यैव धातुत्वम्....।' —पु० रा० वा० प०, 2-181
3 निवासयत्यास्फोटयति जुगुप्सते सूत्रयति इति ल्यब्द्विर्वचनादीनि विभागे सतीष्टां व्यवस्थां लभन्ते। —भर्तृहरि वृत्ति वा० प०, 2-180
4. कार्याणामन्तरङ्गत्वमेवं धातूपसर्गयोः।
साधनैर्याति सम्बन्धं तथाभूतैव सा क्रिया॥ —वा० प०, 2-2-182

पहले सम्बन्ध होने पर ही कर्म में लकार सिद्ध होता है। यदि उपसर्ग के साथ पहले सम्बन्ध न होता तो 'भू' धातु परस्मैपदी होने के कारण कर्म में लकार सिद्ध नहीं होता अपितु भवति को अनु उपसर्ग लगने पर अनुभवति रूप बनेगा जो अभीष्ट नहीं है।

पुण्यराज कहते हैं कि धातु का पहले उपसर्ग के साथ सम्बन्ध पक्ष में ही पाणिनि सूत्र 'षत्वतुकोरसिद्धः सूत्र की आवश्यकता होती है।[1] क्योंकि इङ् धातु से पहले अधि उपसर्ग लगने पर ही दीर्घ एकादेश होता है जिससे क्त्वा (समानकर्तृकयोः पूर्वकाले) को ल्यप् होने पर तुक् आगम (ह्रस्वस्य पित्ति कृति तुक्) की असिद्धि प्राप्त होती है। 'षत्वतुकोरसिद्ध' सूत्र के द्वारा दीर्घ एकादेश को तुक् विधान करने के लिये असिद्ध होने पर तुक् आगम होकर अधीत्य रूप सिद्ध हो जाता है।

अडभ्यासव्यवायेऽपि वार्तिक की इस पक्ष में आवश्यकता नहीं होती[2] क्योंकि धातु से पहले उपसर्ग सम्बन्ध होने पर सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे सूत्र के 'सुट् कात् पूर्व' से कृ के ककार से पूर्व हो जाता है क्योंकि 'सुट्' उपसर्ग पर आश्रित है अतः अन्तरंग होने के कारण पहले ही हो जाता है। अट् आगम तथा अभ्यास बाद में होते हैं अतः इस पक्ष में इनका व्यवाय होता ही नहीं तो फिर इस वार्तिक की क्या आवश्यकता है। अतः समस्करोत, सञ्चस्कार रूप इस वार्तिक के बिना ही सिद्ध हो जाते हैं।

धातु का पहले साधन के साथ सम्बन्ध पक्ष

इस पक्ष के अनुसार धातु से पहले साधन की उत्पत्ति (लकारादि) तथा बाद में उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि साधन सम्बन्ध के द्वारा ही धातु प्रयोग योग्य होती है तभी उसमें विशेषता का आधान उपसर्ग द्वारा हो सकता है। अतः जब तक (साधन सम्बन्ध द्वारा) क्रिया उत्पन्न नहीं होती तब तक उपसर्ग से उसको विशिष्ट भी नहीं किया जा सकता।[3]

पुण्यराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि साधन के द्वारा क्रिया अपने स्वरूप

---

1. उपसर्गविशिष्टैव कारकसम्बन्धमुपगच्छति।...तथा 'षत्वतुकोरसिद्धः' (अष्टा० 6।1।86) इत्यारम्भणीयम्। —पु० रा० वा० प०, 2-182

2. अडभ्यासव्यवायेऽपि' (भाष्य० 6-1-135 वा० 6) इत्यनारम्भणीयमेवेति स्थितम्। —पु० रा० वा० प०, 2-182

3. प्रयोगार्हेषु सिद्धः सन् भेत्तव्योऽर्थो विशिष्यते।
प्राक् च साधनसम्बन्धात् क्रिया नैवोपाजयते॥ —वा० प०, 2-183

को प्राप्त कर लेती है और उस स्वरूप प्राप्त क्रिया में ही उपसर्ग द्वारा विशेषता लाई जा सकती है।[1]

पुण्यराज कहते हैं कि इस पक्ष में तुक् विधान में षत्वतुकोरसिद्धः सूत्र की आवश्यकता नहीं होती।[2] क्योंकि साधन सम्बन्ध पहले हो जाने के कारण ह्रस्व ही रहता है। अतः उसको ह्रस्वस्य पितिकृति तुक सूत्र से तुक् आगम हो जाता है। उपसर्ग सम्बन्ध बाद में होने के कारण तदाश्रित दीर्घ एकादेश तुक् के बाद ही होता है अतः षत्वतुकोरसिद्धः सूत्र की भी आवश्यकता नहीं होती। इस पक्ष में 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' वार्तिक की आवश्यकता होती है।[3] क्योंकि 'सुट्' उपसर्गाश्रित है तथा उपसर्ग का योग साधन सम्बन्ध के बाद होता है। साधन सम्बन्ध पहले हो जाने से अकरोत् तथा चकार रूप बन जाता है। तब सम् उपसर्ग का योग होने पर तदाश्रित सुट् आगम (सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे तथा सुट् कात् पूर्वः) की प्राप्ति होती है परन्तु सम् एवं कृ के मध्य में अट् एवं अभ्यास का व्यवधान होने के कारण कृ के क से पूर्व सुट् आगम नहीं हो सकता इसीलिये 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' वार्तिक द्वारा आचार्य कात्यायन ने अट् एवं अभ्यास का व्यवधान होने पर भी 'सुट्' आगम की सिद्धि कर दी है। जिससे संचस्कार तथा समक्रोत इन अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार पुण्यराज ने षत्वतुकोरसिद्धः सूत्र एवं अड्भ्यासव्यवायेऽपि वार्तिक के आधार पर आचार्य पाणिनि एवं कात्यायन के मतों को स्पष्ट कर दिया है अर्थात् पाणिनि को उपसर्ग के साथ पहले धातु का सम्बन्ध पक्ष अभीष्ट था तथा कात्यायन को साधन सम्बन्ध के बाद उपसर्ग सम्बन्ध अभीष्ट था। इस प्रकार पुण्यराज न केवल भर्तृहरि की कारिकाओं की ही व्याख्या करते हैं अपितु आचार्य पाणिनि एवं कात्यायन के भी मत प्रस्तुत करते हैं जो संस्कृत व्याकरण शास्त्र को एक अनुपम देन है।

आचार्य भर्तृहरि का मत

यद्यपि आचार्य भर्तृहरि ने स्पष्ट शब्दों में अपना मत प्रस्तुत नहीं किया परन्तु दोनों पक्षों का विवेचन करने के पश्चात् पुनः पूर्व धातुरुपसर्गेण युज्यते' पक्ष का

---

1. लब्धात्मनस्तस्या विशेष्यत्वोपपत्तेः···। यदि प्राक् साधनसम्बन्धात् क्रियाविशेष इत्युच्यते, तदा व्युत्पन्नायास्तस्याः स्वरूपाभावेन कथञ्चित् शेषसम्बन्धः स्यादिति।
—पु० रा० वा० प०, 2-183
2. षत्वतुकोरसिद्धः इति तुकि कर्त्तव्ये एकादेशासिद्धत्वं न वक्तव्यम्।
—वही, 2-183
3. 'अस्मिंश्च पक्षेऽडभ्यासव्यवायेऽपीत्यारम्भणीयम्—' —वही 2-183

समाधान करते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि उन्हें यही पक्ष अभीष्ट था। 'पूर्वं 'धातुःसाधनेन युज्यते' पक्ष के विवेचन में यह कहा गया है कि धातु से साधन योग के बिना क्रिया की निर्वृत्ति नहीं होती। अतः पहले साधन के साथ योग होने पर क्रिया की निर्वृत्ति होने पर ही उपसर्ग द्वारा उसमें विशेषता लाई जाती है। आचार्य भर्तृहरि 'पूर्वं धातुः उपसर्गेण युज्यते' पक्ष के समर्थन में कहते हैं कि जिस प्रकार भावी साधन योग को मानकर पहले ही धातु का धातुत्व तथा उसमें कर्मभाव मान लिया जाता है। उसी प्रकार और भी देखना चाहिये।[1] पुण्यराज ने इस सूत्र समान कारिका को खोलकर स्पष्ट किया है। पुण्यराज कहते हैं कि महाभाष्य में भूवादयोधातवः सूत्र की व्याख्या में क्रियावचनो धातुः कहा गया है। अर्थात् 'भू' इत्यादि धातुओं को क्रिया वाचक माना गया है। क्रिया की निर्वृत्ति साधन सम्बन्ध के बिना नहीं होती अतः 'क्रियावचनों धातुः' परिभाषा के अनुसार 'भू' इत्यादि क्रियावाचक नहीं है अतः उनकी धातु संज्ञा नहीं हो सकती परन्तु इनकी धातु संज्ञा हो जाती है। अतः जिस प्रकार 'भू' आदि में भावी साधन सम्बन्ध को मानकर साधन सम्बन्ध से पहले ही उनकी धातु संज्ञा हो जाती है उसी प्रकार साधन के साथ सम्बन्ध से पहले ही भावी सम्बन्ध के कारण साधन योग के बिना ही धातु को क्रियावाची मानकर उपसर्ग के द्वारा उसमें विशिष्टता का आधान करने में क्या दोष है। अतः साधन-सम्बन्ध से पूर्व उपसर्ग-सम्बन्ध हो सकता है।[2]

एक अन्य उदाहरण द्वारा भी पुण्यराज ने स्पष्ट किया है। 'धातोः कर्मणः समान-कर्तृकादिच्छायां वा' सूत्र से इच्छा की कर्मभूत तथा इच्छा के कर्त्ता के समान कर्त्ता-वाली धातु से सन् प्रत्यय होता है। धातु से सन् लगने के बाद ही उसमें इच्छा का कर्मत्व सिद्ध होता है परन्तु फिर भी उस भावी कर्मत्व को मानकर उसमें पूर्व ही धातु को इच्छा का कर्म मानते हुए उससे सन् प्रत्यय हो जाता है उसी प्रकार उपसर्ग का भी धातु से साधन सम्बन्ध से पहले ही योग हो सकता।[3]

---

1. धातोः साधनयोगस्य भाविनः प्रक्रमाद्यथा।
धातुत्वं कर्मभावश्च तथान्यदपि दृश्यताम्॥ —वा० प०, 2-184
2. क्रियावचनो धातुरित्युक्तम्, साधनसम्बन्धाच्च प्राक् क्रियानिर्वृत्तेरसम्भवाद्यथा भाविसम्बन्धसमाश्रयणेनोप्रक्रम एव धातुत्वं धातु संज्ञोच्यते···तथाऽन्यदपि दृश्यतां भाविसम्ब धनादुपक्रम एव विशिष्टक्रियावचनत्वं दृश्यतां को दोषः।
—पु० रा० वा० प०, 2-184
3. यथा च धातोः कर्मण इत्युच्यते, कर्म यो धातुरितीषिकर्मत्वस्य भावित्वादुपक्रम एवेषिकर्मत्वमुक्तं तथान्यदपि दृश्यतां भाविसम्बन्धादुपक्रम एव विशिष्टक्रियावचनत्वं दृश्यतां को दोषः। —पु० रा० वा० प०, 2-184

अब एक शंका उत्पन्न होती है कि यदि उपसर्ग का पहले धातु के साथ सम्बन्ध मानें तो कई स्थल ऐसे हैं जिनमें उपसर्ग रहित धातुओं से कार्य होते हैं जैसे अडागम इत्यादि। इसी शंका का समाधान करने के लिये आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जिस प्रकार से लाक्षारस इत्यादि बीजकाल से ही सम्बद्ध रहते हैं परन्तु बाद में वे फलों को उपकृत करते हैं उसी प्रकार उपसर्ग एवं धातु का सम्बन्ध हो जाने पर भी उससे उत्पन्न 'भेद' बुद्धि में स्थित रहता है तथा जब साधन सम्बन्ध हो जाता है तब वह भेद प्रकाशित हो जाता है।[1] अर्थात् यद्यपि उपसर्ग का धातु के साथ सम्बन्ध पहले ही हो जाता है फिर भी उस सम्बन्ध से जो भेद उत्पन्न होता है उसका प्रकाशन साधन के साथ धातु का सम्बन्ध होने के बाद ही प्रकाशित होता है। अर्थात् 'प्रपपाच' में यद्यपि प्र उपसर्ग का धातु के साथ पहले ही सम्बन्ध हो जाता है परन्तु अभ्यास इत्यादि कार्य होने पर ही उसके कारण जो भेद होता है उसका प्रकाशन होता है अतः धातु का उपसर्ग के साथ पहले सम्बन्ध पक्ष में भी अट् एवं अभ्यास पहले सिद्ध हो जाते हैं।[2]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य भर्तृहरि एवं पुण्यराज दोनों को ही धातु का उपसर्ग से सम्बन्ध पक्ष अधिक अभीष्ट है।

निपात

उपसर्गों के समान निपातों के भी तीन प्रकार आचार्य भर्तृहरि ने निरूपित किये हैं। कुछ निपात अर्थ के द्योतक होते हैं, कुछ अलग अलग अर्थ का अभिधान करते हैं तथा कुछ आगम के समान मिलकर अर्थ का अभिधान करते हैं।[3] उपसर्ग एवं निपात में अन्तर यह है कि उपसर्ग केवल क्रिया की ही विशेषता बताते हैं जबकि निपात नाम एवं आख्यात दोनों की विशेषता बताते हैं।

पण्डित शिवनारायण शास्त्री[4] निपातों को पृथक् मानने का कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये भावप्रधान न होने के कारण आख्यातों में, सत्वप्रधान न होने के

1. बीजकालेषु सम्बद्धा यदा लाक्षारसादयः।
वर्णादिपरिणामेन फलानामुपकुर्वते ॥
बुद्धिस्थादभिसम्बन्धात्तथा धातूपसर्गयोः।
अभ्यन्तरीकृतो भेदः पदकाले प्रकाशते ॥
—वा० प०, 2-185, 186

2. वृत्तोपसर्गसम्बन्धाया एव साधनयोग उपपन्नः। —पु० रा० वा० प० 2-186

3. निपाता द्योतका केचिद् पृथगर्थाभिधायिनः।
आगमा इव केऽपि स्यु सम्भूयार्थस्य वाचकाः ॥ —वा० प०, 2-192

4. निरुक्त मीमांसा, अध्याय 16, 'निपात'

कारण नामों में एवं नाम या आख्यात पदों से जुड़े बिना ही अर्थाभिधान करने के कारण उपसर्गों में शामिल नहीं किये जा सकते। निपात वाक्य में कारक आदिसम्बन्ध की अपेक्षा किये बिना ही, जहाँ चाहे प्रयुक्त (निपतित) होते हैं।[1]

निपातों का द्योतकत्वपक्ष

आचार्य भर्तृहरि निपातों को वाचक एवं द्योतक दोनों ही मानते हैं। उनके द्योतकत्व को उन्होंने इस प्रकार से स्पष्ट किया है कि च आदि पद होने पर भी अकेले प्रयुक्त नहीं होते। अतः वे वाचक नहीं है। प्रत्यय, वाचक होने पर भी अकेला प्रयुक्त नहीं होता।[2] कारिका के द्वारा अर्थ स्पष्ट नहीं होता। पुण्यराज अनुमान की प्रक्रिया द्वारा कारिका के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि ये च आदि निपात अकेले प्रयुक्त नहीं होते अतः ये वाचक नहीं हैं।[3]

अनुमान की प्रक्रिया—

च आदि वाचक नहीं है।	साध्य
अकेले प्रयुक्त न होने के कारण।	हेतु
यदि वाचक होते तो गवादि के समान अकेले प्रयुक्त होते।	उदाहरण[4]

पुण्यराज इस अनुमान का पूर्वपक्ष के रूप में प्रत्यनुमान की आशंका करते हुए कहते हैं कि च आदि द्योतक नहीं हैं—

च आदि द्योतक नहीं है—साध्य
क्योंकि उनका अकेले प्रयोग नहीं होता—हेतु
प्रत्यय के समान

---

1. वशात्प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे-पदे। —बृहद्देवता, 2-93
तथा—उपरिष्टात् पुरस्ताद्वा द्योतकत्वं न भिद्यते।
तेषु प्रयुज्यमानेषु भिन्नार्थेष्वपि सर्वथा॥ —वा० प०, 2-193
2. चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवलाः।
प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते॥ —वा० प०, 2-194
3. एते हि चादयः केवला न प्रयुज्यन्ते ततो वाचका न भवन्तीति बोद्धव्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-194
4. चादयो धर्मिवाचका न भवन्तीति साध्यो धर्मः, केवलानामप्रयोगात्। यदि हि वाचका स्युस्तदा गवादिवत् केवलानामपि तेषां प्रयोगः स्यादित्यनुमानम्। —पु० रा० वा० प०, 2-194

(अर्थात् प्रत्यय भी अकेले प्रयुक्त नहीं होते अतः द्योतक नहीं होते) उदाहरण 1

इस प्रत्यनुमान में दोष है कि यहाँ हेतु निर्विशेषण नहीं है अपितु 'पदत्वे सति केवलानामप्रयोगात् है ।[1] यह हेतु सविशेषण है अर्थात् उसमें 'पदत्व होना' भी कारण है। इस प्रकार 'पद होने के कारण प्रत्यय की व्यावृत्ति हो जाती है अर्थात् प्रत्यय का उदाहरण देकर च आदि के द्योतकत्व का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्यय पद नहीं है अतः प्रत्यय पद न होने के कारण अकेले प्रयुक्त नहीं होते । अतः वे द्योतक नहीं है । परन्तु च आदि पद होने पर भी अकेले प्रयुक्त नहीं होते अतः वे अर्थ के वाचक नहीं द्योतक सिद्ध होते हैं क्योंकि जो पद होता है उसका अकेले प्रयोग होता है। तभी वह वाचक भी कहलाता है ।[2]

निपातों का वाचकत्व पक्ष

इस पक्ष के अनुसार निपात पृथक् अर्थ के वाचक होते हैं। उनका अर्थ क्या होता है इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि ने इनको 'समुच्चित' अर्थ के अभिधायक माना है ।[3] पुण्यराज ने शंका की उद्भावना करके उसके समाधान द्वारा निपातों को समुच्चित असत्वभूत अर्थ के अभिधायक सिद्ध किया है ।

पुण्यराज कहते हैं कि शब्द शक्ति के स्वभाव के कारण च आदि पद 'असत्वभूत' पृथक् अर्थ[4] का अभिधान करने के कारण वाचक कहलाते हैं, यह उचित नहीं है क्योंकि शक्ति के अनुग्रह के कारण असत्व अर्थ के वाचक समुच्चय इत्यादि के प्रयोग होने पर षष्ठी का श्रवण होता है जैसे वृक्षस्य समुच्चयः, प्लक्षस्य समुच्चयः । इसी प्रकार से निपातों के प्रयोग में भी षष्ठी सुनाई देनी चाहिये वृक्षस्य च प्लक्षस्य च । अर्थात् असत्ववाची समुच्चय इत्यादि शब्दों के प्रयोग होने पर षष्ठी विभक्ति श्रवण होती है उसी प्रकार च आदि भी असत्ववाचक हैं । अतः उनके प्रयोग में भी षष्ठी का

---

1. नन्वत्र प्रत्यनुमानमस्ति—चादयो धर्मिद्योतका न भवन्तीति साध्यो धर्मः, केवलानामप्रयोगात् । प्रत्ययवत् । —पु० रा० वा० प०, 2-194
2. न निर्विशेषणोऽयं हेतुरपितु पदत्वे सति केवलानमप्रयोगाद् द्योतका एव इति पदत्वे सतीत्यनेन प्रत्ययव्यावृत्तिः । प्रत्ययस्य कस्यचिद्वाचकत्वेऽपि पदत्वाभावात् केवलस्याप्रयोगः । —पु० रा० वा० प०, 2-194
3. समुच्चिताभिधानेऽपि व्यतिरेको न विद्यते ।
असत्वभूतो भावश्च क्रियाऽन्येन प्रतीयते ।। —वा० प०, 2-195
4. 'चादयोऽसत्वे । —अ० सू०, 1।4।57

श्रवण होना चाहिये परन्तु नहीं होता (वृक्षश्च, प्लक्षश्च)।[1] च आदि निपात यदि समुच्चप अर्थ के अभिधायक हों तभी षष्ठी विभक्ति के प्रयोग का श्रवण होना चाहिये परन्तु चादि निपात 'समुच्चय' के अमिधायक नहीं है अपितु समुच्चित अर्थ के अभिधायक होते हैं। समुच्चित अर्थ के अभिधायक मानने पर किसी प्रकार का व्यतिरेक नहीं होता।[2]

च आदि को समुच्चित अर्थ के अभिधायक मानने पर एक दोष की उद्भावना करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यदि च आदि समुच्चित अर्थ के वाचक हैं तो 'समुच्चित' सत्वभूत होने के कारण (समुच्चयो अस्य पदार्थस्य अस्ति इति) 'चादयोऽसत्वे' सूत्र से च आदि की निपात संज्ञा का प्रतिषेध हो जाएगा क्योंकि च आदि सत्व अर्थ में है। निपात संज्ञा न होने के कारण अव्यय संज्ञा का भी अभाव (स्वरादिनिपातमव्ययम् 1।1।37) हो जाएगा। अव्ययसंज्ञा न होने के कारण च आदि से विभक्ति का श्रवण प्राप्त हो जाएगा।[3]

इस शंका का समाधान करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि शब्दों की अर्थाभिधान की स्वाभाविक शक्ति होती है यह प्रसिद्ध है। निपात शब्दशक्ति के स्वभाव के कारण असत्वभूत अर्थ के ही अभिधायक प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार 'पचति' इस आख्यात पद से तथा 'पाकः' इस नामपद से 'पाक' ही शब्द शक्ति के कारण वाच्य है तथा 'पचति' इस आख्यात के द्वारा असत्वभूतपाक तथा 'पाकः' इस नामपद के द्वारा सत्वभूत, परिनिष्ठित स्वभाव वाला पाक अर्थ अभिहित होता है, अर्थात् शब्दक्ति के स्वभाव के कारण 'पचति' असत्वभूत पाक तथा 'पाकः' सत्वभूत पाक का अभिधान करता है, उसी प्रकार च आदि निपातों के द्वारा असत्वभूत समुच्चित अर्थ का अभिधान ही स्वाभाविक रूप से होता है। अतः असत्वभूत अर्थ होने के कारण विभक्ति की उत्पत्ति

---

1. अथ शब्दशक्तिस्वभाव्याच्चादिपदस्यासत्वभूतो यः पृथगर्थस्तद्वाचकत्वाद्वाचकत्वं व्यवस्थाप्यते तदनुपपन्नम्; शक्त्यनुग्रहाद्यथा तदर्थवाचकानां समुच्चयादीनां प्रयोगे षष्ठी श्रूयते, वृक्षस्य समुच्चयः प्लक्षस्य समुच्चय इति, तद्वन्निपातप्रयोगे श्रूयेत, वृक्षस्य च प्लक्षस्य चेति। —पु० रा० वा० प०, 2-195
2. स्यादेवं यदि समुच्चयाभिधायकाः स्युः, न चैवम्, किं तर्हि समुच्चिताभिधायिन एव इत्युच्यन्ते, तदभिधाने च व्यतिरेको नास्तीति···।—
पु० रा० वा० प०, 2-195
3. यद्येवं समुच्चितस्य सत्वभूतस्याभिधाने सत्व इति प्रतिषेधान्निपातसंज्ञाया अभावे तत्पूर्विकाया अव्ययसंज्ञाया अभावाच्चादेरपि विभक्तेः श्रवणं प्राप्नोति इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-195

नहीं होती ।[1] पुण्यराज महाभाष्य से उद्धरण देकर भी यही स्पष्ट करते हैं कि लिंग संख्या आदि वाचनिक नहीं अपितु स्वाभाविक होते हैं । जिस प्रकार समान रूप से अध्ययन करने वालों में से कुछ ही अर्थ से युक्त हो जाते हैं अन्य नहीं ।[2]

इस प्रकार च आदि निपात वाचक होते हैं तथा समुच्चित अर्थ के अभिधायक होने पर भी आख्यात पद के समान असत्वभूव अर्थ को ही अभिहित करते हैं । इसीलिये उनसे विभक्ति का अभाव होता है ।[3] पुण्यराज इस सम्बन्ध में एक अन्य दोष की उद्भावना करते हुए कहते हैं कि चलो यह मान लो कि निपात समुच्चित अर्थ का अभिधान करते हैं तब तो जिस प्रकार समुच्चित अर्थ के अभिधायक अन्य शब्दों का विशेषण से योग होता है उसी प्रकार से निपातों का भी विशेषण से योग होना चाहिये तथा 'गुणवाची पदों से लिंग एवं वचन उनके आश्रय के अनुसार होते हैं' इस मुनित्रय सम्मत मत के आधार पर 'च' आदि से विभक्ति का अभाव होने के कारण उसके विशेषण से सामान्य नपुंसकलिंग का योग होना चाहिये जिससे शोभनं च वृक्षः' प्राप्त होता है । जो उचित नहीं है ।[4]

इसका उत्तर देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यद्यपि विशिष्ट अर्थ के अभिधायक पदों का विशेषण से योग उपपन्न है परन्तु निपात शक्ति एवं स्वभाव के कारण असत्ववाचक होने पर भी परतन्त्र हैं अतः इनसे विशेषण का योग न होने से कोई दोष नहीं

---

1. अत्र निपाता शब्दशक्तिस्वभावादेवासत्वभूतार्थाभिधायिनः प्रतीयन्त इति सनिदर्शनमाह'''। यथा पाक एवोभयत्र नामपदस्याख्यातस्य च वाच्यः शब्दशक्तिस्वभाव्यात्तया पचतीत्याख्यातेनासत्वभूतोऽसावभिधीयते, पाक इत्यत्र नामपदेन परिनिष्ठितस्वभावः सिद्ध इति, तद्वन्निपातैः समुच्चितादेरसत्वभूतस्याभिधानमिति न विभक्तेरुत्पत्तिः । —पु० रा० वा० प०, 2-195
2. उक्तं च-नेदं वाचनिकं लिङ्गसंख्यादिस्वाभाविकमेव । तद्यथा समानमधीयानानां केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न (भाष्ये 2।1।1) इति । —पु० रा० वा० प०, 2-195
3. एवं वाचकत्वात् समुच्चिताभिधानेऽप्याख्यातवदसत्वभूतार्थाभिधायित्वाद्विभक्तेरभावः । —पु० रा० वा० प०, 2-195
4. अस्त्वेवमपि समुच्चिताभिधायित्वाद्यथा स्वतन्त्राणां तदभिधायकानां विशेषणेन योगस्तथा निपातानमपि स्यात्, अथ च गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्तीत्यसत्ववाचकत्वाद्विभक्त्यभावात् शोभनं च वृक्षः इति प्राप्नोति । —पु० रा० वा० प०, 2-196

होता।[1] यह भी निपातों की स्वाभाविक शक्ति है कि वे नियत परतन्त्र होते हैं। अतः समुच्चित अर्थ का अभिधान करने पर भी न हो निपातों का विशेषण से सम्बन्ध होता है न उनका अकेले प्रयोग होता है।[2]

महाभाष्यकारपतंजलि ने भी निपातों के वाचकत्व एवं द्योतकत्व दोनों पक्षों को ही स्वीकार किया है। अव्ययविभक्तिसमीप···। इत्यादि सूत्र (2।1।6) की व्याख्या करते हुए उन्होंने एक प्रश्न की उद्भावना की है कि समृद्धि एवं साकल्य अर्थ में वर्तमान अव्यय का समास प्राप्त होने पर भी सुभद्राः, सुमगधाः, सपुत्रः, तथा सच्छायः में अव्ययीभाव समास क्यों नहीं होता ?[3]

इसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया है कि अव्ययीभाव समास तो पूर्वपदार्थ प्रधान होता है।[4] सुभद्रा इत्यादि में पूर्वपदों का अर्थ नहीं है अतः अव्ययीभाव समास नहीं हुआ। इससे यही सिद्ध होता है कि आचार्य पतंजलि निपातों को द्योतक एवं वाचक दोनों मानते हैं तथा द्योतक निपातों में पृथक् अर्थ न होने पर अव्ययीभाव समास नहीं होता।

कर्मप्रवचनीय

नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात का विवेचन करने के उपरान्त कर्मप्रवचनीय नामक पंचम पदविभाग का विवेचन भी आचार्य भर्तृहरि ने किया है। आचार्य भर्तृहरि कर्मप्रवचनीय का अर्थ स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि कभी क्रिया सम्बन्ध को उत्पन्न करके निवृत्त हो जाती है तथा कहीं पर क्रियापद का श्रवण होने पर सम्बन्ध उत्पन्न होता है। को उत्पन्न करके जब क्रिया निवृत्त हो जाती है तब वह उत्पन्न सम्बन्ध

---

1. गुणैर्विशेषणैः पदानां विशिष्टाभिधायिनां सम्बन्ध उपपद्यते। निपातानां तु शक्तिस्वाभाव्यादसत्ववाचित्वेऽपि नियतपरतन्त्रत्वाद्विशेषणयोगो नास्तीति न कश्चिदोषः। —वही, 2-196
2. एतदुक्तं भवति एतदपि शक्तिस्वाभाव्यमेव यत्तेषां नित्यपरतन्त्रत्वं नामेति। अतः समुच्चिताभिधानेऽपि न केवलः प्रयोगो नापि विशेषणसम्बन्ध इति स्थितम्। —पु० रा० वा० प०, 2-196
3. इह कस्मान्न भवति सुभद्राः, सपुत्रः, सच्छाय इति। समृद्धौ साकल्ये इति च प्राप्नोति। महाभा० अ० सू०, 2।1।6
4. नैष दोषः कश्चित्समासः पूर्वपदार्थप्रधानः, कश्चिदुभयपदार्थप्रधानः। पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः···।' —महाभा०, अ० सू०, 2।1।6

के प्रयोग से तत्र तत्र नियमित किया जाता है । अर्थात् सम्बन्ध, क्रिया जनित है इसका कर्म प्रवचनीय नियमन कर्मप्रवचनीय के द्वारा होता है ।[1] इस प्रकार पुण्यराज के शब्दों में कर्मप्रवचनीय क्रियाजनित सम्बन्ध के अवच्छेद के हेतु होते हैं ।[2]

पुण्यराज कहते हैं कि समस्त सम्बन्ध क्रियाकारक पूर्वक होता है । कहीं पर तो क्रिया उस सम्बन्ध को उत्पन्न करके निवृत्त हो जाती है जैसे 'राजपुरुषः' में 'राजा पुरुष का भरण करता है' अतः यह भरणलक्षणा क्रिया-आश्रय आश्रयीभाव-लक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न करके निवृत्त हो गई है । कई स्थलों पर क्रिया पद श्रवण होता हुआ ही सम्बन्ध को उत्पन्न करता है जैसे मातुः स्मरति वाक्य में स्मरण क्रिया के द्वारा मातृ सम्बन्धी स्मरण इस निमित्त निमित्ती-भाव-लक्षण सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है ।[3] जहाँ तो क्रिया, सम्बन्ध को उत्पन्न कर निवृत्त नहीं होती वहाँ तो यह स्पष्ट ही होता है कि सम्बन्ध क्रियाजनित है परन्तु जहाँ पर क्रिया सम्बन्ध उत्पन्न करने के बाद निवृत्त हो जाती है वहाँ पर यह सन्देह होता है कि सम्बन्ध क्रिया जनित है अथवा नहीं । कर्मप्रवचनीय का प्रयोग यह नियमन करता है कि सम्बन्ध क्रियाजनित है ।[4] अतः कर्मप्रवचनीय संज्ञा इसलिये हुई क्योंकि ये कर्म अर्थात् क्रियाकृत विशेष सम्बन्ध का

---

1. जनयित्वा क्रिया काचित् सम्बन्धं विनिवर्तते ।
श्रूयमाणे क्रियाशब्दे सम्बन्धोजायते क्वचित् ॥ —वा० प०, 2-167

स चोपजातः सम्बन्धः विनिवृत्त क्रियापदे ।
कर्मप्रवचनीयेन तत्र तत्र नियम्यते ॥
—वा० प०, 2-199

2. सम्बन्धावच्छेदहेतवः कर्मप्रवचनीया इष्यन्ते ।
—पु० रा० वा० प०, 2-196

3. तत्र क्वचित्सम्बन्धं जनयित्वा क्रिया विनिवर्तते, यथा राजपुरुष इति । अत्र हि राज्ञः पुरुषोऽयं यस्मात् स राजा पुरुषं बिभर्ति, अतो भरणलक्षणा क्रिया आश्रयाश्रयिभावलक्षणं सम्बन्धं जनयित्वा निवृत्ता । क्वचित् क्रियापदं श्रूयमाणसम्बन्धमुपजनयति, यथा मातुः स्मरति इति । अत्त हि मातुरिति कर्मपदमतो मातृसम्बन्धि स्मरणमिति निमित्तनिमित्तिभावलक्षणं सम्बन्धं स्मरति क्रिया श्रूयमाणैव जनयति । —पु० रा० वा० प०, 2-196

4. स च क्रिययोपजनितः सम्बन्धः तस्मिंश्चोपजाते यदा क्रियापदं क्वचिन्न श्रूयते, तदा क्रियाजनितोऽयं स्यादिति सन्देहे कर्मप्रवचनीयेन तत्र तस्यां क्रियायां नियम्यत इति सम्बन्धविशेषः कर्मप्रवचनीयैः प्रत्याय्यते ।
—पु० रा० वा० प०, 2-197

प्रत्यायन करते हैं।[1] महाभाष्य में भी 'कर्मप्रवचनीयाः' सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है कि 'कर्मप्रवचनीय वे हैं जो अप्रयुज्यमान क्रिया के सम्बन्ध की प्रतीति कराते हैं'।[2]

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि कर्मप्रवचनीय क्रिया के द्योतक नहीं है, न ही सम्बन्ध के वाचक हैं तथा न ही क्रियापद के आक्षेपक हैं अपितु ये सम्बन्ध के भेदक हैं।[3]

पुण्यराज कहते हैं कि कर्मप्रवचनीय प्रपचति इत्यादि में उपसर्ग के समान क्रिया के द्योतक नहीं है और न ही ये सम्बन्ध के ही वाचक है क्योंकि षष्ठी विभक्ति की अपवाद भूत द्वितीया विभक्ति के द्वारा ही सम्बन्ध अभिहित हो जाता है।[4]

कर्मप्रवचनीय क्रिया पद का आक्षेपक नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जिसके द्वारा क्रियापद का आक्षेप होता है वह कारकविभक्ति से युक्त होता है। जिस प्रकार 'वि', (विपरिलिखित में)। 'वि' लिख का उपसर्ग नहीं है।[5]

पुण्यराज इस कारिका को उदाहरण द्वारा विस्तार से व्याख्या करते हैं कि प्रादेशं विपरिलिखति' वाक्य में 'वि' मान क्रिया का आक्षेपक है क्योंकि 'प्रादेशं विमाय परिलिखित' अर्थ की अवगति होती है। विमान क्रिया के द्वारा प्रादेश लक्षण कर्म का आक्षेप हुआ है अतः 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से 'प्रादेशम्' में कारक विभक्ति द्वितीया होती है। 'वि' शब्द क्रियान्तर का आक्षेपक है। अतः इसका लिखति के प्रति उपसर्गत्व नहीं है। अतः 'वि' की उपसर्ग संज्ञा न होने के कारण ही गति संज्ञा का भी अभाव

---

1. अत एव कर्म प्रोक्तवन्तः क्रियाकृतं विशेषसम्बन्धं द्योतयन्तोति कर्मप्रवचनीया उच्यन्ते। —पु० रा० वा० प०, 2-199
2. किमर्थं महतीसंज्ञा क्रियते? अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायते कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीया इति। के पुनः कर्म प्रोक्तवन्तः ये सम्प्रति नाहुः। के च क्रियां नाहुः। ये प्रयुज्यमानाऽस्य क्रियामाहुस्ते कर्मप्रवचनीयाः। महाभा० (1।4।83)। आचार्य कैय्यट भी यही कहते हैं कि क्रियामाहुः का अर्थ है जो क्रिया जनित सम्बन्ध को कहते हैं—तत्र क्रियामाहुरिति क्रियाशब्देन तदुपजनितसम्बन्धविशेष उपचारादुच्यते। — कैय्यट, महाभाष्य, 1।4 83
3. क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥ —वा० प०, 2-204
4. प्रपचतीत्यादावुपसर्गवद् नैव यं क्रियाद्योतकः। षष्ठ्यपवादभूतया च द्वितीययैवोक्त सम्बन्ध इति न तस्य कर्मप्रवचनीयो वाचकः। पु० रा०वा०प० 2-204
5. येन क्रियापदाक्षेपः स कारकविभक्तिभिः।
युज्यते विर्यथा तस्य लिखावनुपसर्गता॥ —वा० प०, 2-200

हुआ है। अतः गतिर्गतौ (8।1।70) सूत्र से निघात भी नहीं होता।[1] यदि 'वि' के समान कर्मप्रवचनीयों को भी क्रिया के आक्षेपक मानें तो उनके योग में भी कारक विभक्ति का प्रयोग होगा तब कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (2।3।8) सूत्र व्यर्थ हो जाएगा। आचार्य पाणिनि द्वारा इस सूत्र का अन्वाख्यान इस बात का पोषक है कि क्रिया के आक्षेपक कर्मप्रवचनीय नहीं होते।[2]

इस प्रकार कर्मप्रवचनीय 'यह सम्बन्ध विशिष्ट क्रियाजनित है' इस सम्बन्ध के भेदक होते हैं।[3]

इस प्रकार भर्तृहरि ने अपोद्धार के प्रसंग से पांच प्रकार का पदविभाग प्रदर्शित किया है।[4] पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य भर्तृहरि ने निरुक्तकार के मत का अनुसरण करते हुए ही चार प्रकार के नाम, आख्यात उपसर्ग एवं निपात नामक पद विभाग का प्रदर्शन किया। कुछ आचार्य कर्मप्रवचनीय को पाँचवाँ पद विभाग मानते हैं। अतः उसका भी प्रदर्शन आचार्य भर्तृहरि ने कर दिया है।[5] पुण्यराज ने निरुक्तकार के मतानुसार इसलिये कहा है क्योंकि अखण्डवाक्यपक्ष को मानने वाले होने के कारण उन्हें तो वाक्य में पद विभाग अभीष्ट नहीं है पुनः अपोद्धार के कारण उसमें पद विभाग कल्पित होता है इसीलिये उसका विभाग करके निरुक्तकार के मतानुसार उनका विवेचन किया गया है।

---

1. यथा प्रादेशं विपरिलिखति इति। अत्र विशब्दो मानक्रियाया प्रादेशं विमाय परिलिखतीत्यर्थावगतेः। ततो विमान-क्रियया॒ऽत्र प्रादेशलक्षणं कर्माक्षिप्तमिति तस्य कारकविभक्त्यैव द्वितीयया योगः। यदा च क्रियान्तराक्षेपको विशब्दस्तदाऽस्य लिखत्यसम्बन्धात् तं प्रत्यनुपसर्गत्वमेव। ततश्च गतिर्गताविति (अष्टा० 8।1।70) निघाताभावः। —पु० रा० वा० प०, 2-200
2. तद्वत् कर्मप्रवचनीयैर्यदि क्रियापदमाक्षिप्येत, तदा तद्योगे कारकविभक्तिरेव स्यात्। ततश्च 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (2।3।8) इति नारम्भणीयमेव स्यात्। किन्तु सम्बन्धसामान्ये षष्ठी प्राप्नोति तद्बाधनाय द्वितीयाऽरभ्येत, तदारम्भः शोभते। —पु० रा० वा० प०, 2-200
3. किं तर्हि विशिष्ट क्रियाजनितोऽयं सम्बन्ध इति। सम्बन्धस्य भेदको विशेषकः कर्मप्रवचनीयः। —पु० रा० वा० प०, 2-204
4. इत्येवमपोद्धारप्रसङ्गेन पञ्चधा पदविभागः प्रदर्शितः। —वही, 2-205
5. निरुक्तकारमतानुसारेण च नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षणप्रदर्शनं कृतम्, कर्मप्रवचनीया इति पञ्चमपदजातमिति केचित्प्रतिजानत इति तदपि प्रदर्शितम्॥ —पु० रा० वा० प०, 2-205

सप्तम अध्याय

भर्तृहरि का पदार्थ विवेचन

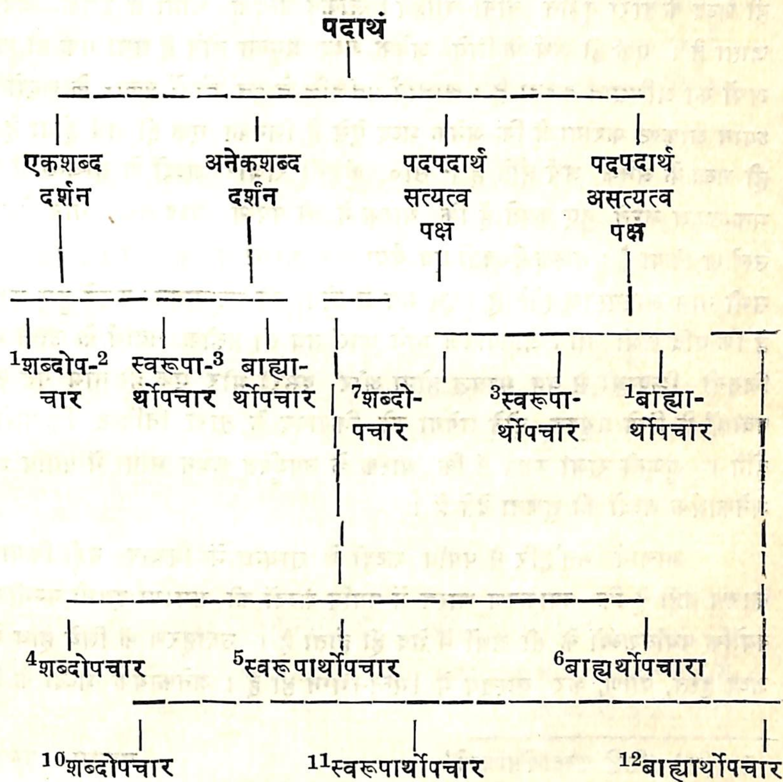
पूर्व अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अखण्डवाक्य पक्ष में वाक्य अखण्ड रूप से ही अर्थ का बोध कराता है। वाक्यों में पदों की कोई सत्ता नहीं है। वे सर्वथा कल्पित होते हैं। उनकी अपोद्धार बुद्धि द्वारा कल्पना मात्र की जाती है।[1] इन अपोद्धार बुद्धि द्वारा कल्पित पदों के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा पूर्व अध्याय में कर दी गई है। जिस प्रकार पदों की कल्पना की जाती है उसी प्रकार वाक्यार्थ में भी पदार्थ कल्पित कर लिये जाते हैं। यहाँ यह बात सर्वाधिक आवश्यक है कि अखण्डवाक्य पक्ष में वाक्यार्थ में पदार्थ की सत्ता नहीं होती। वाक्यार्थ पदार्थों से सर्वथा विलक्षण अखण्ड अर्थ होता है। पदार्थों की कल्पना तो केवल अबुधों को वाक्यार्थ ज्ञान कराने के लिये ही की जाती है। अर्थात् पदार्थ का महत्व केवल इतना ही है कि इनके ज्ञान के बाद अखण्ड वाक्यार्थ का बोध होता है। आचार्य भर्तृहरि ने पदार्थ को अपोद्धार बुद्धि के द्वारा ही स्वीकार किया हैं।[2] पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण शास्त्र सर्वपार्षद है इसी कारण पद पदार्थ को भी स्वीकार किया गया है।[3] अर्थात् वास्तव में पद पदार्थ निरर्थक हैं। व्यवहार के लिये ही आचार्य भर्तृहरि ने प्रतिक्षिप्त पक्ष (पद-पदार्थ) का अंगीकार किया है।[4]

इस प्रकार अपोद्धार बुद्धि द्वारा कल्पित पदार्थों के सम्बन्ध में उनके सत्यत्व पक्ष, असत्यत्व पक्ष, उनके विषय में एक शब्द दर्शन पक्ष, अनेक शब्ददर्शन पक्ष इत्यादि अनेक भेद आचार्य भर्तृहरि ने अपनी कारिकाओं में यत्र तत्र वर्णित किये हैं। पुण्यराज ने पदार्थ के विषय में भर्तृहरि द्वारा यत्र तत्र प्रदर्शित मतों को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करते हुए पदार्थ के विषय में बारह पक्ष गिनाये हैं। यद्यपि वे सभी पक्ष आचार्य

---

1. पदान्यसत्यानि वाक्यमेव सत्यमित्यर्थः। —पु० रा० वा० प०, 2-
2. इदानीमपोद्धारसमाश्रयेणापि पदार्थस्याभ्युपगतत्वात्…। —वही, 2-250
3. यतः सर्वपार्षदमिदं हि व्याकरणशास्त्रं, तत्र चायं स्थित इत्यत्र पुनः पदपदार्था-वङ्गीकरोति। —वही, 2-250
4. प्रतिक्षिप्तमपि पक्षं व्यवहारार्थमङ्गीकरोत्येव टीकाकारः। —वही, 2-250

भर्तृहरि द्वारा ही यत्र तत्र दिये गये हैं परन्तु पुण्यराज ने उन सभी को एक स्थान पर एकत्रित करके व्यवस्था प्रदान की है। निम्नलिखित सूची के द्वारा भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट पदार्थ विषयक बारह पक्ष अधिक स्पष्ट हो जाएँगे।



अर्थात् पदार्थ के असत्यता पक्ष, सत्यता पक्ष, अनेक अर्थों में एक शब्ददर्शन पक्ष तथा अनेक शब्ददर्शन पक्ष, इन चारों को प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि निमित्तक शब्दोपचार एवं दो प्रकार के (स्वरूपार्थोपचार तथा बाह्यार्थोपचार) अर्थोपचार इन तीनों के द्वारा अभिहित मानते हुए कुल बारह पक्ष स्वीकार किये गये हैं।[1]

1. अत्रैकशब्ददर्शनमनेकशब्ददर्शनं चेति द्वौ पक्षौ। तत्रापि पदपदार्थयोः सत्यत्वं पदवादिमतेन, असत्यत्वं च वैयाकरणमतेनेति चत्वारः पक्षाः। तत्रैकशब्ददर्शने शब्दोपचारः प्रसिद्धि-अप्रसिद्धिनिमित्तकः। तत्रैव चार्थोपचारः द्विधा—स्वरूपार्थत्वेन बाह्यार्थत्वेन चेति त्रयः पक्षाः। एवमन्यत्र। तदेवमेतैस्त्रिभिः पक्षैश्चत्वारोऽपि पक्षा अभिहिता द्वादश सम्पद्यन्त इति बोद्धव्यम्। —पु० रा० वा० प०, 2-250

एक शब्द दर्शन तथा अनेक शब्द दर्शन

शब्द एवं अर्थ में नित्य सम्बन्ध मीमांसकों एवं वैयाकरणों दोनों को ही अभीष्ट है।[1] इस सिद्धान्त के आधार पर शब्द का एक ही अर्थ होना चाहिये तथा एक अर्थ ही शब्द के द्वारा गृहीत होना चाहिये। लेकिन प्रत्येक भाषा में इसके विपरीत देखा जाता है। एक ही अर्थ के लिये अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं तथा एक ही शब्द अनेक अर्थों का अभिधान करता है। आचार्य पतंजलि ने इन दोनों प्रकार के शब्दों की तरफ ध्यान आकृष्ट कराया है कि अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका एक ही अर्थ होता है तथा एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।[2] सी० कुंजुनी राजा[3] शब्दों के सम्बन्ध में यास्क का मत उद्धृत करते हुए कहते हैं कि यास्क ने भी पर्याय शब्द तथा नानार्थक शब्द का उल्लेख किया है। यास्क नैरुक्तों एवं वैयाकरण शाकटायन का मत देते हुए कहते हैं कि सभी नाम आख्यातज होते है। इस मत में दोषों की उद्‌भावना करते हुए यास्क कहते हैं कि यदि सभी नाम आख्यातज माने जाएँ तब तो प्रत्येक पदार्थ के उतने नाम होंगे जितनी क्रियाओं से वह सम्बद्ध होगा और दूसरी ओर एक ही नाम पद उन अनेक पदार्थों के लिये प्रयुक्त होने लगेगा जो क्रियापद के द्वारा निर्दिष्ट क्रियाओं से युक्त होंगे।[4] कुंजुनी राजा कहते हैं कि यास्क के उपर्युक्त कथन भाषा में पर्याय शब्दों एवं अनेकार्थक शब्दों की सूचना देते हैं।

आचार्य भर्तृहरि ने पर्याय शब्दों के सम्बन्ध में विचार नहीं किया इसका कारण यही है कि व्याकरण शास्त्र में पर्याय शब्दों की समस्या इतनी गम्भीर नहीं है क्योंकि पर्यायशब्दों के भी अर्थों में भेद ही होता है। उदाहरण के लिये हाथ के पर्याय शब्द हस्त, पाणि, कर वास्तव में भिन्न-भिन्न ही है। अनेकार्थक शब्दों के विषय में

---

1. (क) 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' —महाभा० पस्पशाह्निक

   (ख) औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।

2. बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा इन्द्रः शक्रः पुरुहुतः, पुरुन्दरः।
   एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा अक्षा पादा भाषा इति॥
   —महाभा०, 1।3।1

3. इण्डियन थ्योरीज़ आन होमोफान्स एण्ड होमोनिम्स आड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन वाल्यूम 19

4. नामान्यख्यातजानि इति शाकटायनो, नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।

   अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युः, यः कश्चन तद्धर्म कुर्यात् तत्सर्वं तथा चाक्षीरन्'''अथापि यावद्‌भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्‌भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः।
   —निरुक्त, 1-12

सन्देह होता है कि अनेक अर्थों को प्रदान करने वाला शब्द एक ही है अथवा अलग-अलग अर्थों में शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं ? आचार्य भर्तृहरि ने दोनों ही पक्षों पर विचार किया है।

अनेकार्थक शब्द न केवल संस्कृत में अपितु अन्य भाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। अंग्रेजी भाषा में भी अनेक अर्थों के लिये एक जैसे शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। फ्रान्सीसी भाषा में भी इस प्रकार के शब्द पाये जाते हैं तथा जर्मन में ऐसे शब्द उपलब्ध होते हैं।[1]

भर्तृहरि के एक शब्द दर्शन एवं अनेक शब्ददर्शन पक्षों को पुण्यराज ने विस्तार से स्पष्ट किया है। एकशब्ददर्शन के अर्थ को स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं कि अनेक अर्थों को अभिहित करने पर भी शब्द में भेद नहीं होता अर्थात् गोपिण्ड का अभिधायक गौः शब्द तथा वाहीक का अभिधायक गौः शब्द एक ही है।[2] अनेकशब्ददर्शनपक्ष का अर्थ है भिन्न-भिन्न अर्थों का अभिधान करने पर शब्द भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं। अर्थात् गोपिण्ड का अभिधायक गौः शब्द वाहीक के अभिधायक गौः शब्द से भिन्न है। शब्द भेदवादी कहते हैं कि शब्द एवं अर्थ में अध्यास सम्बन्ध होता है, जो अलग-अलग शब्दों का ही अलग-अलग अर्थों के साथ हो सकता है। एक स्थान पर अध्यास (तादात्म्य) को प्राप्त शब्द अन्य अर्थ के साथ अध्यस्त नहीं हो सकता। अतः गोपिण्ड का वाचक गौः शब्द तथा वाहीक वाचक गौः शब्द भिन्न हैं।[3]

एकशब्द दर्शन तथा अनेकशब्द दर्शन पक्षों को मानने का आधार

पुण्यराज ने एकशब्द दर्शन एवं अनेकशब्द दर्शन पक्षों का आधार महाभाष्य में स्वीकार किया है। यद्यपि महाभाष्य में एकशब्द दर्शन तथा अनेकशब्द दर्शन पक्षों

---

1. सी० कुंजुनी राजा लिखते हैं कि अंग्रेजी में Hair Hare, I eye, Waste Waiste, Straight Strait, right Write, फ्रान्सीसी भाषा में Sans, Cent, Sang एक प्रकार से ही उच्चारित किये जाते हैं। इसी प्रकार जर्मन भाषा में Tos पैर को कहते हैं या फाटक को कहते हैं इसी प्रकार acht का प्रयोग या आठ के लिये या ध्यान देने के लिये होता है। इस प्रकार भिन्न अर्थ होने पर भी एक सा उच्चारण अन्य भाषाओं में भी दिखाई देता है। —उपर्युक्तलेख
2. सर्वेष्वप्यर्थेष्वेक एव गोब्दो वाचकः। —पु० रा० वा० प०, 2-250
3. अर्थभेदाच्छब्दभेदं मन्यन्ते; यतः शब्दार्थयोरिहाध्यासलक्षणः सम्बन्धो। व्यवस्थितः। एकत्र चेदध्यस्तस्तस्मिंस्तेनैवाभेदमापन्नः कथमन्येन सहाध्यासमुपेयादित्यर्थः। तदेवं शब्दभेद एवोपपन्नः। —पु० रा० वा० प०, 2-257

का नामतः निर्देश नहीं किया गया परन्तु अइउण् प्रत्याहार सूत्र की जिस प्रकार से व्याख्या की गई है उससे पुण्यराज ने यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभाष्यकार को एक शब्द दर्शन तथा अनेकशब्द दर्शन दोनों ही पक्ष अभीष्ट थे।[1]

महाभाष्य में अइ उण् प्रत्याहार सूत्र की व्याख्या करते हुये कात्यायन ने अकार के एकत्व एवं अनेकत्व दोनों पक्षों से सम्बन्धित वार्तिक दिये हैं। महाभाष्य के उन वार्तिकों की व्याख्या जिस प्रकार से की है उसमें एकशब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन दोनों पक्षों के बीज उपलब्ध हो जाते हैं।[2]

आचार्य पतंजलि 'तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णग्रहणमनण्वात्' वार्तिक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अक्षर समाम्नाय में, अनुवृत्ति (शास्त्र की लक्ष्य में प्रवृत्ति) में तथा धातु इत्यादि में स्थित अकार एक ही है।[3] इस पर आशंकाओं के रूप में अनेक वार्तिक दिये गये हैं तथा उनके निराकरण के रूप में भी अनेक वार्तिक दिये गये हैं। उन सभी वार्तिकों की व्याख्या करते हुए आचार्य पतंजलि ने एक शब्ददर्शन पक्ष का प्रदर्शन किया है। पुण्यराज ने कुछ ही वार्तिकों का निर्देश किया है।

अकार को एक ही मानने पर आशंका के रूप में पहला वार्तिक जिसका पुण्यराज ने निर्देश किया है वह हैं 'अनुबन्ध सङ्करस्तु'। पुण्यराज ने इस वार्तिक की व्याख्या नहीं की केवल निर्देश किया है।[4] आचार्य पतंजलि उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि यदि अकार एक ही मानें तो कर्मण्यण् तथा आतोऽनुपसर्गे कः इत्यादि सूत्रों में अनुबन्ध सकर

---

1. एवञ्च भेदाभेदस्वभावं दर्शनद्वयं शब्दानां भाष्यकारेण वार्तिकव्याख्यानावसरे दर्शितम्।'
—पु० रा० वा० प०, 2-257

2. तत्र ह्युक्तम्—तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णग्रहणमनण्वात्। अत्रोत्तरम् 'एकत्वादकारस्य सिद्धम् इति। यद्येयं अनुबन्धसङ्करस्तु, एकाजने-काजग्रहणेषु चानुपपत्तिरित्यादीनि चोद्यानि प्राप्नुवन्ति तत्रैवेतानि परिहृतानि, विषयेण तु नानालिङ्गकरणात् सिद्धम्, एकाजनेकाज् ग्रहणेषु चावृत्ति संख्यानादित्येवमेकशब्ददर्शनम् स्थापितम्। अथानेक-शब्ददर्शनमाश्रित्य तत्रैवोक्तम् आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायाद् युगपच्च देश-पृथक्त्वदर्शनादित्येवं भेदाभेदौ शब्देषु व्यवस्थापितौ।
—पु० रा० वा० प०, 2-257

3. एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये, यश्चानुवृत्तौ यश्च धात्वादिस्थः।
—महा भा०, 1।1।2, प्रत्याहाराह्निक 5।वार्तिके।

4. यद्येवमनुबन्धसङ्करस्तु···। —पु० रा० वा० प०, 2-257

हो जाएगा। क: प्रत्यय तथा अण् प्रत्यय में स्थित अकार एक ही मानने पर णित् के परे रहते होने वाले कार्य प्रत्यय परे रहते भी हो जाएंगे।[1]

दूसरा वार्तिक जिसका आशंका के रूप में पुण्यराज ने निर्देश किया है वह है एकाच् के ग्रहण में अनुपपत्ति।[2] इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं कि किरिणा, गिरिणा इत्यादि में यदि एक ही 'इकार' मानें तो एकाच् लक्षण अन्तोदात्त की प्राप्ति होगी जो अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार 'घट' में दो अकारों को एक ही मानें तो दो अज् को मानकर किया जानेवाला ठन् प्रत्यय नहीं हो सकेगा जिससे 'घटिक:' इस अभीष्ट रूप की सिद्धि नहीं हो सकती।[3]

इन दोषों के परिहार के रूप में जो वार्तिक महाभाष्य में दिये गये हैं उनका पुण्यराज ने अपनी टीका में निर्देश किया है तथा कहा है कि इन वार्तिकों की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने एक शब्ददर्शन पक्ष का प्रदर्शन किया है।[4] पहला वार्तिक जिसका निर्देश पुण्यराज ने किया है वह है 'विषयेण तु नानालिङ्गकरणात् सिद्धम्।' इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं कि अलग-अलग विषयों में जो अकार भिन्न-भिन्न प्रकार का किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुबन्धसंकर नहीं होता। अर्थात् कर्मण्यण् तथा आतोऽनुपसर्गे क: सूत्रों में एक ही अकार णित् भी किया गया है तथा कित् भी। इस लिंगकरण से यह सिद्ध होता है कि अनुबन्ध संकर नहीं होता।[5] महाभाष्यकार कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही देवदत्त को कोई जटिलो भव, कोई मुण्डो भव तथा कोई शिखी भव कहता है तथा जिस-जिस लिंग को कहा गया है

---

1. अनुबन्धसङ्करस्तु प्राप्नोति। कर्मण्यण् (3।2।1) आतोऽनुपसर्गे क: (3।2।3) इति केऽपि णित्कृतं प्राप्नोति। —महा भा० 1।1।2 प्रत्याहाराह्निक
2. एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिरित्यादीनि चोद्यानि प्राप्नुवन्ति। —पु० रा० वा० प०, 2-257
3. एकाजनेकाज्लक्षणेषु चानुपपत्तिर्भवति। तत्र को दोष:? किरिणा गिरिणेत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति। इह च घटेन तरति घटिक इति द्व्यज्लक्षणष्ठन् प्राप्नोति। —महा भा०, 1।1।1 प्रत्याहाराह्निक
4. तत्रैवैतानि परिहृतानि, विषयेण तु नानालिङ्गकरणात् सिद्धम्, एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानादित्येवमेकशब्ददर्शनं स्थापितम्।
5. यदयं विषये-विषये नानालिङ्गमकारं करोति—'कर्मण्यण्' 'आतोऽनुपसर्गे क:' इति तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोऽस्ति। यदि हि स्यान्नानालिङ्गकरणमनर्थकं स्यादेकमेवायं सर्वगुणमुच्चारयेत्। महा भा० परस्पशाह्निक अ इ उ ण् प्रत्याहार पर।

उन सभी गुणों वाला एक ही देवदत्त हो जाता है उसी प्रकार एक ही अकार जहाँ जैसा उच्चारित होता है वहाँ वैसा ही गृहीत हो जाता है अतः अनुबन्ध संकर नहीं होता।[1]

दूसरा वार्तिक जिसका निर्देश पुण्यराज ने किया है वह है '-एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानात्'। इस वार्तिक द्वारा एकाच् तथा अनेकाच् के ग्रहण में अनुपपत्ति दोष का परिहार किया गया है। आचार्य पतंजलि इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार वेद में तेरह सामिधेनी ऋचाएं प्रथम तथा अन्तिम ऋचा की आवृत्ति तीन बार करने से सप्तदशत्व को प्राप्त कर लेती हैं उसी प्रकार घट इत्यादि में एक ही अकार में आवृत्ति द्वारा द्वयत्व सिद्ध कर लिया जाता है।[2]

इसी प्रकार प्रत्याहार सूत्र की व्याख्या में अकार के भिन्नत्व को भी स्पष्ट किया गया है। पुण्यराज ने अकार भिन्नत्व को सिद्ध करने वाले दो वार्तिकों का निर्देश अपनी टीका में किया है पहला है 'आन्य-भाव्यं तु कालशब्दव्यवायात्'।[3] इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं कि काल के व्यवधान एवं शब्द के व्यवधान के कारण अकार भी भिन्न सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ 'दण्ड अग्रम्' में दण्ड का अकार तथा अग्रम का अकार काल व्यवधान के कारण भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार 'दण्डः' में दोनों अकारों में णकार तथा डकार का व्यवधान है जिससे यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्रयुक्त अकार भिन्न-भिन्न है।[4]

अकार भिन्नत्व को स्पष्ट करनेवाला दूसरा वार्तिक जिसका निर्देश पुण्यराज

---

1. तद्यथा लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह 'इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखी भवेति। यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थाप्यते। —महा भा०, वही
2. एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तेः संख्यानादनेकाच्त्वं भविष्यति तद्यथा सप्तदश सामिधेन्यो भवन्तीति। त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्यावृत्तितः सप्तदशत्वं भवति। एवमिहापि आवृत्तितोऽनेकाच्त्वं भविष्यति।

—महा० भा० प्रत्याहार अइ उ ण् पर

3. अथानेकशब्ददर्शनमाश्रित्य तत्रैवोक्तम्—आन्यभाव्यं तु कालशब्द व्यवायात्···।

—पु० रा० वा० प०, 2-257

4. आन्यभाव्यं त्वकारस्य। कुतः ? कालशब्दव्यवायात्। कालव्यवायाच्छब्दव्यवायाच्च। कालव्यवायात्—'दण्ड अग्रम'। शब्दव्यवायात् दण्डः। न चैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम्। भवति चेद् भवत्यान्यभाव्यमकारस्य।

—महा० भा० अ इ उण् प्रत्याहार

ने किया है वह है 'युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात्' ।[1] इसको स्पष्ट करते हुए महाभाष्य कार कहते हैं कि 'अकार' एक समय में एक से अधिक स्थानों पर देखा जाता है जैसे अश्वः, अर्कः, अर्थः में । यदि अकार एक ही होता तो वह एक साथ अनेक स्थलों पर दिखाई नहीं देता। देवदत्त एक ही है अतः वह एक साथ स्त्रुघ्न तथा मथुरा दोनों स्थानों में नहीं हो सकता । अकार एक समय में एक से अधिक स्थलों पर देखा जाता है इससे सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्रयुक्त अकार भिन्न-भिन्न है ।[2]

सुब्रह्मण्यम् अय्यर लिखते हैं कि पाणिनि सूत्र सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ में ही एक शब्द दर्शन तथा अनेक शब्ददर्शन दोनों के बीज मिल जाते हैं ।[3]

पुण्यराज कहते हैं कि टीकाकार (भर्तृहरि) ने महाभाष्य के मत के व्याख्यान के लिये ही इन दोनों पक्षों को स्वतन्त्र रूप से दर्शाया है ।[4]

वेदों में एकशब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन

पुण्यराज ने वेदों में भी एक शब्द दर्शन एवं अनेकशब्ददर्शन दोनों का प्रदर्शन किया है । वेदों में एकशब्ददर्शन को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि एक ही मन्त्र अध्यात्म, देवताओं के पूजन के समय तथा यजन के समय अपनी शक्ति के कारण ही बिना किसी प्रकार के संकर के विनियुक्त होता है ।[5] वेदों में अनेक शब्द दर्शन को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि सामिधेनी ऋचाएं वास्तव में तेरह अथवा ग्यारह होती हैं । उनकी प्रथम एवं अन्तिम ऋचा की तीन तीन बार आवृत्ति करके सत्रह अथवा पन्द्रह संख्या बना ली जाती हैं । शब्द भेदवादी उन आवृत्त, ऋचाओं को

---

1. युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनादित्येवम्···। —पु० रा० वा० प०, 2-257

2. युगपच्च देशपृथकत्वदर्शनान्मन्यामहे— आन्यभाव्यमकारस्येति । यदयं युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते—'अश्वः, अर्कः, अर्थः इति । न ह्येको देवदत्तो स्त्रुघ्ने च भवति मथुरायां च । —महा भा०, अ इ उ ण् प्रत्याहार वार्तिके 12

3. भर्तृहरि आन प्राईमरी एण्ड सैकण्ड्री मीनिंग्स आफ वर्ड्स्' (इण्डियन लिंग्विस्टिक्स वाल्यूम 29)

4. तद्व्याख्यानायैव च टीकाकारः स्वतन्त्रपक्षद्वयदर्शनं करोतीति बोद्धव्यम् । —पु० रा० वा० प०, 2-257

5. तथा चैक एव मन्त्रः आत्मन्यपि जपावसरे देवेष्वपि, क्रतौ यजनसमयेऽपि विनियुज्यते, भिन्नशक्तित्वादसाङ्कर्येण प्रतिनियतार्थतया व्यवस्थितिं लभते इत्यर्थः । —पु० रा० वा० प०, 2-254

प्रथम तथा अन्तिम ऋचाओं से सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं।[1] यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि भर्तृहरि एवं पुण्यराज दोनों ही सामिधेनी ऋचाओं की आवृत्ति को शब्दभेद पक्ष में उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार प्रथम एवं अन्तिम ऋचाएं जब तीन-तीन बार आवृत्त होती है तब वे एक ही नहीं होती अपितु भिन्न-भिन्न ही होती हैं। इसके विपरीत महाभाष्याकार ने आवृत्त सामिधेनी ऋचाओं को एकशब्द दर्शन पक्ष के अनुसार उद्धृत किया है और कहा है कि आवृत्त ऋचाएं प्रथम एवं अन्तिम ऋचा से भिन्न नहीं हैं (इसका स्पष्टीकरण पहले कर दिया गया है)[2]

मन्त्रों में विनियोग के कारण शब्दभेदवादी भेद को ही स्वीकार करते हैं। इसका उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जिस प्रकार 'देवीरापः शुद्धाः' इस मन्त्र से ऊह द्वारा प्राप्त 'देव आज्यं शुद्धम्' मन्त्र ऊह्य मन्त्र से सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार विनियुक्त मन्त्र भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं।[3] पुण्यराज कहते हैं कि शब्दभेदवादी संस्कारदिविनियोगभेद के कारण मन्त्र में भी भेद मानते हैं। उनके अनुसार उनमें एकत्व का व्यवहार सारूप्य के कारण होता है।[4] इस कारण पुण्यराज ने अपनी टीका में वेदों में भी एकशब्ददर्शन एवं अनेकशब्ददर्शन पक्षों को प्रदर्शित किया है।

अखण्ड वाक्यवादियों के अनुसार एकशब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि वैयाकरण तो अखण्डवाक्यवादी हैं। उनके अनुसार तो वाक्य ही सत्य है, पदों का पृथक् अर्थ नहीं है तो फिर उनके अनुसार शब्दों के सम्बन्ध में एकत्व पक्ष तथा अनेकत्व पक्ष कैसे सम्भव है। पुण्यराज इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि पदों के सम्बन्ध में यह जो एकशब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन पक्षों का विचार किया गया है वास्तव में वे

---

1. त्रयोदशैकादश वा समिन्धनार्था ऋचः सामिधेन्यः तत्र त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमामन्वाह। एवं चावृत्या सप्तदश पंचदश वा सामिधेन्यो भवन्तीति स्थितम्। तत्रावृत्तं सामिधेन्यन्तरमेव विभिन्नस्वरूपमनुषक्तं बोद्धव्यम्। तत्वे (नैं) कैवासौ पुनरावृत्तेति शब्दभेदवादिनः। —पु० रा० वा० प० 2-258
2. पृष्ठ 256 'एक शब्द दर्शन अनेकशब्ददर्शन पक्षों को मानने का आधार'
3. विनियोगेनाभ्युपयोगादिनोपलक्षिता अपि मन्त्राः भिन्ना एव बोद्धव्याः। यथा आह—देवीरापः शुद्धाः इत्यस्मादन्यः एव स्तुत्यर्थवादोऽभ्यूह्यते देव आज्यं शुद्धमित्यादि। एवमूहमन्त्राणामन्यत्वमेव। —पु० रा० वा० प०, 2-258
4. तस्मान्मन्त्रेषु संस्कारादिविनियोगभेदात् पाठोपलक्षितानां चाभिन्नानामेव प्रतीतिः स्वरूपार्थत्वाद्वा भिन्नानामेषां भेद एव मन्तव्यः इति। सारूप्यात्त्वेकत्वव्यवहारस्त्र बोद्धव्यः। —वही, 2-261

वाक्य के अवयव रूप पद नहीं है अपितु 'अस्ति' क्रिया के द्वारा वाचकत्व को प्राप्त करने वाले एक पद रूप वाक्य ही हैं। वाक्यवादी वाक्य में प्रयुक्त अलग-अलग पदों के अर्थ को स्वीकार नहीं करते। अतः वाक्यवादियों के अनुसार 'घटादि' जिनके विषय में इन दोनों पक्षों का विचार किया जाता है वे वाक्य ही है।[1] इस प्रकार अखण्डवाक्य पक्ष में भी एकशब्द दर्शन एवं अनेकशब्ददर्शन दोनों पक्षों की सिद्धि हो जाती है।

सी० कुंजुनी राजा लिखते हैं कि आचार्य भर्तृहरि ने अनेकशब्ददर्शन पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुण्यराज ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आचार्य भर्तृहरि ने महाभाष्य में विवेचित इन दोनों ही पक्षों के व्याख्यान के लिये स्वतन्त्र रूप से इन दोनों ही पक्षों का प्रदर्शन किया हैं।[2] सी० कुंजुनी राजा अनेकशब्द-दर्शन पक्ष को ही अधिक उचित स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं कि यह सम्भव है कि दो या दो से अधिक अलग-अलग शब्द एक ही धातु से अलग-अलग उपसर्ग अथवा प्रत्यय लगकर बनने पर एक समान रूप वाले हैं। उदाहरण के लिये उन्होंने 'समानम्' शब्द दिया है। समान शब्द 'अन' (साँस लेना) धातु से सम उपसर्ग लगकर बनता है जिसका अर्थ है 'समानवायु' इसी प्रकार सम से भी समान बनता है जिसका अर्थ बराबर होता है। मान से स उपसर्ग लगने पर भी समान रूप ही बनता है जिसका अर्थ है समान मान वाला। इस प्रकार एक ही रूपवाले तीन अलग-अलग समान शब्द हैं। सुतप शब्द भी सु+तप तथा सुत+प दो प्रकार से बनता है प्रथम अवस्था में सुतप का अर्थ है कठिन तप करने वाला तथा दूसरी अवस्था में सोमरस पीने वाला है। सी० कुंजुनी राजा लिखते हैं कि धातु पाठ में भी यद्यपि धातुओं का एक रूप है परन्तु उनका अर्थ भिन्न-भिन्न है। पा (पाने) धातु पा (रक्षणे) से पृथक् ही है। इस प्रकार उसके रूप समान होने पर शब्दभेद ही अधिक अभिप्रेत है। सी० कुंजुनी राजा यास्क के मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उनका यह सिद्धान्त था कि जब अर्थभेद होता है तब शब्दभेद भी होता है। वृक शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए यास्क कहते हैं कि वृक शब्द जिसका अर्थ चन्द्र है वह वि+वृ, वि+क्रु तथा वि+क्रम से बना है। जब वृक का सूर्य अर्थ होता है तब वृज से बनता है तथा जब कुत्ता अर्थ होता है तब

1. योऽयमत्र विमर्शो विचारः कामं स पदे तदेकपदरूपमेव वाक्यं वाचकं तत्रोपपन्नः। कीदृशं तत्पदरूपं वाक्यमित्याह—अस्तित्वोपनिबन्धनमिति अस्तित्वमस्तिक्रिया-वाक्यत्वे वाचकत्वे उपनिबन्धनं यस्य। —पु० रा० वा० प०, 2-408

2. तद्व्याख्यानायैव च टीकाकारः स्वतन्त्रपक्षद्वयदर्शनं करोतीति बोद्धव्यम्। —वही, 2-261

वि+क्रन्थ से बनता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यास्क अर्थभेद होने पर शब्द में भी भेद मानते थे चाहे उसमें रूप सादृश्य क्यों न हो। कुंजुनीराजा नैयायिकों के मत को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि नैयायिकों को एकशब्ददर्शन पक्ष अभीष्ट था। क्योंकि उनके अनुसार शब्द चार रूपों में विभक्त होते हैं—रूढ़, यौगिक, यौगिकरूढ़ तथा रूढ़यौगिक अर्थात् नैयायिक एक ही शब्द का रूढ़ अर्थ तथा यौगिक इत्यादि अर्थ मानते हैं। उदाहरणतया एक ही उद्‌भिद् शब्द यौगिक अर्थ में 'वृक्ष' के लिये प्रयुक्त होता है तथा उसका रूढ़ अर्थ यज्ञ का नाम है।

पुण्यराज किसी एक पक्ष को अधिक महत्व न देकर दोनों ही पक्षों पर समान रूप से विचार करते हैं।

पदपदार्थ सत्यत्वपक्ष एवं असत्यत्वपक्ष

पुण्यराज कहते हैं कि पदवादियों के मत में पदपदार्थ सत्य है तथा वैयाकरणों के मत में असत्य हैं। पदवादियों के अन्तर्गत उन सभी के मतों का समावेश हो जाता है जिनमें वाक्यार्थ ज्ञान के लिए पदों के अर्थ को सत्य माना जाता है। इनमें से मुख्य रूप से मीमांसकों, नैयायिकों एवं वार्तिककार कात्यायन के मत समाविष्ट होते हैं।[1] क्योंकि इनके मतों के अनुसार पद ही किसी न किसी रूप में वाक्यार्थ ज्ञान कराते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य पाणिनि, पतंजलि एवं भर्तृहरि इन वैयाकरणों को पद-पदार्थ असत्यत्व पक्ष अभीष्ट है। पुण्यराज ने इन तीनों को ही अखण्डवाक्य पक्ष अभीष्ट माना है।[2] इनके अनुसार वाक्यार्थ बोध में पदों का अर्थ कोई महत्व नहीं रखता, अलग-अलग पदों के द्वारा कोई पूर्ण ज्ञान नहीं होता। पूरा वाक्य ही अर्थ बोध कराता है। पदविभाग की कल्पना केवल अबुधबोधन के लिए की जाती है।[3]

शब्दोपचार एवं अर्थोपचार (स्वरूपार्थोपचार तथा बाह्यार्थोपचार)

एक से अधिक अर्थों में शब्द के प्रयोग को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि इन अर्थों में शब्द का प्रयोग प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि निमित्तक होता है। एक से अधिक अर्थ प्रदान करने पर पदों के कुछ अर्थ मुख्य होते हैं कुछ गौण होते हैं।[4] मुख्य एवं गौण

---

1. इन सब वाक्यलक्षणों के विवेचन के लिए देखिए द्वितीय अध्याय 'भर्तृहरि का वाक्यविवेचन।'
2. इन तीनों के मतों का विवेचन द्वितीय अध्याय में विस्तार से किया गया है।
3. तस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम्।
   तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पितः इति। —पु० रा० वा० प०, 2-57
4. इसका विवेचन आगे किया जाएगा।
   गोजातीये सातिशया गोशब्दस्य प्रसिद्धि वाहीके त्वीषदिति तस्मात् प्रसिद्धि-अप्रसिद्धिकृतो गौणमुख्यभावः। —पु० रा० वा० पा०, 2-253

अर्थ में शब्द का उपचार प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के कारण ही होता है। गौ शब्द गो पिण्ड अर्थ में अधिक प्रसिद्ध है अतः गोपिण्ड अर्थ गो शब्दका मुख्य अर्थ है जब कि वाहीक अर्थ में गो शब्द का प्रयोग कम प्रसिद्ध है अतः इस अर्थ में गौ शब्द का गौण प्रयोग है।[1] इस प्रकार एकशब्ददर्शन पक्ष में शब्दोपचार प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि निमित्तक होता है।

अनेकशब्ददर्शन पक्ष में भी प्रसिद्धि अप्रसिद्धि-निमित्तक शब्दोपचार, माना जाता है। अनेकशब्ददर्शन पक्ष में मुख्य अर्थ अन्य होता है गौण अर्थ अन्य होता है अर्थात् अनेकशब्ददर्शन पक्ष में एक ही शब्द के गौण मुख्य अर्थ नहीं होते अपितु गौण अर्थ में भिन्न शब्द होता है तथा मुख्य में भिन्न होता है।[2] पुण्यराज कहते हैं कि अनेक शब्द-दर्शन पक्ष में यद्यपि अलग-अलग अर्थों में शब्दभेद होता है परन्तु सारूप्य के कारण उनमें एकत्व की प्रतीति होने लग जाती है। एक बार एकत्व का भ्रम हो जाने पर एकशब्ददर्शन वाली स्थिति उत्पन्न हो जाती है उस अवस्था में भी अधिक प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ में शब्द का उपचार तथा कम प्रसिद्धि के कारण गौण अर्थ में शब्दो-पचार, इस प्रकार की व्यवस्था हो जाती है।[3]

एकशब्ददर्शन पक्ष में एक ही शब्द की प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के कारण गौण मुख्य अर्थों में उपचार मानने पर पुण्यराज पूर्वपक्ष के रूप में एक शंका की उद्भावना करते हैं कि एक ही शब्द कभी गोपिण्ड अर्थ को तथा कभी वाहीक अर्थ को अभिहित करता हुआ स्वीकार करें तो शब्दार्थसम्बन्ध में अनित्यता दोष उत्पन्न हो जाएगा। जिससे वैया-करणों का 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा।[4] इस शंका का निवा-रण पुण्यराज अर्थोपचार का आश्रय लेकर करते हैं। शब्दों का अर्थ दो प्रकार का होता है—'स्वरूपार्थ तथा बाह्यार्थ।[5] पुण्यराज कहते हैं कि शब्दों का अर्थ उनका स्वरूप मानने पर गोपिण्ड तथा वाहीक दोनों अर्थों में ही शब्द का स्वरूप विद्यमान रहता हैं। अर्थात् गोपिण्ड में भी गकार औकार तथा विसर्जनीय रूप स्वरूपार्थ विद्यमान रहता है

---

1. तदेवमनेकशब्ददर्शनेऽर्थभेदाच्छब्दभेदे गौणोऽर्थोऽन्यः मुख्यश्चान्य एव। —वही,
2. सारूप्यादभेदे मुख्यार्थस्य प्रसिद्धत्वात् तद्वाचक उपचर्यत इव। —वही, 2-251
3. "एतस्मिंश्च शब्दोपचारे शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वं स्यादित्याशङ्क्यार्थोपचार-माश्रित्याह···।" —पु० रा० वा० प०, 2-255
4. अर्थः शब्दस्य द्विविधः स्वरूपं बाह्यश्च। —वही, 255
5. "शब्दानां स्वरूपमेव सर्वत्र वाच्यम्, तदु गोजातीये कदाचिदनुषज्यते, कदाचिद्वाहीके इत्यनित्यत्वं नास्ति शब्दार्थसम्बन्धस्य। —वही, 2-256

तथा वाहीक मे भी रहता है । अतः शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त उनका स्वरूप मानने पर शब्द का स्वरूप ही सर्वत्र वाच्य होता है । वह स्वरूप कभी गोजातीय में अनुषक्त होता है तो कभी वाहीक में। अतः स्वरूप में अर्थोपचार मानने पर शब्दार्थ-सम्बन्ध में अनित्यता दोष परिहृत हो जाता है ।[1] सुब्रह्मण्यम अय्यर अपने लेख में कहते हैं किन केवल शब्दों का अपितु वाक्य का भी बाह्यार्थ ग्रहण से पूर्व स्वरूप का श्रवण आवश्यक होता है अन्यथा वाक्यार्थावगति नहीं हो सकती ।[2]

बाह्यार्थ पदार्थ मानने पर गो शब्द के द्वारा अभिहित 'गोत्व' (बाह्यार्थ) मुख्य एवं गौण दोनों अर्थों में विद्यमान रहता है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ तक गो पिण्ड का सम्बन्ध है उसमें गोत्व मुख्य होता है जबकि वाहीक में गोत्व उपचरित होता है। इस प्रकार बाह्यार्थ (गोत्वादि) प्रत्येक अर्थ में विद्यमान रहता है अतः शब्दार्थ सम्बन्ध में अनित्यता दोष नहीं आता ।[3] इस प्रकार पुण्यराज ने शब्दार्थसम्बन्ध अनित्यत्व का परिहार शब्दोपचार एवं अर्थोपचार द्वारा किया है ।

पुण्यराज कहते हैं कि एकशब्ददर्शन पक्ष में ही अर्थोपचार मानने की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि एक शब्ददर्शन पक्ष में ही एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। अनेक शब्ददर्शन पक्ष में अर्थोपचार मानने की आवश्यकता इसलिए नहीं होती क्योंकि अनेकशब्ददर्शन पक्ष में अलग-अलग अर्थों में अलग शब्द ही माना जाता है जिससे शब्दार्थ सम्बन्ध में अनित्यता दोष नहीं आता। आचार्य भर्तृहरि ने तत्र-तत्र शब्दोपचार तथा अर्थोपचार की व्याख्या इसीलिए की है ।[4]

मुख्य एवं गौण पदार्थ का विवेचन

शब्द के द्वारा एक से अधिक अर्थ अवगत होते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि

---

1. भर्तृहरि आन प्राईमरी एण्ड सेकेण्ड्री मीनिंग्स् आफ वर्ड्स ।
—इण्डियन लिंग्विस्टिक्स, वाल्यूम 29)

2. तत्र निमित्ताज्जाड्यादेर्गोत्वं वाहीकेऽप्यनुषज्यते, शब्दस्तु गोत्वमेवाभिधत्ते इति बाह्यार्थोपचारः। इयांस्तु विशेषः गौरित्यत्र मुख्यमेव गोत्वं गौर्वाहीक इत्यत्र तूपचरितं तदेव वाच्यमिति । —पु० रा०, 2-255

3. शब्दोपचार एव तत्र कल्पयितुं शक्यः, नत्वेकशब्ददर्शन इव शब्दसम्बन्धस्यानित्यत्वादुपचारोऽर्थस्याश्रीयते । अत एवाभिप्रायवता टीकाकृता तत्र तत्र शब्दोपचारार्थोपचारौ व्याख्यातौ । —पु० रा० वा० प०, 2-261

4. गोजातीये सातिशया गोशब्दस्य प्रसिद्धिः वाहीके त्वीषदिति तस्मात् प्रसिद्धि अप्रसिद्धिकृतो गौणमुख्यभावः । —पु० रा० वा० प०, 2-251

क्या उन अर्थों के स्तर में कोई भेद है अथवा सभी अर्थों का समान स्तर है। इसे स्पष्ट करने के लिए पुण्यराज ने पदार्थों में गौण एवं मुख्य अर्थों का विभाजन किया है।

मुख्य अर्थ को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि मुख्य अर्थ उसे कहते हैं जिसमें शब्द अधिक प्रसिद्ध होता है। गोपिण्ड अर्थ में 'गौः' शब्द अधिक प्रसिद्ध है अतः वह अर्थ मुख्य अर्थ है जबकि वाहीक में 'गौः' शब्द की अधिक प्रसिद्धि नहीं है अतः वाहीक अर्थ में 'गौः' शब्द का गौण प्रयोग हुआ है।[1] आचार्य भर्तृहरि ने एक कारिका में अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि अर्थप्रकरणादि के बिना, शब्द के उच्चारण करते ही जो अर्थ गृहीत होता है वह प्रसिद्ध तथा रूपमात्र निबन्धन अर्थ मुख्य अर्थ कहलाता है।[2] पुण्यराज ने इस कारिका को संग्रहकारकृत बताया है।[3] पुण्यराज ने कहा है कि इस कारिका में मुख्य अर्थ का लक्षण बताया गया है।

गौणार्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जो अर्थ अन्य शब्द के प्रयोग द्वारा प्रयत्न से गृहीत होता है वह गौण अर्थ कहलाता है तथा वह अप्रसिद्ध होता है।[4] पुण्यराज इस कारिका में प्रयुक्त 'यत्नादिव' शब्द को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अर्थप्रकरणादि रूप प्रयत्न के द्वारा प्राप्त अर्थ गौण होता है।[5]

एक अन्य प्रकार से गौण मुख्य अर्थ को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि मुख्य अर्थ (गौण अर्थ का) निमित्त होता है तथा गौण अर्थ निमित्ती होता है। अर्थात् वाहीक अर्थ में वर्तमान गौः शब्द सास्नादियुक्त गोपिण्ड अर्थ में वर्तमान गौः शब्द के अर्थ (जाड्यादि) को निमित्त रूप में अवलम्बित करता है।[6] दूसरे शब्दों में शब्द जिस

---

1. शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनम्। —वा०, प०, 2-265
2. एतदेव संग्रहकारोक्तश्लोकप्रदर्शनेन संवादयितुमाह एतन्मुख्यार्थलक्षणम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-265
3. यस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनम्॥ —वा० प०, 2-266
4. यत्नादिव। अर्थप्रकरणादेरित्यर्थः। —पु० रा० वा० प०, 2-266
5. यो वाहीके प्रवर्तमानः स्वार्थे सास्नादिमति वर्तमानस्य गोशब्दसंबन्धिनमर्थं निमित्तत्वेनावलम्बते तत्र विषये मुख्योऽर्थो निमित्तः स्यात् गौणस्तु निमित्तीत्युच्यते।
—पु० रा० वा० प०, 2-267
6. एतदुक्तं भवति—यत्रास्खलद्गतिशब्दस्तत्र मुख्योऽर्थः, स्खलद्गतित्वे तु गौणार्थतेति बोद्धव्यम्। —वही, 2-267

अर्थ में अस्खलद्गति वाला होता है वह अर्थ मुख्य तथा जिस अर्थ में स्खलद्गति वाला होता है वह गौण अर्थ कहलाता है।[1]

आचार्य वी० ए० रामस्वामी शास्त्री अपने लेख में मुख्य शब्द के दो अर्थों के आधार पर मुख्यार्थ को स्पष्ट करते हैं। मुख्य शब्द का एक अर्थ 'प्रथम' तथा दूसरा अर्थ महत्वपूर्ण होता है। इस आधार पर मुख्य अर्थ वह है जो उच्चारण करने पर सर्वप्रथम प्राप्त होता है। सर्वप्रथम प्राप्त होनेवाला अर्थ महत्वपूर्ण होता है इसलिए वह मुख्य कहलाता है।[2]

अखण्डवाक्य पक्ष में गौण मुख्य विभाग

अखण्डवाक्य पक्ष में तो वाक्यार्थ ज्ञान में पदों का अर्थ ही नहीं होता फिर अर्थों के सम्बन्ध में गौण मुख्य विभाजन कैसे सम्भव है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अखण्डवाक्य पक्ष में भी अपोद्धार बुद्धि के द्वारा पदों की कल्पना करके उनके अर्थों में गौण मुख्य विभाग मान लिया जाता है।[3]

मुख्य एवं गौण अर्थ के प्रयोजक निमित्तों का विवेचन

पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा विवेचित मुख्य एवं गौण अर्थों के विधायक निमित्तों का विवेचन अपनी टीका में किया है। उन्होंने भर्तृहरि द्वारा दिये गये उदाहरणों की विस्तृत व्याख्या की है तथा स्वयं अपने उदाहरणों द्वारा भी उन निमित्तों को स्पष्ट किया है।

मुख्य एवं गौण अर्थ के विधायक निमित्त सात माने गये हैं—

(1) अर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधान।

(2) प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि सहित अर्थ प्रकरणादि।

(3) अर्थप्रकरणादि सहित प्रसिद्धि अप्रसिद्धि।

(4) न्यूनाधिक भाव।

(5) सादृश्य।

---

1. मुख्य और गौण वर्ड्स् इन लेंग्वेज़ (बुलेटिन, डेकन कालिज रिसर्च इन्स्टीट्यूट वाल्यूम 14)

2. अपोद्धारसमाश्रयणेन पदपदार्थप्रविभागमुपकल्प्य प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिनिमित्तको गौणमुख्यविभागोऽभ्युपगन्तव्यः। —पु० रा० वा० प०, 2-269

4. तदेवमर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधानमात्र प्रसिद्धिअप्रसिद्धिसहितं चार्थप्रकरणादिकमर्थप्रकरणादिसमुच्चयेनाङ्गाङ्गिभावेन चेति द्वौ पक्षौ। न्यूनाधिकभावः सादृश्यं विपर्यासो रूपशक्तिरिति सप्त पक्षाः। —पु० रा० वा० प०, 2-278

(6) विपर्यास ।

(7) रूपशक्ति ।[1]

आचार्य भर्तृहरि ने अर्थप्रकरण, शब्दान्तरसन्निधान, सादृश्य एवं रूपविपर्यास रूप निमित्तों का खण्डन किया है इसलिये पुण्यराज यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रसिद्धि अप्रसिद्धि सहित अर्थप्रकरणादि, अर्थप्रकरणादि सहित प्रसिद्धिअप्रसिद्धि (अध्यारोप लक्षण) विपर्यास तथा रूपशक्ति ये चार ही मुख्य एवं गौण अर्थों के प्रयोजक होते हैं ।[2]

(1) अर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधान

केवल अर्थ प्रकरण एवं शब्दान्तरसन्निधान ही शब्दों के गौण एवं मुख्य विभाग के हेतु नहीं हो सकते । भर्तृहरि उदाहरण देते हैं कि पुरा एवं आरात् शब्दों के दो-दो विरुद्ध अर्थ होते हैं और दोनों ही अर्थप्रकरणादि द्वारा अवगत होते हैं ।[3] अर्थात् पुरा शब्द भावि एवं भूत दो अर्थों का अभिधान करता है तथा आरात् शब्द दूर एवं अन्तिक इन दो अर्थों को अभिहित करता है । इन दोनों अर्थों में से पुरा एवं आरात् शब्दों का किस स्थल पर कौन-सा अर्थ होना चाहिये इसका निर्णय अर्थ प्रकरणादि द्वारा ज्ञात होने पर भी ये दोनों अर्थ मुख्य अर्थ ही कहलाते हैं । यदि अर्थप्रकरणादि द्वारा विदित अर्थ गौण मुख्य के विधायक होते तो यहाँ भी गौणमुख्यभाव होना चाहिये था लेकिन यह अभीष्ट नहीं है । इसलिये केवल अर्थप्रकरणादि गौण मुख्य के प्रयोजक नहीं है ।[4]

(2) अर्थप्रकरणादि सहित प्रसिद्धिअप्रसिद्धि

(3) प्रसिद्धि अप्रसिद्धि सहित अर्थप्रकरणादि

शुद्ध अर्थप्रकरणादि को गौण मुख्य विभाग का हेतु नहीं माना गया । अर्थ

---

1. पारिशेष्यात् प्रसिद्धियप्रसिद्धिसहिता प्रकरणादयः प्रकरणादिसहिते वा प्रसिद्धय-प्रसिद्धी विपर्यासोऽध्यारोपलक्षणो, रूपशक्तिरिति चत्वारः प्रकाराः गौणमुख्ययो-र्निमित्तत्वेन परिगृहीताः । —पु० रा० वा० प०, 2-278

2. पुराराददिति भिन्नेऽर्थे यौ वर्तेते विरोधिनि ।
अर्थप्रकरणापेक्षं तयोरप्यवधारणम् ।। —वा० प०, 2-268

3. पुराराच्छब्दौ भाविदूरान्तिकलक्षणेषु यथायोगं परस्परविरुद्धेष्वर्थेषु वर्तेते, तत्रैत-योरर्थप्रकरणादिनार्थनिर्णयः । ततश्चात्रापि गौणमुख्यभावः स्यात्, न चैतदिष्टम्ः अनयोरुभयत्रादि (मुख्यार्थं) त्वमिष्यत इत्यतोऽर्थप्रकरणादीन् केवलान् गौणमुख्य-भावो न प्रयोजयतीति बोद्धव्यम् । —पु० रा० वा० प०, 2-268

4. नैवाधिकत्वं धर्माणां न्यूनता वा प्रयोजिका ।
आधिक्यमपि मन्यन्ते प्रसिद्धेर्न्यूनतां क्वचित ।। —वा० प०, 2-272

प्रकरण के साथ प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि का होना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थप्रकरणादि द्वारा अर्थ का निर्णय हो जाने पर प्रसिद्धिअप्रसिद्धि ही उसके गौण मुख्य रूप को निश्चित करती है। यदि अर्थ-प्रकरणादि द्वारा निश्चित अर्थ अधिक प्रसिद्ध है तो वह मुख्य होता है तथा कम प्रसिद्ध है तो गौण होता है। पुरा शब्द का प्रकरणादि के द्वारा निश्चित भावि अर्थ तथा भूत अर्थ दोनों ही अधिक प्रसिद्ध है अतः दोनों ही मुख्य अर्थ हैं अतः प्रसिद्धि अप्रसिद्धि के साथ ही अर्थप्रकरणादि गौण मुख्य भाव को निश्चित करते हैं। इसी प्रकार केवल प्रसिद्धि अप्रसिद्धि भी गौण मुख्य के प्रयोजक नहीं होते क्योंकि जब तक अर्थप्रकरणादि द्वारा यह निश्चय नहीं हो जाता कि अमुक स्थल पर शब्द का कौन-सा अर्थ होना चाहिये तब तक यह विदित नहीं हो सकता कि वह अर्थ प्रसिद्ध है अथवा अप्रसिद्ध। इस प्रकार प्रसिद्धि अप्रसिद्धि सहित प्रकरणादि तथा प्रकरणादि सहित प्रसिद्धि अप्रसिद्धि गौण मुख्य भाव के प्रयोजक हैं।

(4) न्यूनाधिकभाव

न्यूनाधिकभाव को आचार्य भर्तृहरि गौण एवं मुख्य अर्थों के प्रयोजक हेतु के रूप में नहीं स्वीकार करते। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि धर्मों की न्यूनता अथवा आधिक्य गौणमुख्य विभाग का प्रयोजन नहीं है। क्योंकि कहीं पर प्रसिद्धि के कारण धर्मों का आधिक्य भी अपकर्ष माना जाता है।[1] अर्थात् यदि जाड्यादि का अपकर्ष गौण का प्रयोजक तथा आधिक्य मुख्य अर्थ का प्रयोजक मानें तो वाहीक में जाड्यादि का गो पिण्ड की अपेक्षा आधिक्य होता है परन्तु फिर भी वह मुख्य अर्थ नहीं होता। अतः न्यूनाधिकभाव में व्यवस्था नहीं है अर्थात् गुणों की न्यूनता गौण अर्थ का हेतु है तथा आधिक्य मुख्य अर्थ का हेतु है, इस प्रकार की व्यवस्था नियत नहीं है अतः न्यूनाधिकभाव गौण मुख्य विभाग का हेतु नहीं है।[2]

(5) सादृश्य

सादृश्य के द्वारा शब्दों के गौण मुख्य विभाग को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जिनका प्रवृत्ति निमित्त जाति है ऐसे गवादि शब्द गोत्वादि जाति के बिना भी गवादि व्यक्ति के जाड्यादि के सादृश्य के कारण वाहीकादि में प्रयुक्त

---

1. न्यूनाधिकभाव एव गौणमुख्यविभागकारणं कैश्चिदभ्युपगतम्। आपेक्षिकत्वादस्या-व्यवस्थितत्वमेवेति न तेन गौणमुख्यव्यवहारः कल्पयितुं शक्यः।

—पु० रा० वा० प०, 2-272

2. जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते।
सम्बन्धिसादृश्याद्धर्मात् तं गौणमपरे विदुः॥ —वा० प०, 2-273

हो जाते हैं तथा उन अर्थों में गौण होते हैं। पुण्यराज सादृश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गो शब्द गोत्वजाति के बिना भी गो व्यक्ति के गुणों के सादृश्य के कारण वाहीक में भी प्रयुक्त हो जाता है। अतः सादृश्य भी गौणमुख्य भाव का निमित्त होता है।[1] आचार्य भर्तृहरि ने 'अपरे' शब्द का कारिका में प्रयोग करके यह तो स्पष्ट कर दिया कि यह मत उनका नहीं दूसरे आचार्यों का है परन्तु उन्होंने इस मत का खण्डन नहीं किया। पुण्यराज ने अपनी टीका में इस मत का खण्डन किया है। पुण्यराज कहते हैं कि 'काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः' जैसे स्थलों में सादृश्य निमित्त तो है परन्तु गौणार्थता नहीं है। अतः सर्वत्र सादृश्य को गौण मुख्य भाव का निमित्त नहीं माना जा सकता।[2]

(6) विपर्यास

विपर्यास के द्वारा गौण मुख्य विभाग को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि वाहीक लक्षण अर्थ में गोरूपता विपर्यास के द्वारा होती है। इस अवस्था में वाहीक अर्थ का वाचक गौः शब्द गौण अर्थ में प्रयुक्त होता है। विपर्यास दो प्रकार का होता है अध्यवसाय तथा अध्यारोप। 'रजतमिदम्' उदाहरण में अध्यवसाय लक्षण विपर्यास है क्योंकि यहाँ शुक्ति एवं रजत दोनों की एक ही प्रतीति होती होती है। गौर्वाहीकः में वाहीक में गौः शब्द का अध्यारोप है क्योंकि यहाँ अध्यारोप्य गोपिण्ड के गुणों का वाहीक में आरोप हुआ है।[3] जहाँ तद्भाव अध्यवसाय हो उस अध्यवसाय लक्षण विपर्यास रूप निमित्त के द्वारा गौण मुख्यविभाग नहीं हो सकता।[4] क्योंकि उस अवस्था में दोनों में अभेद हो जाता है, केवल अध्यारोपलक्षण विपर्यास को ही गौणमुख्य विभाग का निमित्त माना जा सकता है।

(7) रूपशक्ति

रूप शक्ति के आधार पर[5] गौणमुख्य व्यवहार को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज

---

1. गोशब्दो गोत्वजातिं विनापि स्वव्यक्तिगतगुणसादृश्याद् वाहीके प्रयुज्यत इति सादृश्यं गौणमुख्यभावे निमित्तम्। —पु० रा० वा० प०, 2-273
2. सादृश्यस्यापि काश्यपप्रतिकृतिः काश्यप इत्यादौ निमित्तप्रयुक्तेऽपि गौणत्वासद्भावादनिमित्ततैव। —पु० रा० वा० प०, 2-278
3. रजतमिदमित्यत्र विपर्ययाध्यवसायः एव। इह त्वध्यारोप्यगोगतान्, गुणान् वाहीकेऽध्यवस्यतीत्यध्यारोपिततद्भावोऽयं विपर्यासः। —वही, 2-274
4. तस्मादध्यवसिततद्भावनिमित्तप्रयुक्तो नास्ति गौणमुख्यव्यवहार इति। —पु० रा० वा० प०, 2-274
5. अथ रूपशक्तिनिमित्तको गौणमुख्यव्यवहार इति। —वही, 2-275

कहते हैं कि शब्दों के रूप एवं शक्ति के आधार पर भी गौण मुख्य विभाग होते हैं। पण्डित रामसुरेश त्रिपाठी कहते हैं कि मीमांसकों का 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' वचन भी यही सिद्ध करता है कि शब्द में स्वाभाविक शक्ति निहित होती है। अर्थात् शब्द उत्पत्तिकाल से ही रूप एवं शक्ति से युक्त होते हैं।[1]

इस प्रकार प्रसिद्धिअप्रसिद्धिनिमित्तक अर्थप्रकरणादि, प्रकरणादिसहित प्रसिद्धि अप्रसिद्धि, अध्यारोपलक्षण विपर्यास तथा रूपशक्ति इन चारों निमित्तों द्वारा गौण मुख्य भाव माना गया है।

व्याकरण में गौण मुख्य विभाग

व्याकरण में च्वि प्रत्यय अभूततद्भाव अर्थ में लगता है। जैसा कि अभूततद्भाव शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है कि च्वि प्रत्यय लगने पर शब्द का पूर्व रूप परिवर्तित हो जाता है इसीलिये यह प्रश्न उठता है कि च्वि प्रत्यय लगने पर शब्द मुख्य अर्थ में ही रहता है अथवा गौण होता है। आचार्य भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं कि गो युष्मत्, महत् शब्द जब अपने अर्थ से अतिरिक्त च्वि के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं उन अन्य अर्थों का तद्भाव मुख्य भी होता है (गौण भी होता है।)[2] कारिका से यह स्पष्ट नहीं होता कि किन शब्दों का च्वि प्रत्यय लगने पर गौण अर्थ हो जाता है तथा किन शब्दों से च्वि प्रत्यय लगने पर भी मुख्य अर्थ ही रहता है। पुण्यराज ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है कि अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् तथा अत्वं त्वं सम्पद्यते त्वद्भवति इन उदाहरणों में गोऽभवत् तथा त्वद्भवति ये दोनों च्व्यन्त प्रयोग है तथा दोनों ही गौण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं क्योंकि जो गो नहीं है तथा जो युष्मद्र नहीं है उसमें गोरूपता तथा युष्मद्रूपता ये दोनों उत्तरवर्ती अवस्थाएं विद्यमान नहीं है परन्तु उनका उपचार

---

1. संस्कृत व्याकरणदर्शन (रामसुरेश त्रिपाठी, पृ० 122)
मीमांसासूत्र 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्' पर शबर स्वामी औत्पत्तिक शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि औत्पत्तिक नित्य होता है। उन्होंने यह भी कहा है कि लक्षण के द्वारा उत्पत्ति का अर्थ भाव होता है अतः शब्द एवं अर्थ का अवियुक्त भाव अथवा सम्बन्ध औत्पत्तिक का अर्थ है। 'औत्पत्तिकस्तु इति नित्यं ब्रूमः उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धो नोत्पन्नयो पश्चात्सम्बन्धः।
—मी० सू०, 1/1/6 शाबर भा०

2. गोयुष्मन्महतां च्व्यर्थे स्वार्थादर्थान्तरे स्थितौ।
अर्थान्तरस्य तद्भावस्तत्र मुख्योऽपि दृश्यते॥
—वा० प०, 2-279

हुआ है अतः गौण अर्थ है।[1] इसके विपरीत महत् शब्द तथा शुक्ल शब्द जब च्वि प्रत्यय के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तब भी उनका मुख्य प्रयोग ही होता है। अमहान् महान् सम्पद्यते अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते, महद्भूतश्चन्द्रमाः, शुक्लीभवति पटः ये प्रयोग च्वि के अर्थ में है फिर भी ये गौण अर्थ में प्रयुक्त नहीं है क्योंकि यहाँ वास्तव में उत्तरवर्ती अवस्था अर्थात् महद्भाव एवं शुक्लत्व विद्यमान है अतः महत् एवं शुक्ल शब्द मुख्य अर्थ में ही है।[2]

गौणार्थ मानने का व्याकरण में प्रयोजन पुण्यराज ने ही स्पष्ट किया है। पुण्यराज कहते हैं कि 'गोऽभवत्' में 'गो' शब्द गौण अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण 'ओत्' सूत्र द्वारा प्राप्त प्रगृह्य संज्ञा का अभाव सिद्ध होता है। प्रगृह्य संज्ञा न होने पर ही 'गोऽभवत्' इस अभीष्ट रूप की सिद्धि होती है। इसी प्रकार त्वद्भवति में भी 'युष्मद्' शब्द का गौण प्रयोग है इसीलिये 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' सूत्र द्वारा युष्मद् के उपपद रहने पर भी मध्यम पुरुष 'भवसि' न होकर भवति हुआ है।[3] पुण्यराज कहते हैं कि महाभाष्य में भी कहा गया है कि गौण एवं मुख्य अर्थों में से मुख्य अर्थ में ही कार्य होता है।[4] वह गौण मुख्य भाव के सम्बन्ध में वार्तिककार कात्यायन के मत को भी स्पष्ट करते हैं कि कात्यायन को गौण मुख्य भाव अभीष्ट नहीं था उनके मत में सभी अर्थ मुख्य होते हैं इसीलिये उन्होंने गोऽभवत् इस च्व्यर्थ लक्षण अर्थ को मुख्य मानते हुये 'ओत्' सूत्र द्वारा प्राप्त प्रगृह्य संज्ञा की निवृत्ति के लिये ओतश्च्विप्रतिषेधः' (1.1.15 वा०) वार्तिक दिया। यदि उन्हें गौण अर्थ अभीष्ट होता तो वह यह वार्त्तिक न देते क्योंकि गौण अर्थ में तो 'ओत्' सूत्र की प्रवृत्ति होती

---

1. तत्रागौर्गौः समपद्यत गोऽभवत्, अत्वं त्वं सम्पद्यते त्वद्भवतीत्यत्रागवि अयुष्मदि च गोरूपता युष्मद्रूपता चोत्तरावस्थाऽविद्यमानैवोपचर्यत इति गौणार्थता।
—पु० रा० वा० प०, 2-279

2. अमहान् महानशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते, महद्भूतश्चन्द्रमाः, शुक्लीभवति पट इत्यत्र तूत्तरावस्था वस्तुसत्येवेति मुख्य एवार्थे महच्छुक्लीशब्दौ स्थिताविति नास्ति गौणत्वम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-279

3. अतश्च गोऽभवदित्यत्र गौणार्थत्वादोदन्तस्य निपातत्वेऽपि 'ओदिति' प्रगृह्यसंज्ञाया नास्त्येव प्राप्तिः। तथा त्वद्भवतीत्यत्रोपचरितस्य युष्मदर्थस्य गौणार्थत्वादेव मध्यम-पुरुषस्याप्यभावः।
—वही, 2-279

4. यतो गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्यय इति भाष्ये स्थापितम्। —वही, 2-279

ही नहीं।[1]

पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य पतंजलि को कात्यायन का अभिप्राय अवगत नहीं था उन्हें तो गौण मुख्य भाव अभीष्ट ही था उनके अनुसार अन्तरंग कार्य (प्रगृह्य) मुख्य में ही होता है गौण में नहीं अतः गोऽभवत् में उन्होंने प्रगृह्य संज्ञा का अभाव माना है।[2]

पुण्यराज पूर्वपक्ष के रूप में एक शंका की उद्भावना करते हुए कहते हैं कि यदि गौण अर्थ मे प्रयुक्त होने पर शब्दों से कार्य विधान नहीं होता तो गौर्वाहीक स्तिष्ठति गां वाहीकमानय वाक्यों में वृद्धि एवं आत्व की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि इन उदाहरणों में गो शब्द का गौण अर्थ में प्रयोग हुआ है।[3] इस शंका का समाधान करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि शब्दों में दो प्रकार के कार्य किये जाते हैं—प्रातिपदिक कार्य तथा पदकार्य। पदकार्य में ही गौण मुख्य न्याय की प्रवृत्ति होती है। प्रातिपदिक कार्यों में नहीं अर्थात् पदकार्य मुख्य अर्थ में होते हैं प्रातिपदिक कार्य मुख्य एवं गौण दोनों ही अर्थों में होते हैं क्योंकि पदों की ही गौणार्थता निश्चित की जा सकती है। प्रातिपदिक तो प्रयोग योग्य नहीं होते अतः उनका अन्य पदों के साथ समानाधिकरण्य सम्भव नहीं है अतः प्रातिपदिक की गौणार्थता का निश्चय नहीं हो सकता। गौः वाहीकः गच्छति में गो को वृद्धि[4] तथा गां वाहीकमानय में आत्व[5] प्राति-पदिक कार्य है अतः गौणार्थ होने पर भी ये कार्य हो जाते हैं।[6] पुण्यराज

---

1. वार्तिककारस्तु गोऽभवदित्यत्र च्वयर्थवृत्तित्वान्निपातस्य गोशब्दस्य च्वयर्थलक्षणं मुख्यमेव सर्वमर्थमवगच्छन् गौणमुख्यभावासम्भवमेवाभिमन्यमानः प्रगृह्यसंज्ञानिवृत्तये 'ओतश्च्विप्रतिषेधः' (1।1।15 वा०) इति यत्नमारब्धवान्।
—पु० रा० वा० प०, 2-279

2. भाष्यकारस्त्वभिप्रायानभिज्ञ एवान्तरङ्गत्वाद् गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्यय इत्येव-मत्र (न) प्रगृह्यसंज्ञा। अतोऽन्तरङ्गस्य कार्यस्याप्राप्तिरिति स्थितम्।
—वही, 2-279

3. "ननु गौणार्थत्वे शब्दानां कार्याप्रवृत्तौ गौर्वाहीकस्तिष्ठति गां वाहीकमानयेत्यत्र वृद्ध्यात्वे (न) प्राप्नुतः। अत्र ह्युपचरितार्थो गोशब्द इति।"
—वही, 2-279

4. 'गोतोणित्' —अ० सू०, 7।1।90)

5. ओतोऽम्शसोः —भा० सू०, 6।1।93

6. उच्यते—द्विविधं हि शब्दानां कार्यमस्ति, प्रातिपदिककार्यं पदकार्यं च। तत्र पद-कार्येषु गौणमुख्यन्यायः न प्रातिपदिककार्येषु। पदस्य विरुद्धपदसमानाधिकरण्यान्य-थानुपपत्त्या गौणार्थता, प्रातिपदिकस्य प्रयोगानर्हस्य पदान्तरेण समानाधिकरण्या-सम्भवाद् गौणार्थता नैव निश्चेतुं शक्यते, प्रातिपदिककार्यं च वृद्ध्यात्वे इति। तत्प्रवर्तत एव। —पु० रा० प०, 2-279

महाभाष्य से उद्धरण देते हुए स्पष्ट करते हैं कि अर्थाश्रित कार्य में ही गौणमुख्य न्याय की प्रवृत्ति होती है। शब्दाश्रित कार्यों के विधान के लिये इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती।[1]

पुण्यराज एक शंका की उद्भावना करते हुए कहते हैं कि गोऽभवत् त्वद्भवति उदाहरणों में गौणार्थ होने के कारण तो इष्ट सिद्धि हो जाती है परन्तु महद्भूतश्चन्द्रमाः इस उदाहरण में पूर्णमासी के दिन महद् भाव होता ही है अतः उपचरित न होने के कारण महत् शब्द मुख्य अर्थ में ही है ऐसा मानने पर 'आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः सूत्र की प्रवृत्ति प्राप्त होती है जो अभीष्ट नहीं है। यदि महत् शब्द मुख्य अर्थ में प्रयुक्त है तो 'आन्महतः सूत्र की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती।[2] इसका उत्तर देते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि महद्भूतश्चन्द्रमाः तथा शुक्लीभूतः पटः उदाहरणों में प्रकृति महद् भाव को प्राप्त करती है। भेद की अपेक्षा होने के कारण प्रकृति गौणार्थ की प्रयोजिका है।[3] कारिका के द्वारा पूर्णतया अर्थ स्पष्ट नहीं होता। पुण्यराज इसे विस्तारपूर्वक स्पष्ट करते हैं। यद्यपि वास्तव में चन्द्रमा एक जैसा ही रहता है परन्तु फिर भी उसमें दो अवस्थाओं का अस्तित्व माना जाता है। वक्ता की इच्छा पर निर्भर होने के कारण जो महद् भाव से पूर्व की अवस्था है वह मुख्य तथा जो महत् भाव की अवस्था है उसे उपचरित माना जाता है जिस कारण महत्भूतश्चन्द्रमाः में महत् शब्द गौण अर्थ में प्रयुक्त माना जाता है इसीलिये 'आन्महतः····' इत्यादि सूत्र द्वारा आत्व नहीं होता।[4]

अग्निसोमौ माणवकौ उदाहरण में अग्निसोम संज्ञा शब्द है अतः मुख्य अर्थ है अतः शंका होती है कि यहाँ 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः' (8।3।82) सूत्र द्वारा सोम केस को षत्व होना चाहिये था।[5] इसका उत्तर देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अग्निसोमादि

---

1. तदुक्तम्—अर्थाश्रय एतदेवं भवति शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्वे। —वही, 2-279
2. तदेवं गोऽभवत् त्वद्भवतीति चात्र गौणार्थत्वे सिध्यतीष्टं महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र तु चन्द्रमसः पौर्णमास्यां महत्त्वस्य सद्भावादनुपचरितत्वमिति महच्छब्दस्यान्महत इत्यादिना प्राप्नोत्येवात्वमित्याशंक्यात्रापि गौणार्थतां प्रतिपादयितुमाह—।
—पु० रा० वा० प० 2-280
3. महत्वं शुक्लभावं च प्रकृतिः प्रतिपद्यते।
भेदेनापेक्षिता सा तु गौणत्वस्य प्रयोजिका॥ —वा० प०, 2-280
4. यद्यप्यत्र महत्वं शुक्लभावश्च तथैव विद्यते, तथाप्यत्र शब्दवृत्योन्मज्जद्रूपा प्रकृत्यवस्थैवोच्यत इति तदाश्रयेणोपचरितत्वान्महत्वस्य न भवत्यत्र महच्छब्दस्यात्वम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-280
5. अथाग्निसोमौ माणवकावित्यत्र संज्ञाशब्दत्वान्मुख्यार्थत्वे अग्ने स्तुत्स्तोसोमा (8।3।82) इति षत्वं कस्मान्न क्रियत इत्याह—।
—पु० रा० वा० प०, 2-281

शब्द देवतावाचक, स्वरूप-निमित्तक, तथा संज्ञाभूत अर्थ में विद्यमान तीन प्रकार के होते हैं। देवता अर्थ में तथा स्वरूप निमित्तकसंज्ञा अर्थों में तो ये शब्द मुख्य होते हैं। अग्निसोमौ माणवकौ इस संज्ञा अर्थ में अग्निसोमौ शब्द गौण अर्थ में प्रयुक्त है क्योंकि देवता अर्थ में तो यह शब्द रूढ़ है माणवक में अप्रसिद्ध है अतः अप्रसिद्ध होने के कारण तथा गौण होने के कारण 'अग्निषोमौ' में षत्व नहीं होता। यहाँ अध्यारोप के कारण गौणार्थता नहीं है अपितु अप्रसिद्धि के कारण है।[1]

पुण्यराज हरिश्चन्द्र एवं हरिचन्द्र शब्दों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'हरिश्चन्द्र' शब्द से सुट् हुआ है तथा हरिचन्द्र में नहीं हुआ इसका कारण व्युत्पत्ति क्रिया में निमित्त भेद है अर्थात् हरिश्चन्द्र शब्द ऋषि अर्थ में मुख्य है अतः साधु है तथा हरिचन्द्र शब्द हरिः चन्द्रो यस्य इस अर्थ में व्युत्पन्न होने के कारण गौण अर्थ में प्रयुक्त हैं अतः सुट् का अभाव है।[2]

अब एक प्रश्न की उद्भावना करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यदि पुरातन हरिश्चन्द्र के गुणों के कारण किसी को यह कहा जाय कि अयं माणवक साक्षाद्धरिश्चन्द्रः तब गौण अर्थ होने के कारण सुट् का अभाव होना चाहिये परन्तु वह क्यों नहीं होता।[3] इसका उत्तर आचार्य भर्तृहरि देते हैं कि ऋषि इत्यादि में संस्कार को प्राप्त जो शब्द अन्य के लिये प्रयुक्त होता है तब अन्तरंग संस्कार बाह्य अर्थ में निवृत्त नहीं होता।[4] पुण्यराज ने इस कारिका का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि हरिश्चन्द्र शब्द ऋषि

---

1. इहाग्निसोमादयः शब्दा देवतावाचकाः स्वरूपनिमित्तकाश्च संज्ञाभूतार्थवृत्तयश्चेति त्रिविधाः सम्भवन्ति। तत्र देवतायां स्वरूपनिमित्तेषु संज्ञासु चैते मुख्यार्था एव। तत्र संज्ञायां गौणतेति। देवतायामग्निसोमादयः शब्दा प्ररूढिमुपगता माणवके चाऽप्रसिद्धा इत्येवमप्रसिद्ध्या तेषां गौणार्थता, न त्वध्यारोपेणेति बोद्धव्यम्। अतश्च षत्वप्रवृत्तिरेव। —पु० रा० वा० प०, 2-281
2. हरिश्चन्द्रादिषु सुटो भावाभावौ नियताविव, यस्माच्छब्दव्युत्पत्तिक्रियायां तत्र निमित्तभेदः समाश्रीयते। ऋषावनादिभूते प्रसिद्धो हरिश्चन्द्रः साधुः हरिश्चन्द्रो यस्येत्येतस्मिंस्तु व्युत्पत्तिकर्मण्यभाव एव स्फुट इत्यसाङ्कर्यमेव।
—पु० रा० वा० प०, 2-283
3. 'अथ यदा पुरातनहरिश्चन्द्रगतगुणसंदर्शनेन साक्षाद्धरिश्चन्द्रोऽयं माणवक इत्युच्यते, तदा किं गौणार्थत्वान्न भवितव्यमेव सुटेत्यसाङ्कर्यं दर्शयितुमाह—'
—पु० रा० वा० प०, 2-284
4. ऋष्यादौ प्राप्तसंस्कारो यः शब्दोऽन्येन युज्यते।
तत्रान्तरङ्गः संस्कारो बाह्येऽर्थे न निवर्तते॥ —वा० प०, 2-284

अर्थ में संस्कार को प्राप्त है बाद में संस्कार को प्राप्त हरिश्चन्द्र शब्द हरिश्चन्द्र के समान गुणों वाले अन्य किसी के लिये प्रयुक्त होता है। तब वह अन्तरंग संस्कार अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध के समय भी निवृत्त नहीं होता यह वैयाकरणों का नियम है।[1] पुण्यराज इस 'व्याकरण-नियम' को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार करिष्यति श्वः, वर्षेण गमिष्यति, इन उदाहरणों में श्वः शब्द के सन्निधान के कारण अनद्यतन भविष्य लक्षण काल के प्राप्त होने पर सामान्य भविष्यत् लक्षण लृट् की निवृत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार 'हरिश्चन्द्रो माणवकः' में हरिश्चन्द्र शब्द गौण अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी 'सुट्' अन्तरंग होने के कारण निवृत्त नहीं होता।[2]

एकशब्ददर्शन पक्ष में शब्दों के द्वारा अनेक अर्थों को अभिहित करानेवाली शक्ति का विवेचन

अनेकार्थक शब्दों के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठता है कि गौण एवं मुख्य दोनों ही अर्थ शब्द की स्वाभाविक शक्ति अभिधा के द्वारा गृहीत होते हैं अथवा अभिधा के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति भी वैयाकरणों को मान्य है। साहित्य शास्त्री मुख्य अर्थ को अभिधा शक्ति द्वारा अभिहित मानते हैं जिसे दूसरे शब्दों में ईश्वरेच्छा अथवा संकेत ग्रह कहते हैं।[3] गौण अर्थ का अभिधान लक्षणा शक्ति द्वारा मानते हैं। उदाहरण के लिये 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में गंगा शब्द के द्वारा 'गङ्गातट' अर्थ लक्षणा शक्ति के द्वारा गृहीत होता है। यह अर्थ मुख्य अर्थ के अत्यन्त समीप होने के कारण लक्षित अर्थ

1. हरिश्चन्द्रशब्दस्तावदृषावेव संस्कृत उत्तरकालं प्राप्तसंस्कारः सन्नसौ यदा हरिश्चन्द्र-गुणसधर्मण्यन्यत्र प्रयुज्यते, तदान्तरङ्गः संस्कारो वाक्यार्थवेलायामर्थान्तरसम्बन्धावसरे न निवर्तते इति वैयाकरणसमयः। —पु० रा० वा० प०, 2-284

2. यथा करिष्यति श्वः वर्षेण गमिष्यति इत्यत्र श्वः शब्दसन्निधानाद्भविष्यदनद्यतन-लक्षणकालप्रादुर्भावे भविष्यत्सामान्यसमाश्रयणेन विहितस्य लृटो न निवृत्तिः शक्या कर्तुम्, एवमत्रापि हरिश्चन्द्रो माणवक इति गौणार्थत्वेऽपि सुट्सिद्धिरेवेति। —पु० रा० वा० प०, 2-284

3. वी० ए० रामस्वामी शास्त्री ने अपने लेख में अभिधा द्वारा शब्दों के मुख्य अर्थ के ज्ञान के साधनों का विवेचन किया है। द्रष्टव्य लेख 'मुख्य और गौण वर्ड्स् इन लैंग्वेज,' (बुलेटिन डेकन कालिज रिसर्च इन्स्टीट्यूट्, वाल्यूम 14)

होता है।[1]

वैयाकरण तो अखण्डवाक्यार्थ 'प्रतिभा' को ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार गंगायां घोषः वाक्य सम्पूर्ण रूप से ही अपनी शक्ति के द्वारा ही 'गंगा के समीप घोष है' इस अखण्ड अर्थ को अभिहिति कराता है। वैयाकरण एक शब्द के गौण मुख्य सभी अर्थ शब्द की स्वाभाविक शक्ति अभिधा के द्वारा ही मानते हैं। वे तो यह मानते हैं कि शब्द अपनी शक्ति (अभिधा) के द्वारा ही सभी अर्थों को अभिहित करते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जब एक ही शब्द अभिधा शक्ति के द्वारा सभी अर्थों को अभिहित करता है तब एक समय में एक ही अर्थ की प्रतीति कैसे होती है? इसका उत्तर देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि शब्द वक्ता के द्वारा जिस नियत अर्थ की प्रतीति के लिये विनियुक्त होता है वह उसी अर्थ को प्रकट करता है।[2] इस प्रकार पुण्यराज स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि शब्द की अर्थ प्रदान करने की शक्ति (अभिधा) नियत है परन्तु उसके द्वारा अर्थ प्रदान करने की योग्यता उक्ति के द्वारा (अर्थात् वक्ता की इच्छा) ही निश्चित होती है।[3] इस वक्ता की इच्छा का शब्दार्थ निर्णय में इतना अधिक महत्व है कि ज्ञान की अनेक धाराओं में इसे एक अलग वृत्ति के रूप में माना गया है तथा इसका नाम 'तात्पर्य' रखा गया है।[4] साहित्य दर्पणकार कहते हैं कि तात्पर्याख्या वृत्ति पदार्थान्वय का बोध कराती है। किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति की

---

1. लक्षणाशक्ति के द्वारा गौण अर्थ की प्रतीति का विवेचन वी० ए० रामस्वामी शास्त्री ने अपने उपर्युक्त लेख में किया है। उन्होंने लिखा है कि गौण अर्थ मुख्य अर्थ के साथ किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होता है इसीलिए नैयायिक लक्षणा शक्ति की व्याख्या 'शक्य सम्बन्ध' इस प्रकार से करते हैं, जिसका अर्थ है गौण के साथ मुख्य अर्थ का सम्बन्ध। इसी सम्बन्ध के ज्ञान द्वारा शब्द एवं उसके गौण अर्थ में सम्बन्ध का ज्ञान होता है। रामस्वामी ने कहा है कि इन्हीं सम्बन्धों के भिन्न-भिन्न प्रकारों के आधार पर भर्तृमित्र ने लक्षणा के पाँच विभाग किये हैं।

   अभिधयैव सारूप्यात्सामीप्यात्समवायतः।
   वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता॥

   —उदाहरणों सहित विस्तृत व्याख्या के लिये रामास्वामी का लेख द्रष्टव्य है।

2. इहैक एव शब्दः बह्वर्थः। स यदा वक्त्रा प्रतिनियत एवार्थे विनियुज्यते, तदा तमर्थं प्रकाशयतीति। —पु० रा० वा० प०, 2-399

3. अतः शब्दस्यार्थप्रतिपादनयोग्यता उक्तिद्वारैवेत्याहुः।—पु० रा० व० प०, 3-399

4. वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्—'सिद्धान्त मुक्तावली' शब्दप्रकरण

इच्छा से उच्चारण करना तात्पर्य कहलाता है।[1] वैलरी सुब्बाराव[2] ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि 'सैन्धवमानय' वाक्य में वाक्यार्थ ज्ञान के लिए वक्ता का तात्पर्य जानना अत्यन्त आवश्यक है। के० कुंजुनी राजा ने लिखा है[3] कि तात्पर्य को सामान्यतः ज्ञान की सभी धाराओं में स्वीकार किया गया है परन्तु वाक्यार्थ ज्ञान में इसका क्या स्थान है इस विषय में सबके मत एक जैसे नहीं हैं। पुण्यराज ने वक्ता की इच्छा के 'अभिसन्धान' तथा 'प्रणिधान' नाम दिये हैं।[4]

पुण्यराज पूर्वपक्ष के रूप में एक शंका की उद्भावना करते हैं कि यदि शब्दार्थ सम्बन्ध वक्ता के द्वारा विनियोग के माध्यम से मानें तो वैयाकरणों का शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानने वाला[5] सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा।[6] इसका उत्तर आचार्य भर्तृहरि देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार प्रणिहित चक्षु ही दर्शन में समर्थ होता है उसी प्रकार अभिसंहित शब्द ही अर्थ का वाचक होता है।[7] पुण्यराज इस कारिका की व्याख्या करते हुए स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय में स्वाभाविक योग्यता है कि वह अर्थ का दर्शन करने में समर्थ है परन्तु जब तक द्रष्टा उस पदार्थ में नेत्रेन्द्रिय को लगाएगा नहीं तब तक दर्शन नहीं हो सकता। यदि प्रणिधान की अपेक्षा न होती तो सदा ही दर्शन होता। इसी प्रकार शब्द में अर्थ प्रत्यायन की स्वाभाविक शक्ति होती है परन्तु अभिधाता सम्बन्धी अभिसन्धान अर्थ प्रत्यायन के लिए आवश्यक

---

1. तदर्थप्रतीतिरिच्छया उच्चरितत्वम्। साहित्यदर्पण
2. दि फिलासफी आफ ए सेन्टेन्स एण्ड इट्स पार्ट्स/वैलरी सुब्बाराव
3. 'तात्पर्य ऐज़ ए सेप्रेट वृत्ति।' (प्रोसीडिंग्स ऑफ ऑल इण्डिया ओरियेन्टल कान्फ्रेन्स वाल्यूम 20 भाग-2)
4. स चाभिधाख्यो व्यापारः अभिसन्धाननिमित्तकः...।

—पु० रा० वा० प०, 2-400

तथा—

व्यापारः प्राणिधानात्मक एव। —वही, 2-400

5. सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'—महाभा० पस्पशाह्निक।
6. अथ किं स्वाभाविकः शब्दार्थसम्बन्धोऽथीदृशीं दशामुपेतो यदमी शब्दा वक्तृविनि॰ योगमुखप्रेक्षणसम्बन्धाः। हन्तैवंवादिना भवता विभूषितैव वैयाकरणधुरा...।
7. यथा प्रणिहितं चक्षुर्दर्शनायोपकल्पते।
तथाऽभिसंहितः शब्दो भवत्यर्थस्य वाचकः॥ —वा० प०, 2-400

होता है।[1]

पुण्यराज ने भर्तृहरि के कारिकार्थ 'तथाऽभिसंहित शब्दो भवत्यर्थस्य वाचकः' का दो प्रकार से अर्थ किया है एक अर्थ के अनुसार अभिधा एवं अभिसन्धान में भेद होता है तथा दूसरा अर्थ इन दोनों में अभेद पक्ष में होता है। अभिधा एवं अभिसंधान में भेदपक्ष में अर्थबोध की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वाक्य अभिधा नामक व्यापार के द्वारा अर्थ का प्रकाशन करता है। वह अभिधा नामक व्यापार प्रयोक्ता सम्बन्धी अभिसन्धान निमित्तक होता है। अतः अभिधा पर अभिसन्धान का आरोप करके व्यवहार किया जाता है।[2] इस प्रकार अभिसन्धान ही शब्द के उक्ति लक्षण व्यापार के रूप में (अभिधा के रूप में) अतिदिष्ट होता है। 'तथाऽभिसंहितः शब्दो भवत्यर्थस्य वाचकः' इस कारिकार्थ का अर्थ अभिसन्धान एवं अभिधा के अभेद पक्ष में भी किया है। इस अवस्था में वक्ता के अन्तःकरण में उल्लसित प्रतिभा ही अभिसन्धि रूप होती है तथा वह प्रतिभा ही शब्दमयी होती है।[3] अर्थात् मनुष्य के अन्तःकरण में शब्द (वाक्य) प्रतिभा के रूप में विद्यमान रहता है। वह प्रतिभा ही अभिसन्धान है और वही अभिधा है। जब वक्ता उस प्रतिभा को श्रोता तक पहुँचाना चाहता है तब ध्वनियों का सहारा लेता है।[4] सुब्रह्मण्यम् अय्यर तो यहाँ तक कहते हैं

1. यथा सहजयैव योग्यतया चक्षुरिन्द्रियमर्थविषयं दर्शनमुपकल्पयद्द्रष्टृसम्बन्धि प्रणिधानमपेक्षते, अन्यथा सर्वदा दर्शनोपजननप्रसङ्गात्, तथैव शब्दः स्वाभाविकेनैव सम्बन्धेनार्थप्रत्यायकोऽप्यभिधातृसम्बन्ध्यभिसन्धानमपेक्षत एव।
—पु० रा० वा० प०, 2-400

2. वाक्यानि स्वव्यापारे प्रतिनियतस्वार्थभाञ्जि भवन्त्यभिधेयार्थं प्रकाशयन्त्यभिधाख्यं स्वव्यापारं पुरस्कृत्यार्थप्रकाशनं कुर्वन्तीति बोद्धव्यम्, स चाभिधाख्यो व्यापारः प्रयोक्तृसम्बन्ध्यभिसन्धाननिमित्तक इत्यभिसन्धानत्वेनोपचर्यते। यदाह तथाभिसंहितः शब्दोऽर्थस्य वाचको भवति इत्यभिसन्धानमेव ह्यत्र शब्दस्योक्तिलक्षणव्यापारतयाऽतिदिशति।
—पु० रा० वा० प०, 2-400

3. यदा त्वभेदपक्षस्तदा वक्तुरन्तरुल्लसिता प्रतिभैवाभिसन्धिरूपा शब्दमयी भवति। स्पष्ट एवाभिसन्धानोक्तयोरभेदनिर्देशः। —वही, 2-400

4. 'उक्तिः करणविन्यासो न विना शब्दभावनाम्' इत्यनुसन्धानकारणकः शब्दस्य स्वव्यापारोऽभिधाऽनुसन्धानमेव वा शब्दमयीभूतमभिधेति विज्ञेयम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-400

कि जब हम अपने चक्षु को किसी पदार्थ की तरफ प्रणिहित करते हैं तब प्रतिभा ही है जो प्रणिधान बन जाती है।[1]

पुण्यराज एक शंका की उद्भावना करते हैं कि शब्द अर्थ एवं उनका सम्बन्ध यही प्रसिद्ध है।[2] यह जो विनियोग, उक्ति, अभिसन्धान, अभिधा रूप चतुष्क का उपयोग प्रतिपादित किया गया है वह तो प्रसिद्ध नहीं है।[3]

इसका उत्तर आचार्य भर्तृहरि इस प्रकार देते हैं कि करण एवं कर्म में सम्बन्ध क्रिया के द्वारा स्थापित किया जाता है उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध का नियमन अभिधा नामक शब्द व्यापार के द्वारा ही होता है।[4] पुण्यराज भी यही कहते हैं कि कारक अयः शलाका के समान परस्पर असम्बद्ध होते हैं उनमें क्रिया के समाश्रयण द्वारा जिस प्रकार सम्बन्ध दिखाई देता है उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ में वाच्यवाचक भाव लक्षण सम्बन्ध अभिधा नामक शब्द व्यापार के द्वारा नियमित किया जाता है। अतः कोई अपूर्व बात नहीं कही। अर्थात् अभिधा, अभिसन्धान, उक्ति अथवा विनियोग का प्रतिपादन अपूर्व नहीं है।[5]

इस प्रकार पुण्यराज स्पष्ट करते हैं कि एक शब्द दर्शन पक्ष में जब एक ही

---

1. It is this very Pratibha which becomes Pranidhāna when we direct our eye to a perticular object.
   सुब्रह्मण्यम् अय्यर 'इण्डियन लिंग्विस्टिक्स्, वाल्यूम 29)
   लेख—भर्तृहरि ऑन प्राईमरी एण्ड सेकेण्ड्री मीनिंग्स ऑफ वर्ड्स्।

2. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे (महाभा० पस्पशाह्निके)

3. ननु चाभिधानमभिधेयं सम्बन्धश्च तयोरित्येतावदेव' सुप्रसिद्धं, यत्त्वत्र विनियोग उक्तिरभिसन्धानमभिधेत्येवंरूपस्य चतुष्कस्योपयोगः प्रतिपाद्यते तदप्रसिद्धमेव।
   —पु० रा० वा० प०, 2-401

4 'क्रियाव्यवेतः सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणोः।
   अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः॥' —वा० प०, 2-401

5. 'इह कारकाण्ययः शलाकाकल्पानि परस्परमसम्बद्धानि एव। तेषां च यथा क्रियाव्यवधानेन क्रियासमाश्रयणेन सम्बन्धो दृश्यते, तथैवाभिधानाभिधेययोर्वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धोऽभिधाख्येन शब्दव्यापारेण नियम्यत इति नापूर्वमत्राभिहितमिति। —पु० रा० वा० प०, 2-401

शब्द अनेक अर्थों का अभिधान करता है जब जिस अर्थ को प्रयोक्ता अभिसन्धान के द्वारा अभिधा का विषय बनाता है उसी अर्थ के वाचक के रूप में वह शब्द व्यवहृत होता है अन्य का नहीं। इस प्रकार एक ही शब्द द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान अभिधा शक्ति के ही द्वारा होता है और वह 'अभिधा' नाम्नी शक्ति वक्ता की इच्छा पर आधारित है। अर्थात् जिस अर्थ को वक्ता कहना चाहता है उसी अर्थ का अभिधान शब्द करता है। आचार्य भर्तृहरि प्रदत्त वेद का उदाहरण स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि वैदिक शब्दों को कुछ एकत्वदर्शी अभ्यास के समय निरर्थक मानते हैं। पुनः जब वही स्वरूप ग्रहण के लिए शिष्यों के प्रति प्रतिपादित किये जाते हैं तब स्वरूप-प्रधान होते हैं तथा स्वरूपार्थक कहलाते हैं। जब यही शब्द पुन: किसी यज्ञ कर्म में अभिसन्धान भेद के द्वारा विनियुक्त होते हैं तब अपने अभिधाख्य व्यापार के द्वारा तत्तत् अर्थ के प्रतिपादक हो जाते हैं अत: अभिधेय से पृथक् अभिधा होती ही है उसका अपह्नव उचित नहीं है।[1]

शब्दभेद पक्ष में अभिसन्धान की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि अलग-अलग अर्थों में शब्द भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अत: अलग-अलग शब्दों की अपने-अपने अर्थ में भिन्न-भिन्न शक्ति होती है।[2] उनमें सादृश्य की प्रतीति होती है वास्तव में वे उसी प्रकार अलग-अलग शब्द हैं जिस प्रकार अक्षादि शब्द भिन्न हैं। सादृश्य के कारण उनमें अभेद की प्रतीति हो जाती है।[3] जब सादृश्य की प्रतीति होने लगती है तब यह संशय होने पर कि अमुक स्थल पर किस अर्थ का वाचक शब्द प्रयुक्त हुआ है अर्थ प्रकरणादि अर्थ का निश्चय करके यह बताते हैं कि किस स्थल पर कौन-सा शब्द प्रयुक्त हुआ है।[4]

शब्दार्थ निर्णय के उपाय

यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अनेकशब्ददर्शन पक्ष में अर्थ निर्णय अर्थ

---

1. तथा चाम्नायशब्दा वैदिका अभ्यासवेलायां न किञ्चिदप्यर्थमभिदधति, तदाऽनर्थकानेव तानाहुः। यदा त एव स्वरूपग्रहणाय शिष्याणां प्रतिपाद्यन्ते तदा स्वरूपप्रधानास्त इति तत्र तदर्था एवोच्यन्ते। यदा पुनः कुत्रचिद्याज्ञे कर्मणि नियोगभेदे नाभिसन्धानभेदेन त एव विनियुज्यन्ते, 'तदा स्वव्यापारेणाभिधाख्येन तत्तदर्थप्रतिपादकास्तदर्थनिष्ठाः सम्पद्यन्ते इति स्फुटमेवाभिधेयव्यतिरिक्तोन्मज्जन्त्यभिधाप्रतिभेत्येवेति न तदपह्नवः उपपन्नः। —पु० रा० वा० प०, 2-403-404
2. तस्मादन्यत्तेष्वभिसन्धानमुक्तिरभिधा नैव विद्यते। तत्र तत्र विषये नियतशक्तित्वाद्विभिन्नशक्तित्वादेव स शब्दस्तत्र तत्र व्यवस्थित इति। —वही, 2-406
3. तेषां शब्दानां भेदवादिनो नानात्वमाहुः। केवलमेकजातिसमन्वयस्तेषां सादृश्यरूपोऽस्ति। यथाऽक्षादयः शब्दा भिन्ना एव स्थिताः। सादृश्यात्त्वभेदेनैव प्रतीयन्त इति। —वही, 2-405
4. 'भिन्नत्वं सादृश्येऽपि सत्यर्थप्रकरणादिभिर्निगृहीतार्थाभिधानादवगम्यते। —वही, 2-407

प्रकरणादि उपायों के द्वारा किया जाता है।[1] नानात्वपक्ष में यद्यपि शब्द स्वभाव से भिन्न होते हैं परन्तु उनका श्रवण एक जैसा ही होता है अतः उनमें अभेद करना कठिन हो जाता है। अतः संसर्गादि उपायों के द्वारा ही उन शब्दों में भेद किया जाता है अर्थात् गौपिण्ड का अभिधायक गो शब्द वाहीक के अभिधायक गो शब्द से भिन्न है। परन्तु दोनों का रूप एक समान होने के कारण संशय उत्पन्न होता है कि किस स्थल पर कौन-सा गो शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका निश्चय संसर्गादि उपायों के द्वारा होता है।[2]

एक शब्ददर्शन पक्ष में भी संसर्गादि उपाय शब्द के अर्थ के ज्ञान में सहायक होते हैं। अर्थ के अभिधान करने की शक्तियाँ पृथक्-पृथक् होती है परन्तु एक ही शब्द होने के कारण यह निश्चय करना असम्भव हो जाता है कि अमुक स्थल पर वक्ता किस अर्थ को कहने की इच्छा करता है। संसर्गादि उपाय यह निश्चय करते हैं कि वक्ता किस स्थान पर कौन-सा अर्थ कहना चाहता है।[3] आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि ये शब्दार्थ स्मृति के हेतु हैं अर्थात् ये स्मरण कराते हैं कि किस शब्द से कौन-सा अर्थ वक्ता को अभीष्ट है। अर्थबोध तो अभिधा शक्ति के द्वारा ही होता है।

इस प्रकार एक शब्ददर्शन एवं अनेक शब्ददर्शन दोनों ही पक्षों में शब्दार्थ निर्णय में सहायक होने के कारण इनका बहुत महत्व है। आचार्य भर्तृहरि ने इन उपायों का परिगणन दो सूचियों में कराया है।[4] पुण्यराज ने इन दोनों सूचियों में से प्रथम सूची को ही (वाक्यात्प्रकरणात्-इत्यादि) भर्तृहरि की सूची बताया है तथा दूसरी

---

1. 'शब्दभेदं समाश्रित्यैषां प्रकरणादिभिरेव तत्तदर्थप्रकाशनम्…।'
—पु० रा० वा० प०, 2-405

2. नानात्वपक्षे स्वभावभिन्नेषु तुल्यश्रुतिषु रूपभेदानवच्छिन्नेषु निमित्तान्तरैः संसर्गादिभिरवच्छेदः क्रियते। —वही, 2-315

3. एकत्वपक्षे त्वर्थाभिधाने भिन्नासु शक्तिषु श्रुतिसारूप्यमात्रादलब्धविभागासु तथैव संसर्गादिभिरर्थनिर्णय क्रियत इत्युभयत्रापि प्रकरणादयः शब्दार्थनिर्णयनिपुणा इति।
—वही, 2-315

4. पहली सूची—वाक्यात्प्रकरणादर्थौचित्याद् देशकालतः ॥
शब्दार्था प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥
—वा० प०, 2-314

दूसरी सूची—संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ —वही, 2-315-16

को अपरैः[1] कहकर सम्बोधित किया है जिससे स्पष्ट होता है कि वह सूची भर्तृहरि की नहीं है। सुब्रह्मण्यम् अय्यर दूसरी सूची के सम्बन्ध में लिखते हैं कि यद्यपि यह सूची भर्तृहरि की नहीं है (जैसा कि पुण्यराज ने भी कहा है) परन्तु फिर भी भर्तृहरि ने इसे उद्धृत किया है इससे यह स्पष्ट होता है कि इस सूची से भी वह सहमत थे।[2]

आचार्य भर्तृहरि ने अपनी कारिकाओं में इन उपायों का नाम निर्देश ही किया है। पुण्यराज ने एक-एक उपाय को विस्तार से स्पष्ट किया है तथा लोक एवं व्याकरण के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है कि ये उपाय किस प्रकार से शब्दार्थ निर्णय में सहायक होते हैं। व्याकरण के उदाहरण 'पुण्यराज की विद्वत्ता' अध्याय में स्पष्ट कर दिये जाएंगे अतः पुनरुक्ति दोष से बचने के लिए यहाँ केवल लौकिक उदाहरणों द्वारा ही इन उपायों को स्पष्ट किया जाएगा—

(1) वाक्य

वाक्य के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्' इस वाक्य में 'कट' शब्द का अर्थ भीष्म गुण युक्त 'कट' है जो वाक्य के द्वारा ही निश्चित होता है। द्रव्य निर्गुण नहीं रह सकता तथा गुण निरधिकरण नहीं रह सकता। अतः गुण एवं द्रव्य का समानाधिकरण वाक्यीय सम्बन्ध के द्वारा ही होता है।[3]

(2) प्रकरण

प्रकरण द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'सैन्धव' शब्द का संग्राम के प्रकरण में घोड़ा अर्थ होता है तथा भोजन के प्रकरण में लवण अर्थ

1. तथा चापरैः संसर्गादयः शब्दार्थावच्छेदहेतवः प्रदर्शिताः।

—पु० रा० वा० प०, 2-315

2. सुब्रह्मण्यम् अय्यर का लेख 'भर्तृहरि आन प्राईमरी एण्ड सेकेण्ड्री मीनिंग्स आफ वर्डस् (इण्डियन लिंग्विस्टिक्स वाल्यूम, 29)

3. तत्र वाक्याच्छब्दार्थनिर्णयो यथा कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयमिति तुल्यायामपि श्रुतौ यदा कटस्यैव करोतिक्रियया सम्बन्धः तदा द्रव्यस्य च निर्गुणस्यानुपपत्तेर्गुणानां च निरधिकरणानामसम्भवादाकांक्षादिना तत्सामानाधिकरण्यं वाक्यीयात्समन्वयादिति भीष्मगुणान्वितस्यैव कटस्य करणं वाक्यार्थः।

—पु० रा० वा० प०, 2-314

होता है।[1] वी० ए० रामास्वामी शास्त्री[2] ने प्रकरण का उदाहरण 'सर्वं जानासि देव' दिया है। वे लिखते हैं कि देव शब्द का अर्थ प्रकरण द्वारा निश्चित होता है। यदि यह वाक्य सेवक उच्चारित करे तब देव का अर्थ राजा अथवा स्वामी निश्चित होता है।

(3) अर्थ

अर्थ के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अंजलिना जुहोति, अंजलिना सूर्यमुपतिष्ठते, अंजलिना पूर्णपात्रं आहरति वाक्यों में 'अंजलिना' शब्द अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जुहोति, उपतिष्ठते तथा आहरति शब्दों के अर्थ रूप निमित्त के कारण अंजलिना शब्द के भी भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं।[3] वी० ए० रामास्वामी शास्त्री ने अर्थ का तात्पर्य 'फल' किया है जबकि पुण्यराज ने 'अर्थ' से 'अर्थ' ही माना है। अतः रामस्वामी शास्त्री ने इसका उदाहरण स्थाणुं भज भवच्छिदे' दिया है। इस वाक्य में द्वितीया विभक्त्यन्त शब्द के द्वारा बोधित कराये गये फल के द्वारा 'स्थाणु' शब्द का अर्थ शिव निश्चित होता है। अर्थात् स्थाणुम् इस द्वितीयान्त पद का फल भवच्छेदन है। अतः भवछेदन रूप फल शिव के द्वारा ही दिया जा सकता है। अतः स्थाणु शब्द फल के कारण शिव अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

(4) औचित्य

औचित्य के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'सीर' 'असि' तथा मुसल शब्दों के साथ यदि क्रियाएं प्रयुक्त न भी हों तो भी औचित्य के कारण विलेखन, युद्ध तथा अवहनन अर्थ क्रमशः गृहीत हो जाते हैं।[4] वी० ए०

---

1. तथात्र प्रकरणमप्यशब्दं शब्दार्थनिर्णयनिमित्तम्, यथा सङ्ग्रामप्रस्तावे सैन्धवानां चोदनमश्वानयनपर्यवसायि भवति, भोजनप्रस्तावे तु तदेव लवणप्रतीतिमुपजनयतीति। —पु० रा० वा० प०, 2-314
2. वी० ए० रामस्वामी शास्त्री, लेख 'मुख्य और गौण वर्ड्स इन लैंग्वेज (बुलेटिन डेकन कालिज रिसर्च इन्स्टीट्यूट वाल्यूम-14)
3. अर्थस्तु शाब्दत्वाच्छब्दार्थनिर्णय प्रकल्पयति, यथा अञ्जलिना जुहोति, अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते, अञ्जलिना पूर्णपात्रमाहरतीत्यत्र जुहोतीत्याद्यर्थवशाद् विभिन्नार्थवाचकोऽञ्जलिशब्दः। —पु० रा० वा० प०, 2-314
4. औचित्यादपि शब्दार्थव्यवस्थानं दृश्यते, यथा सीरासिमुसलैः केवलैरनिर्दिष्टक्रियापदैरप्यौचित्याद् विलेखनयुद्धावहननलक्षणसमुचितक्रियापदाक्षेपे शब्दार्थनिर्णयः पर्यवस्यतीति। —पु० रा० वा० प०, 2-314

रामस्वामी शास्त्री ने औचित्य का उदाहरण 'पातु वा दयितामुखम्' दिया है। उनका कहना है कि मुख का अर्थ यहाँ प्रेमिका का 'प्रसन्नमुद्रा युक्त मुख' ही है क्योंकि तभी प्रेमी को प्रसन्न कर सकता है।

(5) देश

देश अर्थात् स्थान के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'मथुराया प्राचीनादुचीनाद्वा नगरादागच्छामि' वाक्य में 'नगर' शब्द से 'पाटलिपुत्र नगर' अर्थ गृहीत होता है क्योंकि मथुरा के प्राचीन तथा उदीचीन भागों में पाटलिपुत्र की प्रत्यासत्ति होती है। अतः प्राचीन एवं उदीचीन इन स्थानों के द्वारा 'नगर' का अर्थ निश्चित होता है।[1] वी० ए० रामस्वामी शास्त्री ने देश के द्वारा अर्थ निर्णय के उदाहरण के रूप में 'भातु अत्र परमेश्वरः' वाक्य दिया है। इस वाक्य में 'अत्र' इस देशवाचक शब्द के प्रयोग के कारण 'परमेश्वर' शब्द का अर्थ राजा निश्चित होता है।

(6) काल

काल के द्वारा शब्दार्थनिर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि शिशिर ऋतु में 'द्वारम्' शब्द का उच्चारण करने पर 'पिधेहि' अर्थ गृहीत होता है। जबकि ग्रीष्मकाल में समुद्घाटय अर्थ गृहीत होता है।[2] वी० ए० रामस्वामी काल का उदाहरण 'चित्रभानु दिवा भाति' देते हैं। द्वयर्थक (सूर्य, चन्द्र) चित्रभानु शब्द का 'सूर्य' अर्थ 'दिवा' इस कालवाचक शब्द के प्रयोग द्वारा निश्चित होता है।

उपर्युक्त छहों उपाय आचार्य भर्तृहरि ने प्रथम सूची में निर्दिष्ट किये हैं। पुण्यराज कहते हैं कि ये उपाय तो केवल उदाहरण मात्र है और भी शब्दार्थ निर्णय के उपाय हो सकते हैं।[3]

---

1. देशाच्छब्दार्थनिर्णयो यथा मथुरायाः प्राचीनादुदीचीनाद्वा नगरादागच्छामीत्युक्ते पाटलिपुत्रादागच्छामीति गम्यते। पाटलि-पुत्रस्य नगरविशेषाद्मथुरा सम्बन्धिनोश्च प्राचीनोदीचीनभागयोर्विद्यते प्रत्यासत्तिरिति कृत्वा देशवशादत्र निर्णयः।
—पु० रा० वा० प०, 2-314

2. कालात्खलु व्यवस्था दृश्यते, यथा शिशरे द्वारमित्युक्ते पिधेहीति, ग्रीष्मसमये त्वेवमभिधाने समुद्घाटयेति गम्यते। —वही, 2-314

3. शब्दार्थनिर्णयोपायानां दिङ्मात्रप्रदर्शनं बोद्धव्यम्, अन्येऽपि तन्निश्चयाय प्रकारा अनुसन्धातव्याः। श्लोकवशाच्चोदाहरणमात्रमेव दर्शितमीति मन्तव्यम्।
—वही, 2-314

दूसरी सूची में परिगणित उपायों में से अर्थ, प्रकरण, देश, काल तथा औचित्य पूर्व सूची में भी परिगणित करा दिये गये हैं अतः पुण्यराज ने उनका विवेचन पुनः नहीं किया। इनके अतिरिक्त जिन उपायों का परिगणन सूची में किया गया है उनका विस्तृत विवेचन पुण्यराज ने किया है।

(1) संसर्ग

संसर्ग के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'सकिशोरा धेनुरानीयताम्' वाक्य में 'सकिशोरा' के संसर्ग से कारण 'धेनु' इस द्वयर्थक (गाय, अश्वी) शब्द का अश्वी अर्थ निश्चित होता है। इसी प्रकार 'सवत्सा धेनु' में वत्स के संसर्ग के कारण धेनु शब्द गाय अर्थ निश्चित होता है।[1] पुण्यराज कहते है कि कि जो धेनु शब्द को 'गाय' अर्थ में रूढ़ मानते हैं उनके अनुसार 'संसर्ग' विशिष्ट अर्थ के ज्ञान के लिये उपयुक्त नहीं होता।[2] रामस्वामी शास्त्री 'संसर्ग' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह सम्बन्ध अथवा गुण जो शब्द की अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त अर्थ में सदैव विद्यमान रहता है वह संसर्ग कहलाता है। जैसे 'सशंखचक्रो हरिः' वाक्य में हरि का अर्थ 'विष्णु' गृहीत होता है क्योंकि विष्णुभगवान के साथ ही शंख तथा चक्र का सदैव सम्बन्ध रहता है। अतः शंख एवं चक्र के संसर्ग के कारण अनेकार्थक हरि शब्द का अर्थ निश्चित होता है।

(2) विप्रयोग

विप्रयोग द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अकिशोरा धेनुः, अकरभा धेनुः, अथवा अवत्सा धेनुः वाक्यों में किशोर करभ तथा वत्स के विप्रयोग के कारण धेनु शब्द का क्रमशः अश्वी अथवा दूसरे दोनों वाक्यों में गाय अर्थ निश्चित होता है।[3] आचार्य रामस्वामी 'विप्रयोग' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए

---

1. संसर्गाद्यथा सकिशोरा धेनुरानीयतामित्यत्र नियतेनैव संसर्गिगणा किशोरलक्षणेन विशेषावसायनिमित्तेन वडवाया एव सम्प्रत्ययः, यथा च सवत्सा धेनुरित्यत्र वत्स-संसर्गाद् गोर्धेनोरेव सम्प्रत्यय इति संसर्गादर्थनिर्णयः।

—वही, २-315-316

2. रूढ्या गौरेव धेनुरुच्यते इति तु येषां दर्शनं तेषामत्र संसर्गो विशेषसम्प्रत्ययो नोपयुज्यत इति बोद्धव्यम्। —वही ३१५-३१६

3. तथा संसर्गवद्विप्रयोगोऽप्यवच्छेदहेतुः। यथा निर्ज्ञातसम्बन्धस्योच्यते 'अकिशोरा धेनुः अवत्सा अकरभा वा आनीयतामिति किशोरादिविप्रयोगेन विशिष्टजातीयाया एव धेनोरवगतिरुपजायत इति। —पु० रा० वा० प०, 2-3 15-16

लिखते हैं कि अभिधा शक्ति से प्राप्त अर्थ के साथ विशिष्ट गुण अथवा सम्बन्ध के अभाव को विप्रयोग कहते हैं। उदाहरण के लिये 'अशंखचक्रो हरिः' वाक्य में विष्णु के साथ सदा रहनेवाले शंख एवं चक्र का विप्रयोग हरि शब्द का अर्थनिश्चित करता है।

(3) साहचर्य

साहचर्य के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'रामलक्ष्मणौ' कहने पर लक्ष्मण के साहचर्य के कारण द्वयर्थक (परशुराम, राम) राम शब्द का दशरथ पुत्र राम अर्थ निश्चित होता है।[1] 'साहचर्य' का अर्थ स्पष्ट करते हुए वी० ए० रामस्वामी शास्त्री लिखते हैं कि साहचर्य का अर्थ परस्पर सम्पर्क अथवा निर्भरता है 'रामलक्ष्मणौ' में दोनों जन्म से ही परस्पर सम्बद्ध हैं तथा एक ही कारण में कार्य कर रहे हैं। यह सम्बन्ध ही 'राम' शब्द का अर्थ निश्चित करता है।

(4) विरोधिता

विरोधिता के द्वारा अर्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'रामार्जुनौ' कहने पर अर्जुन का सन्निधान होने के कारण 'राम' शब्द का अर्थ निःसर्ग विरोधी जामदग्न्य निश्चित होता हैं। अर्थात् अर्जुन के साथ विरोधिता के कारण जामदग्न्य परशुराम अर्थ ही गृहीत होता है।[2]

(5) लिंग

लिंग के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि वाक्यान्तर में देखे गये लिंग के द्वारा भी अर्थ निश्चित हो जाता है उदाहरण के लिये 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' वाक्य में 'अक्ताः' शब्द का अर्थ 'तेजो 'वैघृ तम्' इस वाक्य में घृत स्तुति रूप लिंग के द्वारा 'घृतेनाक्ताः' निश्चित होता।[3] एक अन्य उदाहरण द्वारा लिंग के द्वारा शब्दार्थ निर्णय के स्पष्ट करते हुए पुण्यराज करते हैं कि 'पशुमाल-

---

1. साहचर्याद्यथा रामलक्ष्मणावित्युक्ते लक्ष्मणसाहचर्याद् दाशरथेरेव प्रतीतिः।
—वही, 2-315-16

2. विरोधादप्यर्थोऽवधार्यते। यथा रामार्जुनावित्यत्रार्जुनसन्निधाने निसर्गवैरिणो जामदग्न्यस्यैव प्रतीतिः॥
—पु० रा० वा० प०, 2-315-16

3. लिङ्गाच्च वाक्यान्तरे दृष्टाद् भेदः प्रसिद्ध : प्रतीयते। यथा अक्ताः शर्करा उपदधातीत्यत्रानेकस्याञ्जनद्रव्यस्य सम्भवे 'तेजो वै घृतस्य स्तुतिरुक्ता। एतस्माल्लिङ्गाद्घृत साधनत्वमञ्जिक्रियायाः शर्करार्कमिकाया निर्द्धार्यते।
—वही, 2-31516

भेत' इस वाक्य में 'पशु' का अर्थ छागस्य हविषो वपाया मेदस:' इस वाक्यान्तर में दृष्ट लिंग द्वारा छागपशु अर्थ निश्चित होता है।[1]

(6) शब्दान्तर सन्निधान

अन्य शब्द के सन्निधान द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'अर्जुन कार्तवीर्यो रामो जामदग्न्य:' उदाहरण में कार्तवीर्य, तथा जामदग्न्य के साहचर्य के कारण अर्जुन का अर्थ कृतवीर्य का पुत्र सहस्त्रबाहु तथा राम का अर्थ जमदग्नि का पुत्र परशुराम गृहीत होता है।[2] रामस्वामी शास्त्री शब्दान्तर सन्निधान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब दो संदिग्ध अर्थ वाले शब्द इकट्ठे प्रयुक्त होते हैं तथा एक का अर्थ दूसरा प्रदान करता है तब उस शब्दान्तर सन्निधान द्वारा शब्दार्थ निर्णय होता है। उदाहरण के लिये 'करेण राजते नाग:' में 'करेण' तथा 'नाग:' दोनों एक दूसरे के अर्थ को निश्चित करते हैं।

(7) सामर्थ्य

सामर्थ्य द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'अनुदरा कन्या' उदाहरण में सामर्थ्य के कारण 'अनुदरा' शब्द से 'उदर विशेष का प्रतिषेध' की प्रतीति होती है। इसी प्रकार अभिरूपाय कन्या देया' उदाहरण में अभिरूप शब्द सामर्थ्य के कारण 'अभिरूप वर' अर्थ का अभिधान करता है।[3] आचार्य रामस्वामी शास्त्री सामर्थ्य का अर्थ देते हुए कहते हैं कि सामर्थ्य का अर्थ कारण' है। मधुना मत्त: कोकिल: को मत्तता का कारण 'मधुमास' है अतः इस कारण के द्वारा मधु का अर्थ 'मधुमास' निश्चित होता है।

व्यक्ति

व्यक्ति के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि व्यक्ति का अर्थ लिंग (पुल्लिंग स्त्रीलिंग इत्यादि) है। उदाहरण के लिये 'तद् ग्रामस्यार्ध लभेत' वाक्य में अर्ध शब्द नपुंसकलिंग में है अतः अर्थ शब्द 'समप्रविभाग' अर्थ

---

1. तथा पशुमालभेतेत्यत्र पशुत्वसम्बन्धिषु प्राणिषु सत्सु छागस्य हविषो वपाया मेदस इति लिङ्गाच्छागैकार्थसमवायि पशुत्वं प्रतीयते। —वही, 2-315-16
2. शब्दान्तरसन्निधानादपि विशेषावगतिः। यथा अर्जुनः कार्तवीर्यो रामो जामदग्न्य इति। —पु० रा० वा० प०, 2-315-16
3. सामर्थ्याद्विशेषप्रतिपत्तिर्यथा—अनुदरा कन्येति। सामर्थ्यादुदरविशेषप्रतिषेधप्रतीतिः। तथा अभिरूपाय कन्या देयेति। अभिरूपव (त) रायेति सामर्थ्यात् प्रतीयते। —वही, 2-315-16

में प्रयुक्त हुआ है।[1] आचार्य रामस्वामी शास्त्री ने व्यक्ति का उदाहरण मित्रो भाति दिया है वे कहते हैं कि पुल्लिग में प्रयुक्त होने के कारण मित्र शब्द का अर्थ सूर्य देवता हो जाता है तथा मित्रं भाति' ऐसा नपुसंकलिंग में प्रयोग होने के कारण मित्र शब्द का अर्थ सखा निश्चित होता है।

(8) स्वर

स्वर के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'स्थूलपृषतीमालभेत' वाक्य में स्थूलपृषती शब्द का अर्थ स्वर के आधार पर निश्चित होता है। यदि अन्तोदात्त होगा तब 'स्थूला चासौ पृषती' इस अर्थ की अवगति होगी, यदि आद्युदात्त होगा तो 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्' इस अन्य पद-प्रधान अर्थ का ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'वैपाशः कूपः' उदाहरण में आद्युदात्त का श्रवण होने पर विपाशा के उत्तर में इस अर्थ की अवगति होगी तथा अन्तोदान्त होगा तो 'पाश पुरुष जिसमें नहीं है ऐसा कुआ अर्थ गृहीत होता है।[2] आचार्य रामस्वामी शास्त्री ने स्वर का उदाहरण 'इन्द्रशत्रु वर्धस्व' दिया है तथा लिखते हैं कि यदि इन्द्र शत्रु अन्तोदात्त हो तो तत्पुरुष समास (इन्द्र का शत्रु) होता है यदि आद्युदात्त हो तो बहुव्रीहि अर्थात् इन्द्र का नाशक अर्थ गृहीत होता है।

पुण्यराज कहते हैं कि कुछ विद्वान् केवल सामर्थ्य को ही शब्दार्थ निर्णय का निमित्त मानते हैं। उनके अनुसार अर्थ प्रकरणदि द्वारा जो विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराई जाती है वह भी सामर्थ्य के कारण ही होती है अर्थात् संसर्गादि के द्वारा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है।[3] सुब्रह्मण्यम् अय्यर लिखते हैं[4] कि प्रकरण ही एक

---

1. व्यक्तिर्लिगम्। तस्मान्निर्णयो यथा तद् ग्रामस्यार्धं लभेतेत्यत्र समप्रविभागोऽर्धशब्दो नपुंसकेन परामर्शात् (ग्रामस्यार्धं स्वयमेव प्रतीयते)।
—पु० रा० वा० प०, 2-315-16
2. स्वराद्यथा स्थूलपृषतीमालभेतेत्यत्रान्तोदात्तस्य श्रवणात् स्थूला चासौ पृषतीत्येवंविधार्थप्रतीतिः। पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वदर्शने स्थूलानि पृषन्ति यस्यामित्यन्यपदार्थं प्रतीतिः। तथा वैपाशः कूप इत्यत्राद्युदात्तस्याश्रवणाद्विपाशः उत्तरस्य विशिष्टस्यैव प्रतीतिः। अन्तोदात्तश्रवणे तद्विपरीतस्येति।
—पु० रा० वा० प०, 2-315-16
3. तदत्र केचित् सामर्थ्यमेवेकं शब्दार्थनिर्णयनिमित्तमिति मन्यन्ते। योऽप्यर्थप्रकरणादिना तत्र भेदः समधिगम्यते, सोऽपि सामर्थ्यादेवात्र प्रतीयत इति कथयन्ति। सामर्थ्यमेव हि संसर्गादिभिर्व्यज्यत इति। —वही, 2-315-16
4. भर्तृहरि ऑन प्राईमरी एण्ड सैकेण्ड्री मीनिंग्स ऑफ वर्ड्स (इण्डियन लिंग्विस्टिक वॉल्यूम-29)

समय में सभी अर्थों को देने से रोकता है तथा यह निर्णय करता है कि कौन-सा अर्थ गौण है तथा कौन-सा अर्थ मुख्य है।

इस प्रकार पुण्यराज ने इन चौदह उपायों का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण किया है। पुण्यराज कहते हैं कि सभी मुख्य एवं गौण अर्थों का निश्चय इन उपायों के द्वारा होता है।[1] शब्द के द्वारा जितने भी अर्थ अभिहित होते हैं उन सबका अमिधान शब्द की ही स्वाभाविकी शक्ति अभिधा के द्वारा ही होता है। अमुक स्थान पर उन सभी अर्थों में से कौन-सा अर्थ लगना चाहिये इसकी स्मृति अर्थ प्रकरणादि उपाय कराते हैं।

इस प्रकार पुण्यराज ने पदार्थ के सम्बन्ध में आचार्य भतृहरि द्वारा प्रदर्शित भिन्न-भिन्न मतों की अपनी टीका में विस्तारपूर्वक व्याख्या की हैं।

---

1. 'अथात्रेदं गौणमिदं मुख्यमिदं नान्तरीयकमित्येवं शब्दार्थनिर्णयोपायान्'...
—पु० रा० वा० प० 2-531-16

अष्टम अध्याय

पुण्यराज की विद्वत्ता

पुण्यराज का मीमांसादर्शन एवं व्याकरण विषयक विवेचन

वाक्यपदीय-द्वितीय-काण्ड में मुख्य रूप से वाक्य सम्बन्धी विवेचन किया गया है। वाक्य के ही सन्दर्भ में आचार्य भर्तृहरि ने मीमांसादर्शन के लक्षणों का निर्देश किया है।[1] आचार्य भर्तृहरि पदवादियों के मत का विवेचन करते हुए उनके द्वारा अखण्डवाक्यपक्ष में लगाये गये आरोपों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि वाक्य में पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों की सत्ता को स्वीकार न किया जाए तो मीमांसादर्शन में वर्णित लक्षण, जो पदपदार्थ को आधार मानकर प्रवृत्त होते हैं व्यर्थ हो जायेंगे।[2] आचार्य भर्तृहरि ने तो उन लक्षणों का केवल निर्देश मात्र ही किया है, पुण्यराज ने अपनी टीका में न केवल उन लक्षणों की विस्तृत व्याख्या ही की है, अपितु प्रत्येक लक्षण

---

1. प्रसङ्गिकामिदं कार्यमिद तन्त्रेण लभ्यते ।
इदमावृत्तिभेदाभ्यामत्र बाधासमुच्चयौ ॥
ऊहोऽस्मिन्विषये न्याय्यः सम्बन्धोऽस्य न बाध्यते ।
सामान्यस्यातिदेशोऽयं विशेषोऽत्रातिदिश्यते ॥
आर्थित्वमत्र सामर्थ्यमस्मिन्नर्थो न भिद्यते ।
शास्त्रात्प्राप्ताधिकारोऽयं व्युदासोऽस्य क्रियान्तरे ॥
इयं श्रुत्या क्रमप्राप्तिरियमुच्चारणादिभिः ।
क्रमोऽयमत्र बलवानस्मिंस्तु न विवक्षितः ॥
इदं पराङ्गं सम्बद्धमङ्गानमप्रयोजकम् ।
प्रयोजकमिदं त्वेषामत्रेदं नान्तरीयकम् ॥
इदं प्रधानं शेषोऽयं विनियोगक्रमस्त्वयम् ।
साक्षादस्योपकारीदमाराद् विशेषकम् ॥
शक्तिव्यापारभेदोऽस्मिन्फलमत्र तु भिद्यते ।
सम्बन्धाज्जातभेदोऽयं भेदस्तत्राविवक्षितः ॥
वा० प०, 2-77, 78, 79, 80, 81, 82, 83

2. इति वाक्येषु ये धर्माः पदार्थोपनिबन्धनाः ।
सर्वे ते न प्रकल्पेरन् पदं चेत् स्यादवाचकम् ॥ —वही, 2-87

का मीमांसा दर्शन में सन्दर्भ भी बताया है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि किस लक्षण का मीमांसादर्शन के किस अध्याय में विवेचन है तथा कौन-सा लक्षण किस लक्षण का प्रतिपक्षी है। इस प्रकार पुण्यराज मीमांसादर्शन के द्वादश अध्यायों की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत कर देते हैं जिससे उनका मीमांसादर्शन विषयक गूढ़ अध्ययन स्पष्ट हो जाता है। पुण्यराज द्वारा मीमांसादर्शन के बारह अध्यायों की संक्षिप्त विषय वस्तु इस प्रकार प्रदर्शित की गई है।

मीमांसादर्शन का संक्षिप्त सार

प्रथम अध्याय

पुण्यराज मीमांसादर्शन के प्रथम अध्याय की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मी० सू० 1।1।1) सूत्र से मीमाँसादर्शन का प्रारम्भ होता है। इस अध्याय में धर्म क्या है, उसका लक्षण क्या है, इस प्रकार की आशंकाओं का निराकरण करने के बाद चोदना लक्षण अर्थ को ही धर्म का लक्षण सिद्ध किया गया है। पुण्यराज यह भी स्पष्ट करते हैं कि प्रथम अध्याय में ही चोदना, का प्रामाण्य भी स्थापित किया गया है[1] तथा मतभेद के द्वारा विधि विनियोग आदि भी इसी की संज्ञाएं कही गई हैं।[2] स्वतः प्रामाण्य की स्थापना भी इसी अध्याय में हुई हैं तथा प्रत्यक्षादि का भी स्वतः प्रामाण्य सिद्ध किया गया है।[3]

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय के प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि द्वितीय अध्याय में चोदना के भेदों का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि चोदना शब्दादि वैचित्र्य के कारण भिन्न-भिन्न रूपों वाली होती।[4] यही शबरस्वामी ने भी इस अध्याय के विषय में कहा है कि चोदना भिन्न-भिन्न रूपों वाली होती है अतः इस चोदना के भेद रूप विषय का ही इस अध्याय में विवेचन है।[5]

---

1. तथा च तत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (पू० मी० 1।1।1) इत्युपक्रम्य को धर्मः किं लक्षणश्चेत्याद्याशङ्का निरासार्थं चोदनालक्षण इत्युक्ता (प्रथमेनाध्यायेन) चोदनालक्षणे निर्णीते चोदनैव प्रमाणमित्युक्तम्। —पु० रा० वा० प०, 2-77
2. मतभेदेनापि विधिनियोगेत्यादिका अप्यत्रास्याः संज्ञा उपवर्णिताः। —वही
3. तत्रैव च स्वतः प्रामाण्यं व्यवस्थापितम्। तदनुरोधेन प्रत्यक्षादीनामपि स्वतः एव प्रामाण्यमुपपादितम्। —पु० रा० वा० प०, 2-77
4. चोदना च शब्दादिवैचित्र्याद्भिन्नरूपेति भेदप्रतिपादनायास्या एव द्वितीयोऽध्यायः। —पु० रा० वा० प०, 2-77
5. भिन्नान्यभिन्नानि चेति। एष स्वार्थो वर्णनीयो नान्यः। एष एवाध्यायसम्बन्धः। —शाबर भा० मी० सू०, 2।1।1

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय का विषय स्पष्ट करते हुये पुण्यराज कहते हैं कि तीसरे अध्याय में शब्दादि भेद के कारण भिन्न कर्मका शेषशेषिभाव के द्वारा विनियोग प्रतिपादित किया गया है ।[1] शबरस्वामी ने भी अथातो शेषलक्षणम्' (3।1।1) सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि कर्मभेद का लक्षण वर्णित कर दिया गया है अब शेष का लक्षण किया जाता है ।[2]

चतर्थ अध्याय

शेष शेषी भाव द्वारा विनियुक्त मन्त्रों का प्रयोजक एवं अप्रयोजक भाव चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादित हुआ है ।[3] मोमांसा सूत्र 5।1।1 पर भाष्य लिखते हुये शबर-स्वामी का भी यही कहना है कि चतुर्थ अध्याय में प्रयोज एवं अप्रयोजक का लक्षण प्रतिपादित किया गया है ।[4]

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय में प्रतिपादित विषय के सम्बन्ध में पुण्यराज कहते हैं कि विनियोग श्रुति उच्चारण इत्यादि के क्रम से होना चाहिये अतः इसी क्रम का विवेचन पंचम अध्याय में किया गया है ।[5] शबरस्वामी भी इस अध्याय के प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रस्तुत अध्याय में क्रम नियम का लक्षण दिया गया है।

षष्ठ अध्याय

पुण्यराज कहते हैं कि यह समस्त चोदना जिसके लिये कही गई है वह उसे ग्रहण का इच्छुक हो तथा उसमें यह सामर्थ्य एवं शास्त्र के द्वारा पर्युदास का अभाव हो तो वह अधिकारी कहलाता है इसी अधिकारी का निरूपण छठे अध्याय में किया

---

1. भिन्नस्य च शेषशेषिभावेन विनियोगप्रतिपादनाय तृतीयोऽध्यायः ।

—पु० रा० वा० प०, 2-77

2. नानाकर्मलक्षणं वृत्तम् । अनन्तरं शेषलक्षणं वर्तयिष्यामः । कः शेषः, केन हेतुना शेषः, कथं च विनियुज्यत इति । —मी० सू० 3।1।1 पर शा० भा०

3.. विनियुक्तस्य प्रयोजकाप्रयोजकभावप्रतिपादनाय चतुर्थः ।

—पु० रा० वा० प०, 2-77

4. चतुर्थेऽध्याये प्रयोजकाप्रयोजकलक्षणं वृतम् ।

—मी० सू० 5।1।1 पर शाबर भा०

5. श्रुत्युच्चारणादिभिः क्रमेण विनियोग इति तदर्थं पंचमः ।।

—पु० रा० वा० प०, 2-77

गया है।[1] शबरस्वामी का भी कहना है कि छठे अध्याय में अधिकार का निरूपण किया गया है।[2]

इन छहों अध्यायों के सम्बन्ध में पुण्यराज कहते हैं कि विधि, भेद, शेषशेषी भाव, प्रयुक्ति, क्रम तथा अधिकारी इन षट् लक्षणों का विवेचन मीमांसादर्शन के छह अध्यायों में किया गया है। ये प्रकृतियाग से सम्बद्ध होने के कारण प्रकृतिषट्क कहलाते हैं। विधि से सम्बद्ध होने के कारण ही ये उपदेशशट्क भी कहलाते हैं[3]। शबरस्वामी इन अध्यायों के सम्बन्ध में यही कहते हैं कि इन छह अध्यायों में उन दर्शपूर्णमास इत्यादि की इतिकर्तव्यता का विवेचन है जिनके धर्मों का प्रत्यक्ष रूप में विधान किया गया।[4] इस प्रकार पुण्यराज शबरस्वामी से भी आगे बढ़ गये और स्पष्ट कर दिया कि इन लक्षणों को प्रकृतिषट्क एवं उपदेशषट्क भी कहते हैं तथा उस कारण को भी स्पष्ट किया है जिससे इन लक्षणों के ये नाम पड़े। इससे पुण्यराज का मीमांसादर्शन विषयक गहन अध्ययन स्पष्ट हो जाता है।

उत्तरवर्ती छहों अध्यायों के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जिन कर्मों की इतिकर्तव्यता का प्रत्यक्षतः विधान नहीं किया गया उनका भी स्वप्रकृतिभूत अन्य किसी कर्म द्वारा विधान हो जाता है। अर्थात् जिन कर्मों के विषय में प्रत्यक्ष विधान नहीं है उनकी इतिकर्तव्यता का विधान उत्तरवर्ती षट् अध्यायों में किया गया हैं।[5] शबरस्वामी का भी यही कथन है कि उत्तरवर्ती छह अध्यायों में ऐन्द्राग्न इत्यादि कर्मो के विषय में चिन्तन किया गया हैं क्योंकि इनकी इतिकर्त्तव्यत के विषय में विधान नहीं किया गया है।[6]

---

1 इहेदानीं क्रमनियमलक्षणमुच्यते। —मी० सू 5।1।1 पर शाबर भा०

2. एतत्समग्रं यदर्थमसावर्थी समर्थः शास्त्रेणापर्युदस्तोऽधिकारीति तत्प्रतिपादनाय षष्ठ इति। —पु० रा० वा० प०, 2-77

3. अतः स्वर्ग प्रधानतः कर्म गुणत इति स्वर्गकाममधिकृत्य यजेतेति वचनमित्यधिकारलक्षणमिदं सिद्धं भवति। —मी० सू० 6।1।3 पर शाबर भा०

4. एवं विधिभेदशेषशेषिभावप्रयुक्तिक्रमाधिकारिणां प्रतिपादनायाध्याया षडिति षड्लक्षणानि। तत्र प्रकृतिषट्कमुपदेशषट्कमिति चोच्यते। —पु० रा० वा० प० प०, 2-77

5. पूर्वेणाध्यायषट्केन प्रत्यक्षविहितधर्मणां कर्मणां दर्शपूर्णमासादीनामितिकर्त्तव्यता चिन्तिता। —मी० सू०, 7। ।1 पर शाबर भा०

6. तदनन्तरमनुक्तेतिकर्त्तव्यताकमपि कर्मान्यितो विध्यन्तमाप्नोति। —पु० रा० वा० प०, 2-77

सप्तम अध्याय

पुण्यराज स्पष्ट करते हैं कि ऐसे कर्म जिनकी इतिकर्तव्यता का विधान नहीं किया गया वे भी अन्य (उक्त इतिकर्त्तव्यता वाले) कर्म से सामान्यातिदेश द्वारा विहित हो जाते है। इसी सामान्यातिदेश का विवेचन ही सप्तम अध्याय में किया गया है।[1] शबरस्वामी का भी कहना यही है कि ऐन्द्राग्न इत्यादि कर्म, जिनके धर्मों के विषय में पूर्ण विधान नहीं किया गया है उनके लिये दर्शपूर्णमास आदि विहित धर्मों वाले कर्मो से धर्म अतिदिष्ट कर लिये जाते हैं।[2]

अष्टम अध्याय

अष्टम अध्याय के प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि कहीं पर सामर्थ्य के कारण विशेष कर्म से ही धर्मों का अतिदेश किया जाता है, इसी विशेषातिदेश का प्रतिपादन अष्टम अध्याय में हुआ है।[3] शबर स्वामी का भी कथन यही है कि सामान्यातिदेश के द्वारा यह तो सिद्ध हो जाता है कि किसी कर्म के धर्म अन्य कर्म में अतिदिष्ट कर लिये जाते हैं परन्तु किस कर्म के धर्म किस कर्म में अतिदिष्ट होने चाहिये इसे विशेषातिदेश कहते है। अर्थात् किसी विशेष कर्म के धर्मों का किसी विशेष कर्म में अतिदेश करना विशेषातिदेश कहलाता है। इसी का प्रतिपादन मीमांसादर्शन के अष्टम अध्याय में किया गया है।[4]

नवम अध्याय

पुण्यराज कहते हैं कि अतिदेश द्वारा प्राप्त मन्त्र में प्रकृतियाग के देवता को विकृतियाग के देवता के रूप में परिवर्तित कर लेना ऊह कहलाता है इसी ऊह का विवेचन नवम अध्याय का प्रतिपाद्य विषय हैं।[5] शबरस्वामी ने भी नवम अध्याय के

---

1. अविहितधर्मकेषु ऐन्द्राग्नादिषु कर्मसु विहितधर्मकर्मभ्यो दर्शपूर्णमासादिभ्यो धर्मा अतिदिश्यन्त इति। —मी० सू० 8।1।1 पर शाबर भा०
2. अनुक्तेतिकर्तव्यताकमपि कर्मान्यतो विध्यन्तमाप्नोति सामान्यातिदेशादिति प्रतिपादनाय सप्तमः। —पु० रा० वा० प०, 2-77
3. एवं तावत्सप्तमेनाध्यायेन सामान्यतोऽतिदेशलक्षणमुक्तम्। —वही, 2·77
—मी० सू० शाबर भा० 8।1।1
4. क्वचित्सामर्थ्याद्विशेषा एवातिदिश्यन्त इति निरूपणायाष्टमः।
—पु० रा० वा० प० 2-77
5. किमेकस्मिन्कर्मणि सर्वकर्मसु धर्मा अतिदिश्यन्त उतैकस्मादिति तदर्थं विशेषलक्षणं वक्तव्यमस्मिन्नस्येति। तदिदमध्यायादौ प्रतिज्ञायते अथ विशेषलक्षणमिति। अथेदानीं वृत्तात्सामान्यातिदेशलक्षणादनन्तरं विशेषलक्षणं वक्ष्यामः।
—मी० सू० 8।1। पर शाबर भा०

प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करते हुए यही कहा है कि अष्टम अध्याय में विशेषातिदेश का वर्णन है। अब नवम अध्याय में ऊह का लक्षण वर्णित किया जायेगा।[1]

दशम अध्याय

इस अध्याय के प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि दशम अध्याय में सामान्य का विशेष द्वारा भाव निरूपित किया गया है।[2] मीमांसासूत्र 10।1।1 की व्याख्या करते हुए शबरस्वामी भी यही कहते हैं कि दशम अध्याय में वाधा तथा अभ्युच्चय का विवेचन किया गया है।[3]

एकादश अध्याय

पुण्यराज कहते हैं कि जिसके एक बार ही अनुष्टान करने से दो कार्य सिद्ध हो जायें उसे तन्त्र कहते हैं इसका प्रतिपादन मीमांसादर्शन के एकादश अध्याय में किया गया है।[4] शबरस्वामी का भी यही कहना है कि जो एक बार किया जाने पर बहुतों को उपकृत करे वह तन्त्र कहलाता है। एकादश अध्याय में इसी तन्त्र एवं आवाप का विवेचन किया जायेगा।[5]

द्वादश अध्याय

मीमांसादर्शन के द्वादश अध्याय के प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि किसी एक को निमित्त मानकर विहित कार्य का एक ही प्रयत्न द्वारा दूसरे का भी अनुष्ठान किया जाना प्रसंग कहलाता है। इसी प्रसंग का विवेचन द्वादश अध्याय में किया गया है।[6] शबरस्वामी इस अध्याय के सम्बन्ध में कहते हैं कि द्वादश अध्याय में प्रसंग लक्षण का विवेचन किया गया है।[7]

इस प्रकार पुण्यराज ने मीमांसादर्शन के बारह अध्यायों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर दिया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि किन लक्षणों का विवेचन किन-किन

---

1. अतिदेशप्राप्ते मन्त्रे प्रकृतिदेवता विकृतियागदेवत्वेन विपरिणमयितव्येत्यादिसमर्थनाय नवमः। —पु० रा० वा० प०, 2-77
2. अष्टमेऽध्याये विशेषातिदेशलक्षणं वृत्तमिदानीमूहलक्षणं वर्तयिष्यामः। —मी० सू०, 9।1।1 पर शाबर भा०
3. सामान्यस्य विशेषेण बाधाभिधानाय दशमः। —पु० रा० वा० प०, 2-77
4. बाधाभ्युच्चयमिदानीं वर्तयिष्यामः। —मी० सू०, 10।1।1 पर शाबर भा०
5. येन सकृतानुष्ठानादुभयासिद्धिस्तत्तन्त्रं तदर्थमेकादशः॥ —पु० रा० वा० प०, 2-77
6. इदानीमेकादशे तन्त्रावापलक्षणं निवर्तयिष्यामः। तत्र यत्सकृतानुष्ठाने बहूनामुपकरोतीति तत्तन्त्रमित्युच्यते। —मी० सू०, 11।1।1 पर शाबर भा०
7. यदयन्दर्थमारब्धमन्यदप्येकेनैव प्रयत्नेन सम्भवलाघवाभ्यां निष्पादयति तत्प्रासङ्गिकं तदुक्तये द्वादशोऽध्यायः। —पु० रा० वा० प०, 2-77

अध्यायों में हुआ है। पुण्यराज कहते हैं कि इन्हीं बारह अध्यायों में पूर्वोक्त बारह लक्षणों के प्रतिपक्षी लक्षणों का भी विवेचन यथायोग कर दिया गया है।[1]

मीमांसा दर्शन के लक्षणों का पाणिनि सूत्रों में प्रयोग

पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट मीमांसादर्शन के लक्षणों की अलग-अलग विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। उन्होंने इन लक्षणों को वेद में तो स्पष्ट किया ही है इसके साथ-साथ पाणिनि सूत्रों में भी इन लक्षणों की उपादेयता एवं प्रयोग प्रदर्शित किया है जो पुण्यराज की व्याकरण शास्त्र को अनुपम देन है। यद्यपि आचार्य भर्तृहरि ने भी इन लक्षणों का पदकाण्ड के लक्षण समुद्देश में विस्तृत विवेचन किया था।[2] परन्तु पुण्यराज के समय से ही लक्षणसमुद्देश उपलब्ध नहीं है।[3] तथा अब वाक्यकाण्ड की उन कारिकाओं पर वृत्ति भी नहीं मिलती जिनमें ये लक्षण निर्दिष्ट है अतः पुण्यराज का विवेचन ही इस सम्बन्ध में प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता है।

आचार्य भर्तृहरि ने इन लक्षणों को कारिकाओं में निर्दिष्ट किया हैं परन्तु कारिकाओं में इनकी संख्या इक्कीस है पुण्यराज ने अपनी टीका में यह स्पष्ट किया है कि इन लक्षणों की संख्या चौबीस कैसे है। निम्न तालिका द्वारा इन लक्षणों की चौबीस संख्या स्पष्ट हो जायेगी।

लक्षण	प्रतिपक्षलक्षण
(1) प्रमाण (विधि)[4]	प्रमाण का प्रतिपक्षी नहीं होता[5]

1. एतत्प्रतिपक्षभूतान्यन्यानि द्वादश यथायोगमेतेष्वध्यायेषु दर्शितानि। —पु० रा० वा० प०, 2-77
2. तत्र द्वादश षट् चतुर्विशंतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं विस्तरेण व्याख्यास्यते। —भर्तृहरि वृति वा० प०, 2-76
3. एतेषां च वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशाल्लेखकप्रमादादिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः। —पु० रा० वा० प०, 2-77
4. आचार्य भर्तृहरि ने कारिकाओं में प्रमाण लक्षण का निर्देश नहीं किया पुण्यराज उनके प्रमाण का निर्देश न कराने का कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि मीमांसकों के लिये चोदना ही प्रमाण है फिर भी आचार्य भर्तृहरि न्याय मात्र के ही प्रमाणत्व को स्वीकार करते हैं केवल चोदना में ही प्रमाणत्व नहीं है इसीलिये उन्होंने सर्वप्रथम लक्षण प्रमाण का निर्देश नहीं किया। यद्यपि परेषां चोदनैव प्रमाणं प्रसिद्धम्, तथापीह टीकाकारो न्यायमात्रस्य प्रमाणत्वमङ्गीकरोति। अतएव चोदनायामेव प्रमाणत्वस्याभावात् प्रथममेव लक्षणनिदर्शनं न कृतम्।—वही 2-77
5. तत्प्रमाणस्य प्रतिपक्षासम्भवः। न ह्यप्रमाणं प्रमाणस्थाने नियुज्याभिमतसम्पत्तिर्भवति। —वही

लक्षण	प्रतिपक्षीलक्षण
(2) भेद	(3) अभेद[1]
(4) शेषशेषिभाव	(5) गुणप्रधानभाव की अविवश्वा[2]
(6) प्रयोजक	(7) अप्रयोजक[3]
(8) क्रम	(9) क्रम की अविवक्षा[4]
(10) अधिकारी	(11) अधिकार का अभाव
(12) सामान्यातिदेश	(13) सामान्यातिदेश का अभाव[5]
(14) विशेषातिदेश	(15) सामान्यातिदेश अथवा विशेषान्तरातिदेश[6]
(16) ऊह	(17) सम्बन्ध का अभाव[7]
(18) बाघ	(19) समुच्चय तथा
	(20) विकल्प[8]
(21) तन्त्र	(22) आवृत्ति[9]
(23) प्रसंग	(24) भेद[10]

कारिकाओं में इससे विपरीत क्रम से लक्षणों कानिर्देश है अर्थात् पहले प्रसंग एवं तन्त्र इन अन्तिम लक्षणों का निर्देश है जबकि पुण्यराज ने मीमांसादर्शन के अध्यायों के आधार पर क्रम दिया है। मीमांसादर्शन में विधि, भेद इत्यादि क्रम से लक्षणों का विवेचन हुआ है। आचार्य भर्तृहरि द्वारा विपरीत क्रम लिये जाने का कारण भी पुण्यराज ने स्पष्ट किया है जिससे उनका कुशल टीकाकार होना भी सिद्ध हो जाता है। पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य भर्तृहरि ने वाक्य के सामान्य धर्मों का निर्देश किया

---

1. भेदस्य तु शास्त्रादिभेदभिन्नस्य तदभेदादभेदः प्रतिपक्षः।
—पु० रा० वा० प०, 2-77
2. तथा शेषशेषिभावस्य गुणप्रधानभावाविवक्षा प्रतिपक्षः। —वही
3. प्रयुक्तेरप्रयोजकः प्रतिपक्षः। —वही
4. क्रमस्याविवक्षा प्रतिपक्षः। —वही
5. सामान्यातिदेशस्य तदभाव एवापदवादः। —वही
6. विशेषातिदेशस्य सामान्यातिदेश एव विशेषान्तरातिदेशो वा। —वही
7. ऊहस्य सम्बन्धाबाधोऽपवादः। —वही
8. तुल्यबलानामविरोधात्समुच्चयो बाधस्यापवादः। तुल्यवलानामचरितार्थानां विरोधात्विकल्पोऽपि बाधस्यापवादत्वेन दर्शितः। —वही
9. तन्त्रस्यावृत्ति प्रतिपक्षः उक्तः। —वही
10. प्रासङ्गिकस्यापवादो भेदः। —वही

है। जो-जो न्याय पद पदार्थ की व्यवस्थापना में सम्भव हो सकता है उनका निर्देश करना भर्तृहरि का मुख्य प्रयोजन है। पाणिनि सूत्रों में[1] प्रसंग तथा तन्त्र न्याय प्रयुक्त हुए हैं अतः आचार्य भर्तृहरि न पहले इन्हीं का निर्देश किया है।

इन चौबीस लक्षणों को पुण्यराज ने लोक वेद एवं व्याकरणशास्त्र के उदाहरणों में घटित करके स्पष्ट किया है। जिससे पुण्यराज ने मीमांसादर्शन के लक्षणों की व्यापकता सिद्ध की है तथा इसके साथ-साथ पाणिनि सूत्रों की इन लक्षणों के द्वारा व्याख्या करके उनकी एक नई व्याख्या प्रस्तुत की है। यद्यपि महाभाष्य एवं काशिका में इन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है परन्तु उस व्याख्या में मीमांसादर्शन के लक्षणों को घटित करके उनकी शास्त्रीय व्याख्या करना पुण्यराज की व्याकरण शास्त्र को अनुपम देन है। इन लक्षणों पर पुण्यराज की टीका का अनुशीलन करने से उनकी विद्वत्ता का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

प्रसंग लक्षण

इस लक्षण का विवेचन मीमांसादर्शन के द्वादश अध्याय में हुआ है। मीमांसादर्शन में इस लक्षण का विवेचन वेद में पशु के लिये विहित प्रयाजादि के द्वारा पशु-पुरोडाश का भी उपकार सिद्ध करने के लिये किया गया है।[2] इस लक्षण का अर्थ है अन्य के लिये विहित कार्य की अन्यत्र प्रसक्ति।[3] मीमांसकों के इस लक्षण का अर्थ स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि एक ही कार्य जब दो अर्थियों के लिये प्रयोजक हो सकता है तब अन्य के लिये विहित उस कार्य को प्रसंगवश दूसरा भी कर ले तो उसे प्रसंग कहते हैं तथा वह कार्य प्रासंगिक कहलाता है।[4]

लौकिक उदाहरण

प्रसंग लक्षण की लोक में प्रवृत्ति दिखाते हुए पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण शास्त्र के सभी अध्येताओं द्वारा एक ही प्रदीप का प्रयोग प्रसंग ही है। अर्थात् एक के लिये भी प्रयुक्त दीपक प्रसंगवश सभी के काम आता है।[5] शबरस्वामी भी इसका यही

1. सर्वादीनि सर्वनामानि। —अ० सू० 1।1।127 तथा तपरस्तत्कालस्य अ० सू०, 1।1।70
2. पश्वर्थानुष्ठितप्रयाजादिभिरेव पशुपुरोडाशस्यापि उपकारसिद्धेस्तदर्थं पृथगङ्गाननुष्ठानाधिकरणम्। —मी० सू० 12।1।1 पर कुमारिल भट्ट
3. अन्यत्र कृतस्यान्यत्रापि प्रसक्ति प्रसङ्गः। —मी० सू० 12।1।1 शाबर भा०
4. तत्र द्वयोरर्थिनोः कार्येषां सम्भविना प्रयोजकत्वेन निर्ज्ञातसामर्थ्ययोर्यत्रान्यतरप्रयुक्तेनार्थेनापरोऽभिसम्बध्यमानः कृतार्थत्वात् पृथक्प्रयोजकत्वं नोपैति स प्रसङ्गः। तत्प्रयोजनकं प्रासङ्गिकम्। —वही पु० रा० वा० प०, 2-77
5. तद्यथा शालायमेकं प्रदीपं व्याकरणाध्यायिनः प्रयोजयन्ति। —वही, 2-77

उदाहरण देते हैं अन्तर केवल इतना ही है कि शबरस्वामी वैदिक ग्रन्थ के व्याख्याता होने के कारण 'व्याकरण के अध्येताओं के स्थान पर 'ब्राह्मणों द्वारा एक ही प्रदीप का प्रयोग करना उदाहरण देते हैं ।[1]

वैदिक उदाहरण

पुण्यराज ने प्रसंग का वैदिक उदाहरण, शबरस्वामी द्वारा प्रदत्त[2] उदाहरण को ही सरल करके दिया है । पुण्यराज कहते हैं कि वेद में अग्नीषोमीय पशु के लिये विनियुक्त प्रयाजादि विधियां अग्नीषोमीय पशुपुरोडाश को भी प्रसंगवश उपकृत करती है ।[3]

व्याकरण शास्त्र का उदाहरण

जहाँ तक वैदिक उदाहरणों का प्रश्न है पुण्यराज ने प्रायः शबरस्वामी द्वारा दिये गये उदाहरणों का अनुकरण किया है परन्तु इसके अतिरिक्त पुण्यराज ने मीमांसकों के लक्षणों को पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रवृत्त करके दिखाया है । व्याकरण शास्त्र में इन लक्षणों को घटित करके पुण्यराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भाषा को बनानेवाला शास्त्र भी भाषा के नियमों से बंधा रहता है । प्रसंग लक्षण की प्रवृत्ति पुण्यराज पाणिनि सूत्र 'सर्वादीनि सर्वनामानि' में प्रदर्शित करते हैं । इस सूत्र के द्वारा न केवल 'सर्वनाम' संज्ञा अपितु 'सर्वनाम' शब्द में पूर्वपदात्संज्ञायामगः (8।4।3) सूत्र से प्राप्त णत्व का निषेध भी होता है । कात्यायन वार्तिक 'सर्वनाम-संज्ञाया निपातनाण्णत्वाभावः' में कहा गया है कि 'सर्वनाम' शब्द का निपातन ही सर्वनाम शब्द न् को णत्व का निषेध करता है ।[4] पुण्यराज ने इस णत्व निषेध को मीमांसादर्शन के प्रसंग लक्षण द्वारा माना है । पुण्यराज कहते हैं कि इस सूत्र में मीमांसकों के प्रसंग लक्षण की प्रवृत्ति होती है क्योंकि संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध विधान परक सूत्र में 'सर्वनाम' शब्द का णत्व रहित प्रयोग करने से दो कार्य सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् रूप विशेष मात्र के निर्देश से एक ही प्रयत्न से दो कार्य सिद्ध हो जाते हैं ।[5]

---

1. ब्राह्मणानां मध्ये कृतः प्रदीपः । —मी० सू० 12।1।1 पर शाबर भा०
2. प्रयाजा पशोरपि चोदकेन प्राप्ता पशुपुरोडाशस्यापि पश्वर्था एव तु कृता पशुपुरोडाशस्योपकुर्वन्तीति पुनस्तदर्थं क्रियन्ते । —मी० सू० 12।1।1 पर शाबर भा०
3. वेदे यथा—अग्नीषोमीयस्य वपया प्रचर्याग्निषोमीयपशुपुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपन्ति । अत्राग्नीषोमीयपश्वर्थः प्रयाजानुयाजविध्यन्तः प्रसङ्गादग्नीषोमीयं पशुपुरोडाशमप्युपकरोति । —पु० रा० वा० प, 2-77
4. महा भा० अ० सू०, 1।1। 27 पर वार्तिक
5. तत्र हि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धविधानपरे वाक्ये रूपविशेषमात्रादकृतणत्वादुभयसाधनत्वं विज्ञायते । शक्यो ह्यस्य निर्देशात्पृथक् णत्वप्रतिषेधो वक्तुमित्येकेनैव प्रयत्नेनोभयमत्र वर्तत इति । —पु० रा० वा० प०, 2-77

प्रसंग का प्रतिपक्षी भेदलक्षण

मीमांसादर्शन के द्वादश अध्याय में ही इस भेद का भी विवेचन हुआ है। शबरस्वामी भेद का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भेद अतुल्यों में होता है अर्थात् जो चोदना से तुल्य न हों तथा अनेक वाक्यों द्वारा कहे गये हों उनमें तन्त्र का भेद होता है।[1] पुण्यराज इस भेद को प्रसंग का प्रतिपक्षी कहते हैं क्योंकि एक के द्वारा ही निवृत्त होने योग्य कार्य को भी इच्छावश भेद द्वारा करना ही भेद लक्षण कहलाता है।[2]

लौकिक उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि जब यह कहा जाये कि 'पात्रों' में ब्राह्मणों को भोजन कराओ' तब अलग-अलग ब्राह्मणो के लिये अलग-अलग पात्रों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् भेद द्वारा पात्र भोजन करने वालों की भोजन करना क्रिया में अधिकरण बनते हैं।

वैदिक उदाहरण

वेद में भेद लक्षण का उदाहरण देते हुये पुण्यराज कहते हैं कि 'ग्रहं सम्माष्टिं' इस वाक्य में जो ग्रह विषयक सम्मार्जन कहा गया है वह भेद द्वारा ही किया जाता है।[4]

व्याकरण का उदाहरण

इस लक्षण को व्याकरण में स्पष्ट करते हुये पुण्यराज 'न वेति विभाषा' सूत्र उद्धृत करते हैं। विधिमुख एवं निषेध मुख से अलग-अलग विभाषाओं की प्रवृत्ति होता है अर्थात् जहाँ प्राप्त नहीं है वहाँ विकल्प से प्राप्ति तथा जहाँ प्राप्त हो रहा है वहाँ निषेधमुख से विकल्प होता है अर्थात् अलग-अलग विभाषाओं की प्रवृत्ति होती

---

1. अतुल्येषु तु भेदः स्यात्। यानि तु चोदनातो न तुल्यानि, नानावाक्यैश्चोदितानि तेषु तु भेदः स्यात्तन्त्रस्य। —मी० सू० 12।1।10 पर शाबर भा०
2. एकप्रयत्ननिर्वर्त्यमपीच्छावशाद्भेदेनेच्छतीति प्रासङ्गिकस्यापवादो भेदः। —पु० रा० वा० प०, 2-77
3. यथा भिन्नानि पात्राण्यसह (णिसह) भुजां भुजिक्रियायां भेदेनाधि-करणभावं प्रतिपद्यन्ते। —पु० रा० वा० प०. 2-77
4. वैदिकेऽपि विषये यथा—'ग्रहं सम्माष्टिं' इत्यत्र यः सम्मार्गो ग्रह-विषये चोदितः, स भेदेनैव व्यवतिष्ठत इति। —वही, 2-77

है ।[1] महाभाष्य में प्राप्त एवं अप्राप्त में विभाषाओं के अनेक उदाहरण दिये हैं।[2] पुण्यराज ने यह स्पष्ट किया है कि सूत्र से जो प्राप्त एवं अप्राप्त से भिन्न-भिन्न विभाषाओं का ग्रहण होता है वह मीमांसकों के भेद लक्षण का ही उदाहरण है ।

तन्त्र लक्षण

तन्त्र लक्षण का विवेचन मीमांसादर्शन के एकादश अध्याय में किया गया है । मीमांसादर्शन में एक प्रश्न किया गया है कि दर्शपूर्णमास में आग्नेयादि प्रधान होते हैं जिनसे स्वर्ग फल मिलता है, दर्शपूर्णमास के द्वारा स्वर्ग की इच्छा वाला व्यक्ति यज्ञ करे । क्या वह तन्त्र से होता है अथवा भेद से ? अर्थात् दर्शपूर्णमास याग के अन्तर्गत आनेवाले छहों यागों का अलग-अलग अनुष्ठान करने से स्वर्ग प्राप्ति होती है अथवा उनमें से एक के ही अनुष्ठान से भी होती जाती है ।[3] इसी प्रश्न के उत्तर में तन्त्र लक्षण का विवेचन हुआ है । तन्त्र का अर्थस्पष्ट करते हुए शबरस्वामी कहते हैं कि जो एक बार किया गया बहुतों का उपकार करे उसे तन्त्र कहते हैं ।[4] मीमांसकों के इस तन्त्र लक्षण को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जो प्रयोजक के भेद अथवा आवृत्ति द्वारा प्रतिपादन किये जाने योग्य कार्य है, उसे सभी अर्थी संभव एवं लाघव के कारण एक ही प्रयोजक द्वारा कर लेते हैं उसे तन्त्र कहते हैं ।[5]

लौकिक उदाहरण

पुण्यराज ने तन्त्र का लौकिक उदाहरण देते हुए कहा कि पाठशाला में एक ही दीपक का सभी व्याकरण शास्त्र के अध्येता प्रयोग कर लेते हैं ।[6] सभी विद्यार्थियों को दीपक की आवश्यकता है लेकिन एक ही दीपक से सभी का कार्य सम्भव हो सकता है इसलिए एक ही दीपक द्वारा सभी के द्वारा कार्य कर लेना तन्त्र कहलाता हैं ।

---

1. शास्त्रे यथा—'न वेति विभाषा' इत्येतस्मिन् योगे प्रत्याख्यानमुभयत्र विभाषाणां क्वचिद्विधिमुखेन क्वचित् प्रतिषेधमुखेन विभक्तानां विभक्ता (प्र) वृत्तिराश्रीयत इति । —वही, 2-71
2. देखिये महाभाष्य अ० सू०, 1।1।44 पर
3. दर्शपूर्णमासयोः प्रधानान्याग्नेयादीनि । तेषां स्वर्गः फलं श्रूयते दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत । स किं तेषां तन्त्रेण भवति उत भेदेनेति ।
—मी० सू० 1।1।1 पर शाबर भा०
4. तत्र यत्सकृतकृतं बहूनामुपकरोति तत्तन्त्रम् । —वही
5. यत्रार्थिनः सर्वे प्रयोजका (क) भेदेनावृत्या वा योऽर्थः प्रतिपत्तव्यस्तमर्थकमेव संभवाल्लाघवाच्च प्रयोजयन्ति तत्तन्त्रम् । —पु० रा० वा० प०, 2-77
6. तद्यथा शालायामेकं प्रदीपं व्याकरणाध्ययिनः प्रयोजन्ति । —वही

मीमांसादर्शन में शबरस्वामी ने भी यही उदाहरण दिया है अन्तर केवल यही है कि उन्होंने व्याकरण के अध्येताओं के स्थान पर ब्राह्मणों का प्रयोग किया है।[1]

वैदिक उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि प्रधानभूत जो छह आग्नेय इत्यादि याग होते हैं उनके लिए किये जानेवाले प्रयाजादि पहले अथवा बाद में किये जाने पर भी सभी यागों का तन्त्र द्वारा उपकार करते हैं।[2] अर्थात् आग्नेयादि, प्रत्येक याग के लिए अलग-अलग-प्रयाजादि करने की आवश्यकता नहीं होती। छहों से पूर्व अथवा बाद में किये जाने पर ये छहों यागों को उपकृत कर देते हैं।

व्याकरण शास्त्र में तन्त्र लक्षण

मीमांसकों के इस लक्षण को व्याकरण शास्त्र में प्रदर्शित करते हुए पुण्यराज "तपरस्तत्कालस्य" सूत्र उद्धृत करते हैं। इस सूत्र में 'तपर' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। काशिका में कहा गया है कि तपर शब्द तः परः यस्स्मात्सः तथा तात्पर इन दो अर्थों के लिये प्रयुक्त हुआ है।[3] पुण्यराज कहते हैं कि इस सूत्र में मीमांसकों के तन्त्रलक्षण की प्रवृत्ति हुई है अर्थात् एक ही शब्द दो अर्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है[4] इग्यणः सम्प्रसारणम् सूत्र में भी पुण्यराज ने तन्त्र लक्षण की प्रवृत्ति मानी है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि एक व्यक्ति के यह पूछने पर कि यण् स्थानिक इक् लक्षण वर्ण की क्या संज्ञा होती है तथा दूसरे द्वारा यह पूछने पर कि यण् के स्थान पर इक् होता है इसका क्या अर्थ है, यदि स्थानि आदेश भाव लक्षण सम्बन्ध है, तो उसकी क्या संज्ञा है। इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर 'सम्प्रसारणम्' इस एक ही शब्द द्वारा दिया गया है।[5] अर्थात् एक ही शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। लक्ष्य में ही नहीं पाणिनि सूत्रों

---

1. बहूनां ब्राह्मानां मध्ये कृतः प्रदीपः। —मी० सू० 11।1।1 पर शाबर भा०
2. वेदे यथा—प्रधानभूता ये षड्यागा आग्नेयादयस्तदर्थं ये प्रयाजादयस्ते पूर्वं पश्चाद्वा कृताः सर्वेषां तन्त्रेण साधारण्येनोपकारका भवन्तीत्युच्यते।
—पु० रा० वा० प०, 2-77
3. तः परः यस्मात् सोऽयं तपरः। तादपि परस्तपरः।
—काशिका अ० सू०, 1।1।70
4. भिन्नार्थयोस्तपरशब्दयोस्तपरस्तकालस्येति तन्त्रिणोः सूत्रे उपादानं क्रियत इति।
—पु० रा० वा० प०; 2-77
5. यण्स्थानिकस्येग्लक्षणस्य वर्णस्य का संज्ञा स्यादित्येकेन पृष्टम्, तदपरेण यणिको केऽर्थः ? स्थान्यादेश भाव लक्षणः सम्बन्धः, स किंसंज्ञ इति, लाघाबादाचार्यस्तन्त्र-न्यायसमाश्रयणात् सम्प्रारसणमित्येकेनैव शब्देनोत्तरमाह। —वही०, 2-466

में भी तन्त्र लक्षण की प्रवृत्ति पुण्यराज ने दिखाई है । सूत्रों की रचना में भी आचार्य पाणिनि तन्त्र लक्षण का आश्रय लेते हैं उदाहरण के लिए बहुगणवतुऽति संख्या सूत्र में संख्या शब्द तन्त्र के द्वारा ही एक साथ कृत्रिम एवं अकृत्रिम संज्ञाओं की प्रतिपत्ति कराता है । महाभाष्य में यह कहा गया है कि संख्या संज्ञा संख्या की भी होनी चाहिए अर्थात् एक द्वि त्रि इत्यादि अकृत्रिम संख्याओं की भी संख्या संज्ञा होनी चाहिए अतः बहुगणवतु तथा डति की संख्या संज्ञा होती है तथा संख्या (एक दो इत्यादि) की भी संख्या संज्ञा होती है ।[1] इस प्रकार एक ही संख्या शब्द एक साथ दो अर्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका कारण पुण्यराज ने स्पष्ट किया है कि मीमांसकों के तन्त्र लक्षण के द्वारा ही एक ही संख्या शब्द दो अर्थ प्रदान करता है ।[2]

तन्त्र का प्रतिपक्षी आवृत्ति लक्षग

तन्त्र के विपरीत आवृत्ति लक्षण उसे कहते हैं जहां आवृत्ति द्वारा किया जाने पर ही उपकार करे । मीमांसादर्शन में इसी को आवाप भी कहते हैं ।[3] पुण्यराज एक स्थल पर आवृत्ति एवं भेद दोनों को तन्त्र एवं प्रसंग दोनों के ही प्रतिपक्षी मानते हैं । उन्होंने तन्त्र के प्रतिपक्षी आवृत्ति एवं भेद तथा प्रसंग के भी प्रतिपक्षी आवृत्ति एवं भेद कहे हैं । तन्त्र के प्रतिपक्षी के रूप में तो उन्होंने उदाहरण दिये हैं परन्तु प्रसंग के प्रतिपक्षी के रूप में आवृत्ति एवं भेद के उदाहरण नहीं दिये । एक स्थल पर ही पुण्यराज ने दोनों लक्षणों को दोनों के प्रतिपक्षी कहा है ।[4] अन्यथा वह प्रसंग का प्रतिपक्षी भेद तथा तन्त्र का प्रतिपक्षी आवृत्तिलक्षण ही मानते हैं ।[5] यही मानते हुए यहां भी प्रसंग के प्रतिपक्षी के रूप में भेद लक्षण तथा तन्त्र के प्रतिपक्षी के रूप में आवृत्ति लक्षण का विवेचन किया गया है ।

लौकिक उदाहरण

आवृत्ति लक्षण का लौकिक उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यदि यह कहा जाये कि एक वस्त्र अथवा आभूषण रणभूमि में भटों के लिए पर्याप्त है तो यहां

---

1. सङ्खयासंज्ञायां रूपविशेषानुरोधात्तत्प्रदेशेषु तन्त्रेणैव युगपदुभयप्रतिपत्तिरिति ।
—वहीं, 2-77
2. संख्यासंज्ञायां संख्याग्रहणं कर्त्तव्यम् । बहुगुणवतुडतयः संख्यासंज्ञा भवन्ति । संख्या-कच संख्यासंज्ञा भवतीति वक्तव्यम् । —महाभा० अ० सू० 1।1।2
3. यस्त्वावृत्योपकरोति स आवामः । —मी० सू०, 11।1।2 शाबर भा०
4. अथावृत्तिभेदयोस्तन्त्रप्रसङ्गप्रतियोगिनोर्निर्दर्शनमुच्यते ।
—पु० रा० वा० प०, 2-77
5. तन्त्रस्यावृत्ति प्रतिपक्षःउक्तः —वही
प्रासङ्गिकस्यापवादो भेदः । —वही

वस्त्र अथवा आभूषण आवृत्ति द्वारा ही सभी भटों के लिए उपयोगी होता है।[1] अर्थात् केवल एक वस्त्र ही सभी भटों के लिए उपयोगी नहीं अपितु प्रत्येक के लिए एक वस्त्र की आवश्यकता है।

वैदिक उदाहरण

आवृति का वैदिक उदाहरण देते हुए शबरस्वामी कहते हैं 'ब्राह्मणों का अनुलेपन करना रूप कार्य प्रत्येक ब्राह्मण के अनुलेपन द्वारा सम्पन्न होता है। अर्थात् अनुलेपन क्रिया आवृत्ति द्वारा सम्पन्न होती है।[2] पुण्यराज ने आवृत्ति का वैदिक उदाहरण इससे भिन्न दिया है। पुण्यराज कहते हैं कि वेद में सत्रह सामिधेनियाँ हैं। वास्तव में वे त्रयोदश होती है। जो एकशब्ददर्शन[3] को मानते हैं, उनके अनुसार त्रयोदश सामिधेनी ऋचाओं में से प्रथम एवं अन्तिम ऋचा की तीन-तीन बार आवृत्ति करके ही ऋचाओं का सप्तदशत्व सिद्ध होता है।[4] एक शब्ददर्शन पक्ष में ही आवृत्ति लक्षण द्वारा एक ही ऋचा की आवृत्ति हुई है शब्दाभेद पक्ष में तो एक ही ऋचा की आवृत्ति नहीं मानी जाती अपितु सभी ऋचाएं भिन्न-भिन्न ही होती हैं।

व्याकरण का उदाहरण

आवृत्ति लक्षण की प्रवृत्ति व्याकरण में प्रदर्शित करते हुए पुण्यराज 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' सूत्र उद्धृत करते हैं। यदि ज्ञापक पक्ष का आश्रय न लिया जाये तो सम्प्रसारण संज्ञा की प्रवृत्ति वर्ण एवं वाक्य दोनों के विषय में आवृत्ति द्वारा होती है। अर्थात् सम्प्रसारण संज्ञा यण् के स्थान पर इक् वर्ण की तथा 'यण् के स्थान पर इक्

---

1. यथा एकं वस्त्रमाभरणं वा रणभूमिषु भटानामुपयोगाय कल्पत इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-77

2. यथा तेषामेव ब्राह्मणानामनुलेपनम्। शेषवद्धा प्रयोजनं प्रतिकर्म विभज्ये।
—पी० सू० 11।1।2 शाबर भा०

3. एकशब्ददर्शन पक्ष में अलग-अलग अर्थों को प्रदान करने पर भी शब्द एक ही रहता है। जबकि अनेक शब्द दर्शन पक्ष के अनुसार अलग-अलग अर्थों में शब्द भी भिन्न हो जाते हैं चाहे उनका रूप समान होता है।
इसका विस्तृत विवेचन 'भर्तृहरि का पदार्थ विवेचन' अध्याय सात में किया गया है।

4. वेदे यथा—सप्तदश सामिधेन्यो भवन्तीति। अत्रैकशब्ददर्शने सामिधेनीषु सप्तदशत्वमावृत्तिसंख्यानात् प्रकल्प्यते। युदच्यते—'त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमामन्वाह' इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-77

होता है' इस वाक्य की भी आवृत्ति लक्षण द्वारा होती है। महाभाष्य में ज्ञापक पक्ष के आश्रयण के द्वारा वर्ण एवं वाक्य दोनों की ही सम्प्रसारण संज्ञा सिद्ध की गई है। महाभाष्य में यह कहा गया है कि सम्प्रसारणाच्च(6।1।108)तथा सम्प्रसारणस्य(6।3।139) सूत्रों की प्रवृत्ति इक् वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा मानकर ही होती है तथा यणः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे (6।1।13) सूत्र की प्रवृत्ति वाक्यविषयक संज्ञा मानकर होती है। इस प्रकार अलग-अलग निर्देश इस बात का ज्ञापक है कि सम्प्रसारण संज्ञा इक् वर्ण की भी होती है तथा 'यण् के स्थान इक् होता है' इस वाक्य की भी है।[1] पुण्यराज कहते हैं कि यदि ज्ञापक पक्ष का आश्रय न लें तो आवृत्ति लक्षण द्वारा भी वर्ण एवं वाक्य की सम्प्रसारण संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार पुण्यराज ने मीमांसादर्शन के द्वारा इस सूत्र की महाभाष्य से भिन्न नई व्याख्या दी है।

आवृत्ति लक्षण का एक अन्य उदाहरण पुण्यराज एक शब्ददर्शन पक्ष में ही 'एकाजनेकाज् ग्रह्णेषु चावृत्तिसंख्यानात्' वार्तिक देते हैं। इसका विस्तृत विवेचन महाभाष्य में पाणिनि के प्रत्याहार सूत्र 'अ इ उण्' पर किया गया है। इसी प्रत्याहार सूत्र की व्याख्या करते समय एकशब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन पर विचार किया गया है तथा दोनों ही पक्षों के विपक्ष में शंकाओं की उद्भावना करके उसका परिहार किया गया है। उपर्युक्त वार्तिक 'एकाजनेकाज् ग्रहणेषु चानुपपत्ति' इस एकशब्ददर्शन पक्ष में की गई शंका के परिहार के रूप में दिया गया है। एकशब्ददर्शन पक्ष में यह शंका उठाई गई है कि यदि अनेक उच्चारणों में वर्ण एक ही मानें तो एकाच् तथा अनेकाच् के ग्रहण में अनुपपत्ति होगी। उदाहरण के लिए किरिणा गिरिणा इत्यादि में यदि दोनों इकारों को एक ही मानें तो एकाच् लक्षण अन्तोदात्तत्व ('सावेकाचस्तृतीयादिविभक्तिः' 6।1।168) की प्राप्ति हो जाएगी जो अभीष्ट नहीं है तथा घटिकः (घटेन तरति) में यदि 'घट' के दोनों अकार एक ही मानें तो द्वयज् लक्षण ठन् प्रत्यय न हो सकेगा (नोद्व्यचष्ठन्) 4।4।7)।[2] इन शंकाओं का परिहार 'एकाजनेकाज्ग्रहणेषु

1. विभक्तिविशेषनिर्देशस्तु ज्ञापक उभयसंज्ञात्वम्। —अ० सू० 1।1।45 वार्तिक 3 यदयं विभक्तिविशेषैर्निर्देश करोति 'सम्प्रसारणात्परः पूर्वो भवती' ति, 'सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवती' ति, 'ष्यङः सम्प्रसारणं भवती' ति तेन ज्ञायते—'उभयोः संज्ञा भवतीति। यत्तावदाह—'सम्प्रसारणात्परः पूर्वो भवती' ति, सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवती' ति तेन ज्ञायते—वर्णस्य भवती' ति। यदप्याह ष्यङः सम्प्रसारणमिति तेन ज्ञायते 'वाक्यस्य संज्ञा भवती' ति।—महा० भा० अ० सू० 1।1।45 3 वार्तिक पर

2. एकाजनेकाज्ग्रहणेष चानुपपत्तिर्भवति। तत्र को दोषः? 'किरिणा' 'गिरिणे' त्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति। इह च 'घटेन तरति घटिकः' इति द्वयज्लक्षणष्ठन्न प्राप्नोति। —महाभा० प्रत्याहार सूत्र अ इ उ ण् पर वार्तिक 4 पर

चावृत्ति संख्यानात्' वार्तिक द्वारा किया है । अर्थात् एक ही वर्ण की आवृत्ति मानकर एकाज् एवं अनेकाच् का ग्रहण हो जाता है ।[1] पुण्यराज कहते हैं कि मीमांसकों के आवृत्ति लक्षण की प्रवृत्ति इस वार्तिक में हुई है ।[2]

बाध लक्षण

बाध लक्षण का विवेचन मीमांसादर्शन के दशम अध्याय में किया गया है । विकृतियाग में प्रकृतियाग के कार्य अतिदिष्ट होते हैं । प्रकृति याग के अंगों का विकृति याग में विशेष कारणों द्वारा बाध ही बाध लक्षण कहलाता है ।[3] पुण्यराज बाधलक्षण का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अर्थित्व अथवा सामान्योपदेश के द्वारा प्रवृत्ति सम्भव होने पर भी उसकी अप्राप्ति का अनुमान जहाँ होता है वही बाधा कहलाती है ।[4]

लौकिक उदाहरण

बाधा का उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'ब्राह्मणों को दही दो कौण्डिन्य को (तक्र) लस्सी दो' यहाँ कौण्डिन्य के विषय में प्राप्त दहीदान का तक्रदान के द्वारा बाध होता है ।[5]

वैदिक उदाहरण

इस लक्षण का वैदिक उदाहरण पुण्यराज ने 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः' दिया है । सामान्यतया ग्राम्यकुक्कुट भूख मिटा सकता है अतः सामान्य रूप से ग्राम्यकुक्कुट को भक्षण की प्राप्ति का 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः' वेदवाक्य द्वारा बाध हो जाता है ।[6]

---

1. एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तेः सङ्ख्यानादनेकाच्त्वं भविष्यति ।
—महाभा०, वही वार्तिक 10 पर
2. यथा चैकशब्ददर्शने 'एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानात्' इति परिहार उच्यते ।
—पु० रा० वा० प०, 2-77
3. बाधो नाम यदेवेदमिति निश्चितं विज्ञानं कारणान्तरमिथ्येति कल्प्यते ।
—मी० सू० 10।1।1 पर शाबर भा०
4. अथ बाधानिदर्शनं क्रियते । अर्थित्वात् सामान्योपदेशाद्वा सति प्रवृत्तिसम्भवे दृष्टादृष्टार्थमप्राप्त्यनुमानं यत्र सा बाधा । —पु० रा० वा० प०, 2-77
5. लौकिकं यथा—ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय' इत्यत्र दधिदानमौत्सर्गिकं तक्रदानेन विशिष्टे विषये बाध्यत इति ।
—पु० रा० वा० प०; 2-77
6. यथार्थित्वात् प्रवृत्ते सामान्येन भक्षणे 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः- इति ग्राम्यकुक्कुटभक्षणं क्षुत्प्रतिघातार्थमर्थित्वात् प्राप्तमनेन बाध्यत इति वैदिकमुदाहरणम् ।
—पु० रा० वा० प०; 2-77

व्याकरणशास्त्र का उदाहरण

पुण्यराज ने स्पष्ट किया है कि कर्मण्यण् इस सूत्र का आतोऽनुपसर्गे कः सूत्र द्वारा बाध होता है । यह मीमांसकों के बाध लक्षण का ही उदाहरण है ।[1]

बाधा का प्रतियोगी समुच्चयलक्षण

मीमांसादर्शन में इसे अभ्युच्चय कहा गया है। प्रकृतियाग के सभी अंगों का विकृतियाग में भी अतिदेश अभ्युच्चय कहलाता है।[2] समुच्चय का अर्थ स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि तुल्य बल वाले विरोध रहित कार्यों का प्रवृत्त होना समुच्चय कहलाता है।[3]

लौकिक उदाहरण

देवदत्त को नमक घी और सब्जी से भोजन कराओ कहने पर सभी के समुच्चय की प्रवृत्ति हो जाती है।[4]

वैदिक उदाहरण

'ब्राह्मणेभ्य पाद्यमाचमनं च दीयताम्' इस वेद वाक्य में पाद्य एवं आचमन दोनों ही तुल्यबल वाले तथा अविरोधी हैं अतः दोनों ही समुच्चित रूप से ब्राह्मणों को दिये जाते हैं।[5]

व्याकरण का उदाहरण

व्याकरण में एक ही प्रत्यय की प्रत्यय, कृत्य तथा कृत संज्ञा तथा एक ही प्रत्यय की प्रत्यय, तद्धित तथा तद्राज संज्ञा करने को पुण्यराज ने मीमांसकों का समुच्चय लक्षण माना है। अर्थात् समुच्चित रूा से विरोध के बिना ही ये संज्ञाएं व्याकरण में हो जाती है।[6]

---

1. शास्त्रे यथा—'कर्मण्यण्' इत्यस्य 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययेन बाधेति ।
:—वही

2. तथा अभ्युच्चयो यदिदमिह भवती' ति विज्ञातेऽपरमपि भवतीति ।
मी० सू० 10।1।1 पर शाबर भा०

3. अथ समुच्चयः तुल्यबलानामविरोधिनां समुच्चयः ।—
—पु० रा० वा० प०, 2-77

4. देवदत्तं 'भोजय लवणेन सर्पिषा शाकेन च' इति । —वही,

5. वेदेऽपि—'ब्राह्मणेभ्यः पाद्यमाचमनं च दीयताम्' इति ।
—पु० रा० वा० प०, 2-77

6. शास्त्रेऽप्यविरोधात्फलभेदाच्च प्रत्ययकृतकृत्यसंज्ञाः प्रत्ययतद्धिततद्राजसंज्ञाश्चैकत्र समुच्चीयन्त इति । —वही, 2-77

विकल्प लक्षण

आचार्य भर्तृहरि ने कारिकाओं में विकल्प लक्षण का निर्देश नहीं किया पुण्यराज ने ही इस लक्षण का निर्देश किया है तथा इसे भी बाधा लक्षण का प्रतियोगी माना है। इस लक्षण का अर्थ स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि विकल्प तुल्यबल वाले तथा परस्पर विरोधियों में होता है।[1]

लौकिक उदाहरण

'दधितक्रे कौण्डिन्याय' वाक्य में दधि एवं तक्र दोनों तुल्य बल वाले परस्पर विरोधी हैं अतः इनमें विकल्प लक्षण की प्रवृत्ति होती है अर्थात् या दधि या तक्र देना चाहिए।[2]

वैदिक उदाहरण

वेद में 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेत' वाक्य विकल्प लक्षण के उदाहरण के रूप में पुण्यराज ने उद्धृत किया है। इस वाक्य में व्रीहि तथा यवों में विकल्प होता है।[3]

व्याकरणशास्त्र का उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण में 'ण्वुलतृचौ' इत्यादि सूत्रों में विकल्प लक्षण की प्रवृत्ति होती है क्योंकि ण्वुल एवं तृच् दोनों का ही एक अर्थ का बोध रूप फल होता है अतः इन दोनों समान प्रमाण वालों में विरोध होने के कारण इनकी विकल्प से प्रवृत्ति होती है।[4] पुण्यराज कहते हैं कि विधि एवं प्रतिषेध में भी तुल्य बलत्व होने पर विरोध होने के कारण विकल्प होता ही है।[5]

ऊह लक्षण

ऊह लक्षण का विवेचन मीमांसादर्शन के नवम अध्याय में हुआ है। मीमांसा-दर्शन में ऊह का अपना विशेष महत्व है क्योंकि जिनके विषय में मन्त्रों का विधान नहीं है, उन कार्यों को भी प्रकृति याग के मन्त्रों में विभक्ति विपरिणाम करके सम्पन्न कर लिया जाता है। ऊह को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अतिदेश द्वार

---

1. विकल्पोऽपि बाधा प्रतियोगी। स च तुल्यप्रमाणविशिष्टानां विरुद्धानां भवति। — वही, 2-77
2. लोके दधितक्रे कौण्डिन्याय दीयतामिति एकफलदधितक्रदानचोदने। —वही,
3. वेदे यथा—व्रीहिभिर्यजेत' इति।
4. शास्त्रेऽपि ण्वुलतृचावित्यादि। —पु० रा० वा० प०, 2-77
5. विधिप्रतिषेधयोरपि तुल्यबलत्वे विरोधाद्विकल्पो भवत्येव। — वही, 2-77

प्रकृतियाग के मन्त्रों की विकृतियाग में प्राप्ति होने पर मन्त्रों में विकृतियाग के देवता के अनुकूल विभक्ति इत्यादि विपरिणाम करना ऊह कहलाता है। प्रकृतियाग में समर्थ मन्त्रों का विकृतियाग में सामर्थ्य का अभाव होने के कारण उनमें लिंग वचन इत्यादि का परिवर्तन कर लिया जाता है।[1]

लौकिक उदाहरण

ऊह लक्षण को लोक में स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'देवदत्तस्योच्चानि गृहाणि आढ्यो वैधवेयः' इस उदाहरण में वैधवेयः देवदत्त के लिए प्रयुक्त हुआ है देवदत्तस्य षष्ठ्यन्त है। आढ्यो वैधवेयः वाक्य में देवदत्तस्य की विभक्ति परिणत कर ली जाती है और प्रथमान्त (देवदत्तः) का ऊह द्वारा प्रयोग हो जाता है।[2]

वैदिक उदाहरण

वेद में प्रकृतियाग के देवता के लिए प्रयुक्त मन्त्रों का विकृतियाग में उस याग के देवता के अनुकूल विभक्ति इत्यादि को परिणत करके प्रयोग कर लेना ही ऊह कहलाता है। प्रकृति याग में अग्नि देवता के लिए अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र का उच्चारण होता है। विकृति याग में सूर्य देवता के लिए जब इस मन्त्र का प्रयोग करना होता है तब अग्नये के स्थान पर सूर्याय का प्रयोग ऊह का ही उदाहरण है।[3]

व्याकरण शास्त्र का उदाहरण

व्याकरण में ऊह लक्षण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण में सभी विभक्ति विपरिणाम ऊह लक्षण के ही उदाहरण हैं।[4] एक शब्द के योग में जो शब्द जिस विभक्ति से सम्बद्ध होकर उपलब्ध होता है, उस सम्बन्ध का त्याग होने से वह शब्द अन्य विभक्ति से युक्त हो जाता है।[5] उदाहरणार्थ 'उपदेशे

---

1. ऊहः खल्वपि प्रकृतौ समर्थानां विकारे सामर्थ्याभावात् प्रकृतिरूपलिङ्गवचनान्तरोपादानेन क्रियते। —पु० रा० वा० प०, 2-78
2. लोकेऽपि यथा देवदत्तस्योच्चानि गृहाणि आढ्यो वैधवेयः इत्यत्र षष्ठ्यन्तमोपह्य निमित्तवशात् प्रथमान्त ऊह्यते। —वही, 2-78
3. प्रकृतावग्नय इत्यग्निशब्दः समर्थोऽङ्गारार्थो दृष्टः। तत्र विकारे सूर्यायेत्यूह इत्येवमादिना निमित्तभेदेन बहुभेदो भवत्यूह इति वैदिकमुदाहरणम्। —वही, 2-78
4. व्याकरणेऽप्यूहविषयत्वमापन्नाः सर्वे विभक्तिविपरिणामाः —पु० रा० वा० प०, 2-78
5. तेषु हि योगान्तरे यथा विभक्त्या सम्बद्धो यः शब्द उपलब्धस्तत्सम्बन्धत्यागेनैव विभक्त्यन्तरयोगं स प्रतिपद्यते। —वही, 2-78

ऽजनुनासिक इत्' तस्य लोपः इन दोनों सूत्रों में इत् शब्द अलग-अलग विभक्तियों से युक्त होकर प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् पहले सूत्र में प्रथमा में प्रयुक्त हुआ है जबकि दूसरे सूत्र में षष्ठी (तस्य इतः) में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार पुण्यराज व्याकरण में ऊह एक का अन्य उदाहरण देते हुए कहते हैं कि 'भूवादयो धातवः' सूत्र में धातु शब्द प्रथमा विभक्ति बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है जबकि 'धातोरनुदात्तेतो ङित आत्मनेपदम्' सूत्र में विभक्ति एवं वचन का विपरिणाम करके षष्ठी विभक्ति एकवचन में प्रयुक्त हुआ है।[1] इस प्रकार पुण्यराज ने पाणिनि सूत्रों में भी ऊह लक्षण की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है जिससे मीमांसादर्शन के इस लक्षण को उन्होंने और अधिक व्यापकता प्रदान की है।

ऊह का प्रतियोगी सम्बन्ध का अबाध

मीमांसादर्शन के नवम अध्याय में इस लक्षण का विवेचन किया गया है। वहाँ यह कहा गया है कि प्रकृति याग मे प्रयुक्त शब्दों का वही रूप विकृति याग में भी प्रयुक्त होना चाहिए क्योंकि प्रकृति याग का मन्त्र विकृति याग के मन्त्र की प्रकृति है।[2] अर्थात् प्रकृतियाग में यदि अग्निव्रीहि शब्द प्रयुक्त हुए हैं तो विकृतियाग में भी प्रयुक्त होने चाहिए।[3] पुण्यराज ने इसी को सम्बन्ध का अबाध कहा है और ऊह का प्रतियोगी माना है।[4]

लौकिक उदाहरण

लोक में इस लक्षण की प्रवृत्ति दिखाते हुए पुण्यराज कहते हैं कि देवदत्तस्योच्चानि गृहाणि युक्तं तान्यभिजातस्य वाक्य में पहले देवदत्त शब्द षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। दूसरे वाक्य में विभक्ति विपरिणाम किये बिना ही देवदत्त शब्द सम्बन्ध को प्राप्त कर लेता है।[5] इसी प्रकार 'बदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्षः' वाक्य में 'बदरी' शब्द स्त्रीलिंग में है तथा 'वृक्षा' पुल्लिग में है फिर भी लिंग परिवर्तन

---

1. तद्यथा—उपदेशेऽजनुनासिक इत्, इतो लोपः, भूवादयो धातवः, धातोरनुदात्तेतो ङित आत्मनेपदमिति। —वही, 2-78
2. प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां ततो तत्प्रकृतित्वादर्थे चाकार्यत्वात्। —मी० सू०. 9।3।1
3. यत्प्रकृतो कर्त्तव्यं तद्विकृताविति। प्रकृतौ चाग्निव्रीहिशब्दौ प्रयुक्तौ तस्माद्विकृतावपि तावेव प्रयोक्तव्याविति। —वही, 9।3।1 पर शाबर भा०
4. अथोहप्रतिपक्षभूतं सम्बन्धाबाधनमपि निदर्श्यते। —पु० रा० वा० प०, 2-78
5. यथा देवदत्तस्योच्चानि गृहाणि युक्तं तान्यभिजातस्येति। अत्र यद्विभक्त्यन्तस्यैव श्रुतिः, तथा वाक्यान्तरेऽप्यभिसम्बन्ध इति। —वही, 2-78

किये बिना ही दोनों का सम्बन्ध हो जाता है। इसी प्रकार पंचाला जनपदः वाक्य में बहुवचनान्त पंचाल शब्द का भी एकवचनान्त जनपद पद से सम्बन्ध हो जाता है।[1]

वैदिक उदाहरण

वेद में सम्बन्ध के अबाध का उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'यजमानं दण्डेन दीक्षयति अद्भिर्दीक्षयति मेखलया दीक्षयति' उदाहरण में 'यजमानम्' शब्द बिना विपरिणाम के तीनों वाक्यों में सम्बन्ध को प्राप्त कर लेता है।[2]

व्याकरण का उदाहरण

व्याकरण में इस लक्षण की प्रवृत्ति दिखाते हुए पुण्यराज कहते हैं कि बहुगुण-वतु डति संख्या सूत्र में संख्या शब्द, स्वरूप पदार्थ वाला है जबकि ष्णान्ता षट् सूत्र में बिना विभक्ति इत्यादि का परिणाम किये वही संख्या शब्द संज्ञी (ष्णान्ता) के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है।[3]

सामान्यातिदेश

मीमांसादर्शन के सप्तम अध्याय में सामान्यातिदेश का विवेचन किया गया है। 'दर्शपूर्णमासादि' के विषय में धर्मों का वेद में प्रत्यक्ष विधान किया गया है परन्तु ऐन्द्राग्न इत्यादि याग जिनके धर्मों का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं किया गया उन यागों में भी प्रत्यक्ष विहित धर्म वाले कर्मों के धर्मों का अतिदेश कर लिया जाता है। सामान्य रूप से धर्मों का अतिदेश सामान्यातिदेश कहलाता है।[4] पुण्यराज अतिदेश कहलाती है।[5] अन्यत्र रूढ़ सम्बन्ध वाले धर्मों का अन्यत्र अतिदेश सामान्यातिदेश कहलाता हैं।[6]

---

1. तथा बदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्षः, पञ्चाला जनपद इत्येवमादिषु सम्बन्धा-बाधनं भवतीत्याहुः। —वही, 2-78
2. वेदेऽपि यथा—यजमानं दण्डेन दीक्षयति, अद्भिर्दीक्षयति मेखलया दीक्षयतीत्यत्र यजमानमित्यबाधितमेव सम्बध्यते। —पु॰ रा॰ वा॰ प॰, 2-78
3. शास्त्रेऽपि बहुगणवतुडतिसंख्येति योगे विधीयमानसम्बन्धस्य स्वरूपपदार्थकस्य संख्याशब्दस्य श्रुतस्य योगान्तरे संज्ञिविशेषणत्वं विज्ञायते। ष्णान्ता षट्संज्ञा भवतीति। —वही, 2-78
4. अधर्मकाणि ऐन्द्राग्न्यादीनि इति तेषु चिन्ता भवति, किमेषां धर्मा सन्त्युत नेति। तत्र सप्तमेन तावत्सन्ति धर्मा इत्युच्यते। —मी॰ सू॰, 7।1।1 पर शाबरभा॰
5. अन्यत्रान्यधर्मप्रापणमतिदेश। —पु॰ रा॰ वा॰ प॰, 2-79
6. सामान्यातिदेशो यथा—अन्यत्र रूढसम्बन्धा धर्मा निर्ज्ञातभेदेष्वर्थेषु प्रसिद्धै रनुमेय-भेदसम्भवैः सम्बन्धिभिर्व्यपदिश्यन्ते। —वही, 2-79

लौकिक उदाहरण

लोक में सामान्यातिदेश का उदाहरण स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यम्' कहने पर ब्राह्मण से सम्बद्ध कार्यों का क्षत्रिय में अतिदेश प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'गुरुवत् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्' उदाहरण में गुरु के कार्यों का गुरुपुत्र में अतिदेश होता है।[1] महाभाष्य में भी 'स्थानीवदादेशोऽनल्विद्धौ' पर भाष्य लिखते हुए यही उदाहरण दिया गया है।[2]

वैदिक उदाहरण

पुण्यराज स्पष्ट करते हैं कि 'दर्शपूर्णमास के समान अन्य यागों में आचरण करना चाहिये' ऐसा वेद में विधान सामान्यातिदेश कहलाता है।[3]

व्याकरण का उदाहरण

पाणिनि सूत्र स्थानिवदादेशेणोऽनल्विधौ स्थानी के कार्यों का आदेश में अतिदेश करता है[4] पुण्यराज कहते हैं कि इस सूत्र में मीमांसकों के सामान्यातिदेशलक्षण की प्रवृत्ति होती है।[5] क्योंकि इस सूत्र से स्थानी में किये जाने वाले कार्यों का सामान्यरूप से आदेश में अतिदेश होता है।

विशेषातिदेश

अतिदेश का दूसरा प्रकार विशेषातिदेश लक्षण है इसका तात्पर्य है सामान्य रूप से ब्राह्मणादि के कार्यों का ज्ञान होने पर भी विशिष्ट ब्राह्मण के लिये किये जाने-वाले कार्यों का अतिदेश विशेषातिदेश कहलाता है। पण्डित रघुनाथ शर्मा ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्राह्मण जाति के लिये किये जानेवाले सामान्य अग्रासन अनुगमन इत्यादि कार्य ज्ञात हो फिर भी 'ब्राह्मण के समान इस ब्राह्मण के

---

1. तद्यथा—ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यमित्यत्र यावानर्थो ब्राह्मणशब्दं न व्यभिचरति तावत्यर्थे यानि सम्बद्धानि कार्याणि तान्यत्यन्तमलब्धब्राह्मणव्यपदेशे क्षत्रियेऽतिदिश्यन्ते। तथा गुरुवद् गुरुपुत्रे वर्तितव्यमिति। —वही, 2-79
2. तद्यथा—गुरुवदस्मिन्गुरुपुत्रे वर्तितव्यमिति गुरौ यत्कार्यं तद्गुरुपुत्रेऽतिदिश्यते —महा० भा० अ० सू 1।1।56 वार्तिक पर
3. वेदे यथा—'दर्शपूर्णामसवदन्येष्वपि यागेषु प्रचरितव्यमिति। —पु० रा० वा० प०, 2-79
4. स्थान्यादेशयोः पृथक्वात् स्थान्याश्रयं कार्यमादेशे न प्राप्नोतीत्ययमतिदेश आरभ्यते। काशिका अ० सू०, 1।1।56
5. निर्ज्ञातसामान्यकार्येषु ब्राह्मणादिषु पुनरतिदेशसामर्थ्याद्विशिष्टप्रकृतिगतकार्यातिदेशः। —पु० रा० वा० प०, 2-79

साथ व्यवहार करना चाहिये' कहने पर विशिष्ट (श्रोत्रिय आदि) ब्राह्मणों के विशिष्ट कार्यों (अर्धोपनयनादि) का अतिदेश विशेषातिदेश कहलाता है।[1]

लौकिक उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि ब्राह्मणवदस्मिन् ब्राह्मणे वर्तितव्यम्' वाक्य में विशेषातिदेश हुआ है। अर्थात् ब्राह्मणोचित असामान्य ग्रासन, अनुगमन इत्यादि कार्य तो सभी ब्राह्मणों के लिये जाने चाहिये क्योंकि ये कार्य व्यभिचार युक्त नहीं है परन्तु कुछ विशिष्ट अधर्म उपनयन इत्यादि कार्य भी होते हैं जिनका व्यभिचार हो सकता है। 'ब्राह्मणवदस्मिन् ब्राह्मणे वर्तितव्यम्।' वाक्य द्वारा उन्हीं कार्यों का अतिदेश द्वारा विधान होता है। विशेष अतिदेश के बिना ये अग्रासन इत्यादि नहीं हो सकते हैं।[2]

वैदिक उदाहरण

वेद में विशेषातिदेश लक्षण का उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि आग्नेयवत् सौर्ये कहने पर विशिष्ट अग्नि देवता सम्बन्धी कार्यों का विशिष्ट सूर्यदेवता के लिये अतिदेश होता है।[3]

व्याकरण शास्त्र में विशेषातिदेश

व्याकरणशास्त्र में पुण्यराज ने छह प्रकार का अतिदेश उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है। यद्यपि काशिकाकार एवं महाभाष्यकार ने सूत्रों की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि यह रूपातिदेश है, यह कार्यातिदेश है, इत्यादि, फिर भी पुण्यराज की यह विशेषता है कि पुण्यराज ने रूपातिदेश इत्यादि छह अधोवर्णित अतिदेशों को मीमांसकों के विशेषातिदेश के रूप में निर्दिष्ट किया है और सूत्रों में उन अतिदेशों की प्रवृत्ति स्पष्ट की है।

---

1. यत्र ब्राह्मणादिषु ब्राह्मणत्वादिजातिप्रयुक्तानि सामान्यकार्याण्यग्रासनानुगमनकुशलप्रश्ननमस्कारादीनि निर्ज्ञातानि तत्र पुनरस्मिन् ब्राह्मणे ब्राह्मणवद् वर्तितव्यमित्यतिदेशफलाभावेऽप्यतिदेशसामर्थ्याद् विशिष्टप्रकृतिगतं (श्रोत्रियादिब्राह्मणसम्बद्धम्) विशिष्टं कार्य(कार्यविशेषः) अर्धोपनयनादिरतिदिश्यते।
—पु० रा० 2-79 पर अम्बाकर्त्री (पं० रघुनाथशर्मा)

2. यथा ब्राह्मणवदस्मिन् ब्राह्मणे वर्तितव्यमिति। उक्तं च
सामान्यमात्रं शब्दार्थो विशेषा व्यभिचारिणः।
सामर्थ्यमन्तरेणातो विशेषो नातिदिश्यते॥ इति—पु० रा० वा० प०, 279

3. वेद यथा—'आग्नेयवत् सौर्ये' इत्यत्रैकदेवताकस्यैकदेवतावत्सबन्ध्येव विध्यन्त इति।
—वही, 2-79

(i) रूपातिदेश

'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र पुण्यराज ने रूपातिदेश के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया है। इस सूत्र का अर्थ है द्विर्वचन निमित्तक अच् परे रहने पर द्वित्व करने के लिये अजादेश स्थानिवत् होता है।[1] पुण्यराज ने स्पष्ट किया है कि यह रूपातिदेश का उदाहरण है। क्योंकि या+अतुस् तथा कृ+अतुस् रूपों के प्राप्त क्रमशः आ लोप (आतो लोपः ईटि च) तथा यण्, इस सूत्र द्वारा स्थानिवत् सिद्ध होते हैं अर्थात् द्वित्व करने के लिये आ लोप तथा यण् नहीं हुआ माना जाएगा जिससे य् अतुस्, तथा कर् अतुस् न होकर या अतुस् तथा कृ अतुस् ही माना जाएगा तथा द्वित्व या तथा कृ का ही होगा। पुण्यराज कहते हैं कि इस सूत्र से धातु के रूप का ही अतिदेश हुआ है अर्थात् य् तथा कर् न होकर इस सूत्र द्वारा या तथा कृ का अतिदेश हुआ है। तभी ययतुः चक्रतुः रूप बनते हैं।[2] इस प्रकार यद्यपि काशिकाकार ने भी कहा है कि यह सूत्र रूपातिदेश करता है[3] परन्तु पुण्यराज ने प्रक्रियाओं के माध्यम से स्पष्ट किया है कि किस प्रकार यह सूत्र रूपातिदेश करता है। इससे पुण्यराज का प्रक्रिया ज्ञान भी स्पष्ट हो जाता है।

(ii) निमित्तातिदेश

निमित्तातिदेश के उदाहरण के रूप में पुण्यराज पूर्ववत्सनः (1।3।62) सूत्र उद्धृत करते हैं। काशिका में यह कहा गया है कि सूत्र का तात्पर्य है कि जिस निमित्त के द्वारा सन् प्रत्यय लगने से पहले धातु से आत्मनेपद होता है उसी निमित्त से सन् प्रत्यय युक्त होने पर भी होता है।[4] पुण्यराज का कहना है कि यह सूत्र निमित्त का अतिदेश करता है। अर्थात् सन् प्रत्यय से पूर्व धातु का आत्मनेपद में जो ङित आदि (अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम्) निमित्त है वही निमित्त सन् प्रत्यय होने पर भी अतिदिष्ट होता है।[5]

---

1. द्विर्वचननिमित्तेऽचि अजादेशः स्थानिवद्भवति द्विर्वचन एव कर्त्तव्ये।
—काशिका अ० सू०, 1।1।59

2. तत्र रूपातिदेशो यथा—द्विर्वचनेऽचि इत्यत्र हि धातुरूपमेवादेशस्यातिदिश्यते। ततश्च 'या' 'कृ' इत्यादीनामेव द्विर्वचनं भवति। यथा ययतुश्चक्रतुरिति।
—पु० रा० वा० प०, 2-79

3. रूपातिदेशश्चाय नियतकालः। —काशिका अ० सू० 1।1।59

4. येन निमित्तेन पूर्वस्मादात्मनेपदं विधीयते तेनैव सन्नन्तादपि भवति।
—काशिका, 1।3।62

5. निमित्तातिदेशो यथा-पूर्ववत्सन इति। अत्र पूर्वस्य यन्निमित्तमात्मनेपदे ङकारादि तदेव सन्नतस्यातिदिश्यत इति। —पु० रा० वा०,प०, 2-78

यद्यपि काशिकाकार ने भी यह कहा है कि जिस निमित्त से सन् लगने से पहले आत्मनेपद हुआ है उसी निमित्त से सन् प्रत्यय लगने के बाद भी आत्मनेपद होता है परन्तु पुण्यराज ने तो यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सूत्र निमित्तातिदेश करता है उन्होंने यह भी बताया कि कौन से निमित्त अतिदिष्ट होते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि धातु का ङित होना तथा अनुदात्तेत होना आत्मनेपद के निमित्त है। इन्हीं निमित्तों का ही सन् प्रत्यय लगने पर भी अतिदेश होता है। महाभाष्य में भी इस सूत्र पर वार्तिक की व्याख्या में यह कहा गया है कि यह सूत्र आत्मनेपद के लिंग (निमित्त) का अतिदेश करता है।[1]

(iii) तादात्म्यातिदेश

तादात्म्यातिदेश का उदाहरण पुण्यराज ने 'सुवामन्त्रितेपराङ्गवत्स्वरे' (2।1।2) सूत्र दिया है। यद्यपि काशिकार ने भी इस सूत्र के विषय में कहा है कि यह तादात्म्यातिदेश है।[2] पुण्यराज की यह विशेषता है कि उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि इस सूत्र में किस प्रकार तादात्म्य का अतिदेश है उन्होंने स्पष्ट किया है कि इस सूत्र में सुबन्त पद आमन्त्रित पद के साथ, मिट्टी के ढेले तथा जल के समान तादात्म्य को प्राप्त करके आमन्त्रित के स्वर को प्राप्त कर लेता है।[3] इस प्रकार पृण्यराज इस सूत्र की व्याख्या तादात्म्यातिदेश के द्वारा करते हैं।

(iv) तथा (v) कार्यातिदेश एवं शास्त्रातिदेश

पुण्यराज ने कार्यातिदेश एवं शास्त्रातिदेश दोनों के उदाहरण के रूप में कर्मवत्कर्मणातुल्यक्रियः (3।1।87) सूत्र उद्धृत किया है।[4] सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजीदीक्षित ने इस सूत्र की व्याख्या मे इस सूत्र को कार्यातिदेश का विधायक कहा है।[5] महाभाष्य म इस सूत्र से शास्त्रातिदेश माना गया है इसीलिये 'भावकर्मणोर्यग्विधाने कर्मकर्तयुपसंस्थानम'[6] वार्तिक की आवश्यकता होती है। पुण्यराज कहते हैं कि यदि इस

---

1. सिद्धं तु पूर्वस्य लिङ्गातिदेशात् (महाभा० अ० सू०, 1।3।62)
2. तादात्म्यातिदेशोऽयम्। —काशिका, अ० सू०, 2।1।2
3. तादात्म्यातिदेशो यथा—'सुवानमन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' इति। सुबन्तमामन्त्रितस्य मृत्पांसूदकवत् तादात्म्यमापद्य तत्स्वरं लभत इति। —पु० रा० वा० प०, 2-79
4. शास्त्रातिदेशः कार्यातिदेशो वा यथा-कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः इति। —वही, 2-79
5. कार्यातिदेशोऽयम्। भट्टोजीदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी, अ० सू० 3।1।87
6. महा भा०, 3।1।87 वार्तिक 3

सत्र से शास्त्रातिदेश माने अर्थात् इस सूत्र के द्वारा कर्मस्थ क्रिया के तुल्य क्रिया वाले कर्त्ता को कर्मवत् शास्त्र की प्राप्ति होती हैं, यह अर्थ मानें तो यह सूत्र यक् का विधान नहीं करता अतः यक् विधान 'सार्वधातुके यक्' सूत्र (3।1।67 द्वारा प्राप्त होगा यह सूत्र कर्त्तरि शप् (3।1।68) से पूर्ववर्ती है अतः कर्त्तरि शप् सूत्र से यक् का बाध होकर शप् की प्राप्ति होगी जो अभीष्ट नहीं है। इसलिये भावकर्मणोः यग्विधाने कर्म-कर्तयुपसंख्यानम्' वार्तिक से पुनः यक् विधान किया गया है।[1]

पुण्यराज कहते हैं कि यदि इस सूत्र के द्वारा कार्यातिदेश मानें तब महाभाष्य में दिये गये इस वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस सूत्र द्वारा ही कर्मस्थ क्रिया के तुल्य क्रियावाला कर्त्ता कर्मवत् कार्य (यक्) को प्राप्त कर लेता है अर्थात् यक् भी इसी सूत्र द्वारा होने के कारण कर्त्तरि शप् से यक् का बाध नहीं हो सकता क्योंकि यह सूत्र कर्त्तरि शप् से परवर्ती है।[2] इस सूत्र को कार्यातिदेश का उदाहरण बताकर पुण्यराज यह भी सिद्ध कर देते हैं कि यदि यह वार्तिक न भी हो तो भी सूत्र द्वारा भी कार्य सिद्ध हो जाता है। वार्तिक की अनावश्यकता सिद्ध करके पुण्यराज पाणिनि सूत्र के लिये महत्वपूर्ण कार्य करते हैं उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि पाणिनि सूत्र अपने में पूर्ण है। सूत्र द्वारा ही कार्य सिद्ध हो जाता है वार्तिक देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

व्यपदेशातिदेश

पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण में व्यपदेशातिदेश सम्भव नहीं होता।[3]

अधिकार लक्षण

अधिकार लक्षण का विवेचन मीमांसादर्शन के छठे अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है। मीमाँसादर्शन में वैदिक कृत्यों के सम्बन्ध में अधिकार का विवेचन किया गया है। पुण्यराज की यह विशेषता है कि उन्होंने इस लक्षण का विवेचन केवल वेद के सन्दर्भ में न करके व्याकरण शास्त्र एवं लोक में भी इसकी प्रवृत्ति सिद्ध की है। अधिकारलक्षण का विवेचन आचार्य भर्तृहरि निम्न कारिका में करते है—

> अर्थित्वमत्र सामर्थ्यमस्मिन्नथो न भिद्यते।
> शास्त्रात्प्राप्ताधिकारोऽयं व्युदासोऽस्य क्रियान्तरे ॥[4]

---

1. अत्र हि शास्त्रातिदेशे यकः शपा बाधन स्यादिति यग्विधौ कर्मकर्तयुपसंख्यानमारभ्यते। विप्रतिषेधाद्धि शपो बलीयस्त्वमिति। —पु० रा० वा० प०, 278
2. कार्यातिदेशे तु कर्मवत्कर्मणेत्यनेनैव यग्विधीयत इति यक एव परत्वान्नास्त्यस्य शपा बाधेति नोपसंख्यानारम्भः। —वही, 2-78
3. व्यपदेशातिदेशस्तु व्याकरणे नैव सम्भवति। —वही, 2-78
4. वा० प०, 2-79

इस कारिका के पूर्वार्ध का अर्थ सुब्रह्मण्य अय्यर ने अर्थित्वमत्र सामर्थ्यम्, अस्मिन्नर्थो न भिद्यते। इस प्रकार दो वाक्य बनाकर किया है जिससे यह अर्थ होता है—'यहाँ (यज्ञ फल के लिये) अर्थित्व का अर्थ है यज्ञ को करने का सामर्थ्य, जबकि फल की दृष्टि से कोई भेद नहीं होता।[1]

के० राघवन पिल्लै कारिका के पूर्वार्ध में तीन वाक्य मानकर अनुवाद करते हैं—(1) अर्थित्वमत्र, (2) सामर्थ्यमस्मिन् (3) अर्थो न भिद्यते। अर्थात् यहाँ कार्य के प्रति अर्थित्व प्रदर्शित किया गया है, (दूसरे स्थान पर) इसका सामर्थ्य (दिखाया गया है) तथा (इस तीसरे वाक्य में) दोनों (अर्थित्व एवं सामर्थ्य) का एक ही प्रयोजन है।[3] चाहे किसी प्रकार से भी कारिका का अर्थ करे अधिकार के लिये मुख्य तीन बातें आवश्यक हैं।[2] अर्थित्व, (2) सामर्थ्य तथा (3) शास्त्र के द्वारा उस कार्य को करने की अनुमति।[3] पुण्यराज ने इन तीनों की आवश्यकता प्रदर्शित की है तथा 'शास्त्र अपर्युदास' को मुख्य कारण बताया है। पुण्यराज का कहना है कि अधिकार का सर्वप्रथम कारण अर्थित्व अर्थात् प्राप्ति की इच्छा है। अपवर्ग सबसे बड़ा पुरुषार्थ है इसको प्राप्त करने की इच्छा होनी चाहिये।[4] कई बार इच्छा होने पर भी व्यक्ति सामर्थ्य के अभाव के कारण प्रमाद करता है। अतः अर्थित्व होने पर भी सामर्थ्य का होना भी अधिकार का कारण है अर्थात् अर्थित्व के साथ-साथ सामर्थ्य भी होना आवश्यक है। देखने की इच्छा होने पर भी अन्धा व्यक्ति देखने का अधिकारी नहीं होता।[5] शास्त्र से पर्युदास के कारण भी सामर्थ्य का अभाव होता है। उदाहरण के लिये शूद्रों का वेदत्रयी में अधिकार नहीं होता। पुण्यराज कहते हैं कि विशेष अदृष्ट अर्थ में सामर्थ्य का निश्चय शास्त्र द्वारा ही होता है। अतः अधिकार का प्रधान कारण शास्त्रोपदेश कहलाता हैं।[6]

---

1. वाक्यपदीय ऑफ भर्तृहरि द्वितीयकाण्ड के० ए० सुब्रह्मण्या अय्यर
2. देखिये वा० प०, 2-79 के० राघवन पिल्लै।
3. अर्थत्वं सामर्थ्यं शास्त्रापर्युदासयोगित्वमधिकारः स विद्यते यस्यासावधिकारी।
—पु० रा० वा० प०, 2-79
4. अर्थित्वमधिकारकारण्यम्। परं हि पुरुषार्थमज्ञपवर्गमाचक्षते। —वही, 2-79
5. अस्मादप्यर्थी प्रमाद्यति कश्चिदिति सत्येवार्थित्वे सामर्थ्यमधिकारकारणम्। उत्पन्नायां ह्यभिनयनदिदृक्षायामन्धो दर्शने नाधिक्रियते। —वही, 2-79
6. अर्थिनः खल्वपि सामर्थ्याभावः केषुचित्कर्मसु शास्त्रेण पर्युदासात्। यथा शूद्रास्त्रयां नाधिक्रियन्ते/अदृष्टार्थविशेषे हि सामर्थ्यासामर्थ्ये शास्त्रादेव समधिगम्येते। तस्मात् प्रधानमधिकारकारणं शास्त्रोपदेशमाचक्षते। —वही, 2-79

लौकिक उदाहरण

पुण्यराज का कहना है कि जब राजा किसी व्यक्ति को कहता है कि आज से तुम इस नगर अथवा ग्राम के अधिकारी हो तो इस प्रकार राजा के द्वारा उस व्यक्ति को अधिकार दिया जाता है।[1]

वैदिक उदाहरण

पुण्यराज अधिकार लक्षण का वैदिक उदाहरण देते हुए कहने हैं कि 'स्वर्ग की इच्छा वाला ब्राह्मण अग्निहोत्र यज्ञ करे' ऐसा वेद में मिलता है। इस उदारहण में अर्थित्व सामर्थ्य एवं शास्त्रोपदेश के द्वारा ब्राह्मण को अग्निहोत्र का अधिकार है।[2] मीमांसादर्शन में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को यज्ञ का अधिकारी कहा गया है। शबरस्वामी कहते हैं कि अग्निहोत्रादि कर्मों में तीनों का ही अधिकार है क्योंकि अग्न्याधान में तीनों का ही निर्देश किया गया है—'वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करें। ग्रीष्म में क्षत्रिय तथा शरद् में वैश्य। शूद्र के लिए अग्नि के आधान की श्रुति नहीं है अतः शूद्र का अग्निहोत्रादि में सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस प्रकार के वाक्य ब्राह्मणादि को अधिकृत करके ही प्रवृत्त होते हैं।[3]

अधिकार लक्षण की व्याकरण शास्त्र में प्रवृत्ति

पुण्यराज ने व्याकरण शास्त्र में भी अधिकार की प्रवृत्ति बताई है। उन्होंने व्याकरण शास्त्र के अधिकारों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण शास्त्र का अधिकार शब्द अर्थ तथा पुरुष धर्मों में होता हैं।[4] इस

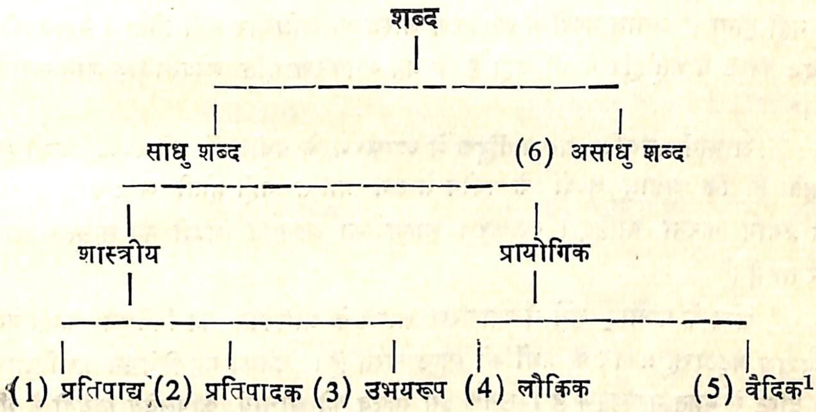
---

1. लोके यथा—अद्यप्रभृति त्वमत्र ग्रामे नगरे वाऽधिकृत इति राजा नियुङ्क्ते।
—पु० रा० वा० प०, 2-79
2. वेदे यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामो ब्राह्मणः' इत्यत्र ब्राह्मणस्यार्थित्वादिभिरधिकारः। इति। —वही
3. निर्देशाद्वा त्रयाणां अग्न्याधेये ऋतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यत्रात्रेयः।
—मी० सू० 6।1।26

त्रयाणामधिकारः स्यात्/कुतः। अग्न्याधेये निर्देशात्। अग्न्याधेये त्रयाणां निर्देशो भवति। वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्य इति। शूद्रस्याधाने श्रुतिर्नास्तीत्यग्निः शूद्रोऽसमर्थोऽग्निहोत्रादिनिवर्तयितुम्। तस्मात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्येवमादिषु शूद्रस्य प्रापिका श्रुतिर्नास्ति ब्राह्मणादिनामेवाधिकृत्य सा प्रवर्तते। ते हि समर्थाः। —मी० सू०, 6।1।26 पर शाबर भा०
4. शास्त्रस्य तु शब्दार्थपुरुषधर्मेष्वधिकारः। —वही

सन्दर्भ में पुण्यराज ने शब्द एवं अर्थ के प्रकारों का विवेचन किया है।

स शब्द का विवेचन करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि शब्द छह प्रकार का होता है। सर्वप्रथम शब्द साधु एवं असाधु दो प्रकार का होता है। साधु शब्द शास्त्रीय एवं प्रायोगिक दो प्रकार के होते हैं। शास्त्रीय शब्द भी तीन प्रकार का होता है प्रतिपाद्य, प्रतिपादक तथा उभय रूप। प्रायोगिक शब्द लौकिक एवं वैदिक दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के शास्त्रीय तथा दो प्रकार के प्रायोगिक साधु शब्द मिलकर पांच हुए तथा एक भेद असाधु शब्द हुआ। इस प्रकार पुण्यराज ने शब्दों के छह प्रकार अपनी टीका में प्रदर्शित किये हैं और उनका पृथक्-पृथक् स्पष्टीकरण भी किया है। निम्न तालिका से शब्द के छह भेदों का स्पष्टीकरण हो जाएगा—



शास्त्रीय शब्द का सर्वप्रथम भेद प्रतिपाद्य शब्द है। पुण्यराज कहते हैं कि दाधर्ति[2] इत्यादि निपात्यमान शब्द प्रतिपाद्य शब्द कहलाते हैं।[3]

प्रतिपादक शब्द प्रकृतिप्रत्यय इत्यादि को कहते हैं क्योंकि उनके द्वारा प्रयोगस्थ कुम्भकार इत्यादि शब्द प्रतिपन्न होते हैं।[4]

---

1. तत्र षोढा शब्दः साधुरसाधुश्च। साधुरपि शास्त्रीयः प्रायोगिकश्च। शास्त्रीयोऽपि त्रेधा-प्रतिपाद्यः, प्रतिपादकः, उभयरूपश्च प्रायोगिकोऽपि लौकिकवैदिकभेदेन द्विधेत्येवमसाधुना सह षोढा शब्दः —पु० रा० वा० प०, 2-79

2 दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्तेऽलर्ष्यापनीफणत्संसनिष्यदत्यकरिक्रत्कनिदद्भरिभ्रद्द-विध्वतोदविद्युतत्तरित्रतः सरीसृपतंवरीवृजन्मर्मृज्यागनीगन्तीति च॥ —अ० सू० 7।4।65

3. तत्र प्रतिपाद्यो यथा—दाधर्त्यादिर्निपात्यमानः। —पु० रा० वा० प०, 2-79

4. प्रतिपादको यथा—प्रकृतिप्रत्ययादिः। तेन हि कुम्भकारादिः प्रयोगस्थः प्रतिपाद्यते। —वही, 2-79

उभयरूप शब्दों का उदाहरण पुण्यराज ने 'इतव्य' शब्द दिया है पुण्यराज कहते हैं कि इतव्य शब्द तव्य प्रत्यय से बना होने के कारण प्रतिपाद्य तथा 'भवितव्यम्' में इतव्य का प्रतिपादक होने के कारण प्रतिपादक शब्द भी कहलाता है।[1]

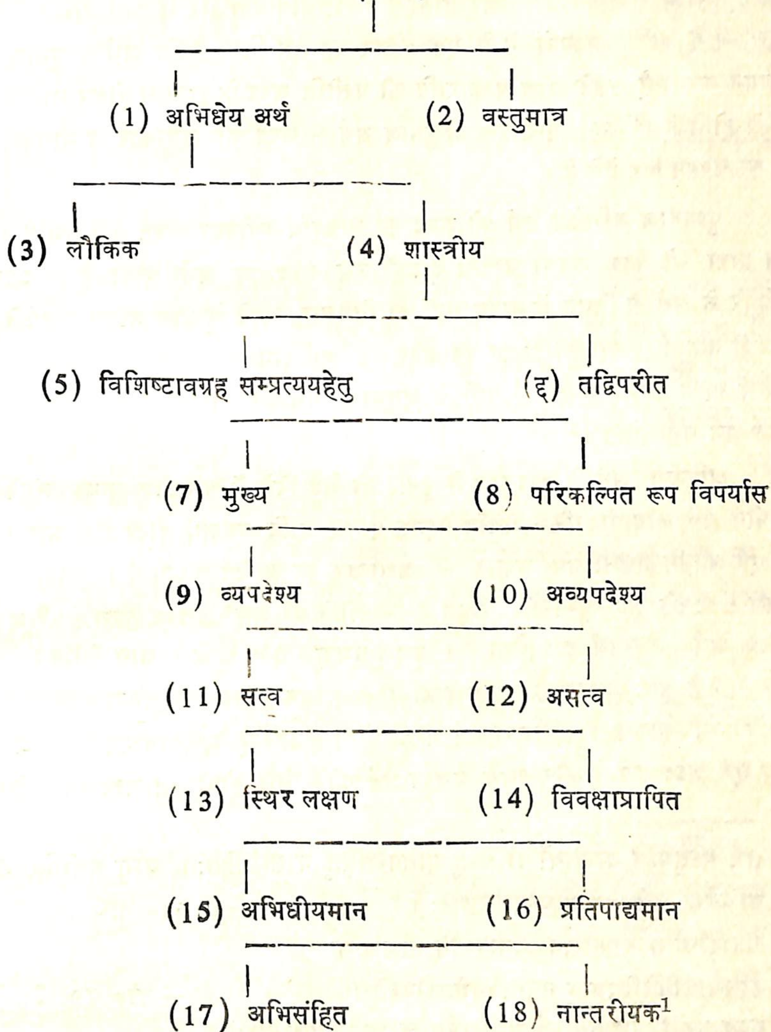
वाक्यपदीय के प्रथमकाण्ड में भर्तृहरि व्याकरणशास्त्र की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए शब्दों को दो प्रकार का मानते हैं अन्वाख्येय तथा प्रतिपादक।[2] आचार्य भर्तृहरि ने जिन्हें अन्वाख्येय नाम दिया है उन्हें पुण्यराज ने प्रतिपाद्य शब्द कहा है। पुण्यराज ने अपनी टीका में यह भी स्पष्ट किया है कि व्याकरण शास्त्र का अधिकार प्रतिपाद्य शब्दों में ही होता है। प्रतिपादक अर्थात् प्रकृति प्रत्यय इत्यादि व्याकरण के द्वारा प्रतिपन्न नहीं होते इसलिए व्याकरण शास्त्र का अधिकार प्रकृतिप्रत्यय आदि में नहीं होता।[9] असाधु शब्दों में व्याकरण शास्त्र का अधिकार नहीं होता। वाक्यपदीय प्रथम काण्ड में भर्तृहरि ने भी कहा है कि यह व्याकरणस्मृति शब्दसाधुत्व ज्ञान कराती है।[4]

आचार्य पतंजलि पस्पशाह्निक में व्याकरण के प्रयोजनों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि असाधु शब्दों के प्रयोग से धर्म प्राप्ति नहीं होती अतः साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। व्याकरण शास्त्र का अध्ययन शब्दों का साधुत्व ज्ञान कराता है।[5]

शब्द के पश्चात् अर्थ में व्याकरण शास्त्र के अधिकार का विवेचन करते हुए पुण्यराज अट्ठारह प्रकार के अर्थों को स्पष्ट करते हैं। उनका यह विवेचन अर्थविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। उनके इस महत्व को आचार्य कपिलदेव द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है तथा पुण्यराज द्वारा वर्णित अर्थ के अट्ठारह प्रकारों का उन्होंने भी विवेचन किया है। पुण्यराज द्वारा अट्ठारह प्रकार के अर्थ निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट हो जायेंगे—

---

1. उभयरूपो यथा—इतव्यशब्दः। स हि तव्य शब्देन प्रतिपाद्यते। प्रयोगस्थं च इतव्यशब्दं प्रतिपादयति। —पु० रा० वा० प०, 2-79
2. 'अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादका॥' —वा० प०, 1-24
3. तेषु मध्ये प्रतिपाद्येषु व्याकरणशास्त्रस्याधिकारः न प्रकृत्यादिषु। न हि ते व्याकरणेन व्युत्पाद्यन्ते। —पु० रा० वा० प०, 2-79
4. साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः। —वा० प०, 1-142
5. म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् तथा दुष्टान्शब्दान् मा प्रयुक्षमहीत्यध्येयं व्याकरणम्। —महा० भा० पस्पशाह्निक



अर्थ के वस्तुमात्र एवं अभिधेय भेदों में से पुण्यराज शब्द का अधिकार अभिधेय अर्थात् वाच्य अर्थ में ही मानते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि वस्तुमात्र अर्थ, बाह्यार्थ को

---

1. अर्थोऽष्टादशधा। तत्र वस्तुमात्रमभिधेयश्च। अभिधेयो द्विधा—शास्त्रीयो लौकिकश्च। पुनरपि विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतुः तद्विपरीतश्च, मुख्यः परिकल्पितरूपविपर्यासश्च, व्यपदेश्योऽव्यपदेश्यश्च सत्वभावमापन्नोऽसत्वभूतश्च, स्थिरलक्षणो विवक्षाप्रापितसन्निधानश्च अभिधीयमानः प्रतिपाद्यमानश्च, अभिसंहितो नान्तरीयकश्चेति।
—पु० रा० वा० प०, 2-79

कहते हैं जिसका कथन अभीष्ट नहीं हो। अभिधेय अर्थ का प्रतिपादन ही अभीष्ट होता है अतः उसी में शब्द का अधिकार होता है।[1] आचार्य भर्तृहरि ने अपने समय में प्रचलित अर्थ के बारह प्रकारों में से एक प्रकार यह भी दिया है कि अर्थ वस्तुमात्र का प्रत्यायन करता है उसके वस्तु आकारादि की प्रतीति शब्द के द्वारा न होकर नान्तरीयक रूप से होती है।[2] यहाँ पुण्यराज वस्तुमात्र अर्थ में शब्द का अधिकार न मानकर इस मत का खण्डन कर देते हैं।

पुण्यराज अभिधेय अर्थ को शब्द का वाच्यार्थं स्वीकार करते हैं। अर्थात् वक्ता शब्द द्वारा जो कुछ कहना चाहता है वही उस शब्द का अर्थ होता है।[3] आचार्य भर्तृहरि ने अर्थ के विषय में बारह मतों का विवेचन करने के बाद अपना पक्ष देते हुए भी यही कहा है वक्ता की इच्छा पर शब्द का अर्थ आश्रित रहता है वह उस शब्द से जो अर्थ ग्रहण करना चाहता है उसी के अनुसार अर्थ की प्रतीति होती है।[4] शब्द का नियत अर्थ नहीं होता।[5]

अभिधेय अर्थ के पुण्यराज ने पुनः दो भेद दिये हैं शास्त्रीय तथा लौकिक। शास्त्रीय अर्थ आवापोद्धारिक अर्थात् प्रकृति प्रत्यय आदि का अर्थ होता है। आवाप का अर्थ एक को निकालना तथा उद्धार का अर्थान्तर का आक्षेप करना है। लौकिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि लौकिक अर्थ अखण्ड होता है।[6] अर्थात् लौकिक अर्थ वाक्यार्थ रूप होता है। पृथक्-पृथक् शब्द से अर्थ ज्ञान वैयाकरणों को मान्य नहीं है अतः अखण्ड वाक्य के द्वारा ही अर्थ ज्ञान होता है। पुण्यराज कहते हैं कि शब्द का अधिकार इस लौकिक अर्थ में ही होता है अर्थात् अखण्डवाक्यपक्ष में अखण्ड वाक्य एक शब्द रूप है और उससे अखण्ड अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द का अधिकार

---

1. तत्र वस्तुमात्रं बाह्यार्थो यो वक्तुं प्रतिपादयितुं न समीहितः। यस्तु समीहितोऽसावभिधेय. तत्रैव च शब्दस्याधिकारः। —पु० रा० वा० प०: 2-79
2. घटादीनां न चाकारान् प्रत्याययति वाचकः।
   वस्तुमात्रनिवेशित्वात् तद्गतिर्नान्तरीयकी॥ —वा० प०, 2-123
3. यस्तु समीहितोऽसावभिधेयः। तत्रैव च शब्दस्याधिकारः। —पु० रा० वा० प०, 2-79
4. वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु।
   स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते॥ —वा० प०: 2-135
5. नियतवासनावासितचेतसां शब्दार्थप्रतीतिरिति नास्ति कश्चिन्नियत एकः शब्दस्यार्थः। —पु० रा० वा० प०, 2-134
6. स च द्विधा शास्त्रीयलौकिकभेदेन। तत्र शास्त्रीय आवापोद्धारिकः।
   लौकिकस्त्वखण्डः। —पु० रा० वा० प०, 2-79

शास्त्रीय अर्थ में नहीं होता क्योंकि शास्त्रीय अर्थ पुरुष कृत तथा परिकल्पित होता है फिर भी शब्द साधुत्व का निमित्त होने के कारण शास्त्रीय अर्थ लौकिक अर्थ का प्रतिपादक होता है ।[1]

शास्त्रीय अर्थ व्याख्याताओं के द्वारा विविध प्रकार से विभक्त किया जाता है ।[2] पुण्यराज ने शास्त्रीय अर्थ के निम्न भेद दिये हैं—

(i) विशिष्टावग्रह सम्प्रत्यय हेतु

वह अर्थ जो विशिष्ट प्रकार के आकार युक्त ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाए विशिष्टावग्रह सम्प्रत्यय हेतु अर्थ कहलाता है। उदाहरण के लिये कंसं घातयति तथा बलिं बन्धयति वाक्यों में यद्यपि अर्थ वैसा नहीं हैं क्योंकि बलि एवं कंस अतीत के पुरुष हैं वर्तमानकाल में उनका हनन तथा बन्धन नहीं है फिर भी विशिष्ट आकारयुक्त ज्ञान से उसका प्रत्यक्ष होता है ।[3]

(ii) तद्विपरीत अर्थ

तद्विपरीत अर्थ वह होता हैं जो वास्तव में बाह्य जगत में विद्यमान होता है। जैसे गाय शुक्ल इत्यादि अर्थ । ये बाह्य जगत् में वास्तविक रूप में विद्यमान होते हैं ।[4]

(iii) मुख्य अर्थ

यह शब्द का अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त अर्थ होता है ।[5] जैसे **गौः** शब्द से सास्नादियुक्त गाय अर्थ मुख्य अर्थ है ।[6]

---

1. लौकिके चार्थे शब्दस्याधिकारो न शास्त्रीये । शास्त्रीयो हि पौरुषेयः परिकल्पितः । एवमतथाभूतोऽपि शब्दसाधुत्वस्य निमित्तभावेन प्रतिपादको विज्ञायते । अतश्च तस्य व्यभिचारेऽप्यव्यभिचार एव स्मर्तॄणाम् । पु० रा० वा० प०, 2-79
2. स चानियतावधिर्बहुधा प्रविभज्यते व्याख्यातृभिः । —वही, 2-79
3. विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतुर्यथा—'कंसं घातयति, बलिं बन्धयतीति । अत्र ह्यर्थो न तथाभूतोऽपि विशिष्टाकारेणैव सम्प्रत्ययेन गोचरीकृतो व्यवहारविषयतामनुपतति । —वही, 2-79
4. तद्विपरीतो यो वहिरेव तथा व्यवस्थितः । यथा गौः शुक्ल इत्यादि । — वही, 2-79
5. मुख्य अर्थ का विस्तृत विवेचन' "भर्तृहरि का पदार्थ विवेचन" अध्याय में किया गया है।
6. मुख्यो सास्नादिमान् गौरिति । —वही, 2·79

(iv) परिकल्पित रूप विपर्यास

किसी निमित्त द्वारा मुख्य अर्थ का परिवर्तन कर लें तो वह अर्थ परिकल्पित रूप विपर्यास कहलाता है। इसी को गौण अर्थ कहते हैं।[1] जैसे गौर्वाहीकः में गो शब्द अपने मुख्य अर्थ गोपशु को छोड़कर मूर्ख के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

(v) व्यपदेश्य अर्थ

व्यपदेश्य अर्थ आवापोद्धारिक अर्थ होता है। जातिरूप या द्रव्यरूप अर्थ, जिसका वर्णन किया जा सके व्यपदेश्य अर्थ होता है।[3]

(vi) अव्यपदेश्य

अखण्ड वाक्यार्थ लक्षण अर्थ अव्यपदेश्य अर्थ होता है।[4]

(vii) सत्वभावापन्न अर्थ

व्यपदेश्य अर्थ ही सत्वभावापन्न अर्थ कहलाता है।[5]

(viii) असत्वभूत

वाक्यलक्षण अर्थ असत्वभूत अर्थ कहलाता है।[6]

(ix) स्थिर लक्षण अर्थ

जो अर्थ स्थिर रूप में विद्यमान रहे वह स्थिरलक्षण अर्थ कहलाता है जैसे राजपुरुषः शब्द राज सम्बन्धी पुरुष अर्थ का ही बोध करता है।[7]

(x) विवक्षाप्रापित सन्निधान

स्थिरलक्षण अर्थ के विपरीत जहाँ पर अर्थ विवक्षा के अधीन रहता है उसे विवक्षाप्रापित सन्निधान अर्थ कहते हैं यथा—'राज्ञः पुरुषस्य' उदाहरण में दोनों ही

---

1. गौण अर्थ का विस्तृत विवेचन भी पूर्वोक्त अध्याय में किया गया है।
2. परिकल्पितो निमित्तवशेन रूपविपर्यासो यस्यासौ परिकल्पितनिमित्तरूपविपर्यासो गौणोऽर्थ उच्यते। —पु० रा० वा० प०, 2-79
3. व्यपदेश्य आवापोद्धारिकः एव जातिर्वा द्रव्यं वेत्येवमुक्तः इति। —वही, 2-79
4. अव्यपदेश्यस्त्वखण्ड एव वाक्यार्थलक्षण इति। —वही, 2-79
5. सत्वभावमापन्नो व्यपदेश्य एवापोद्धारिकसंज्ञकः। —वही, 2-79
6. असत्वभूतो वाक्यार्थलक्षण एव। —वही, 2-79
7. स्थिरलक्षणो यथा—राजपुरुष इत्यत्र राजसम्बन्धित्वं पुरुषस्य, तद्धि न व्यभिचरति। —वही, 2-79

षष्ठ्यन्त हैं अतः विवक्षा पर ही आधारित हैं चाहे राजा को विशेष्य तथा पुरुष विशेषण, अथवा पुरुष को विशेष्य तथा राजा को विशेषण मानें।[1]

(xi) अभिधीयमान

जो अर्थ प्रस्तुत रूप से वर्णन किया जाता है उसे अभिधीयमान अर्थ कहते हैं। यथा—'राजसखः' में 'राजा का मित्र' अर्थ प्रस्तुत रूप से वर्णित होने के कारण अभिधीयमान है।[2]

(xii) प्रतीयमान अर्थ

पुण्यराज कहते हैं कि 'राजसखः' का 'राजा सखा अस्य' यह अर्थ प्रतीयमान है।[3] आचार्य कपिलदेव द्विवेदी इस अर्थ के सम्बन्ध में कहते हैं कि जो अर्थ व्यंजना अथवा ध्वनि से ज्ञात होता है उसे प्रतीयमान अर्थ कहते हैं।[4]

(xiii) अभिसंहित अर्थ

पुण्यराज कहते हैं कि गौः शब्द से जाति अथवा द्रव्य रूप अर्थ अभिसंहित अथ कहलाता है।[5] आचार्य कपिलदेव कहते है कि वाच्य अर्थ ही अभिसंहित अर्थ कहलाता है।[6] पुण्यराज जाति पदार्थ एवं व्यक्ति पदार्थ दोनों पक्षों को ही मानते है। इसीलिये उन्होंने अभिसंहित अर्थ के अंतर्गत जाति एवं व्यक्ति दोनों का निर्देश किया है।

(xiv) नान्तरीयक अर्थ

गौः शब्द से जो गौ पदार्थ अभिहित होता है उसके साथ अविनाभाव से रहने-वाले वर्ण संस्थानादि भी प्रतीत होते हैं उन अर्थों को नान्तरीयक कहते हैं।[7]

---

1. विवक्षाप्रापितसन्निधानो यथा—राज्ञः पुरुषस्येति। अत्र हि सम्बन्धित्वं व्यभिचरति, विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वात्। —पु० रा० वा० प०, 2-79
2. अभिधीयमानो यथा—'राजसख' इत्यत्र राज्ञः सखाऽयमित्यर्थोऽभिधीयते। —वही, 2-79
3. तस्मिंस्त्वभिधीयमाने राजा सखाऽस्येत्ययमर्थः प्रतीयमान एव। —वही, 2-79
4. अर्थ विज्ञान और व्याकरणदर्शन, पृ० 95
5. अभिसंहितो यथा—गोशब्दो जातिर्द्रव्यं वेति। —वही, 2-79
6. अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, पृ० 95
7. नान्तरीयको यथा तत्रैव वर्णस्थानादिः। —वही, 279
मुख्य (वाच्य अथवा अभिसंहित) अर्थ का विस्तृत विवेचन 'भर्तृहरि का पदार्थ विवेचन' अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार व्याकरण शास्त्र के अधिकार के अन्तर्गत आनेवाले शब्द एवं अर्थ का उनके प्रकारों सहित विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् व्याकरणशास्त्र के अधिकार में आनेवाले पुरुषधर्मों के सम्बन्ध में पुण्यराज कहते हैं कि वक्ता एवं प्रतिपत्ता के धर्म पुरुषधर्म होते हैं। वक्ता के धर्म आबाध, असूया, असम्मति, कोप, कुत्सन, भर्त्सनादि होते हैं तथा जिस पर असूया इत्यादि की जाये वे प्रतिपत्ता के धर्म होते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि इन धर्मों में व्याकरण शास्त्र प्लुत द्विर्वचन इत्यादि का विधान करता हैं इसीलिये व्याकरण शास्त्र का अधिकार पुरुष धर्मों में भी मानना चाहिये।[1] पाणिनि सूत्र 'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु' (8/1/8) तथा 'आबाधे च' (8/1/10) के द्वारा असूया इत्यादि अर्थों में विद्यमान वाक्य के प्रारम्भ में आनेवाले आमन्त्रित (पद) को द्विर्वचन होता है। काशिकाकार ने सूत्र में प्रयुक्त असूया इत्यादि प्रत्येक धर्म का अर्थ दिया है और कहा है कि ये सभी प्रयोक्ता के धर्म हैं अभिधेय के नहीं।[2]

पाणिनि सू० प्रत्यभिवादेऽशूद्रे, (8/2/83) दूराद्धूते च (8/2/84) है हैप्रयोगे-हैहयोः (8।2।85) इत्यादि प्रत्यभिवादन इत्यादि अर्थों में विद्यमान वाक्य की टि को प्लुत विधान करते हैं। प्रत्यभिवादन, दूर से बुलाना इत्यादि प्रतिपत्तृधर्म है। इस प्रकार पुण्यराज ने व्याकरण शास्त्र के अधिकार का अपनी टीका में स्पष्टीकरण किया है।

अधिकार का व्युदास

व्युदास के सम्बन्ध में पुण्यराज इतना ही कहते हैं कि जो धर्म शब्दों अथवा शास्त्र के अधिकार के विषय के रूप में नहीं कहे गये उन्हीं की अपेक्षा करके व्युदास लक्षण कहा गया है।[3]

---

1. पुरुषधर्मा वक्तृत्वप्रतिपत्तृत्वप्रभृतयः तत्र वक्तृधर्मा आबाध, असूयाऽसम्मतिकोप-कुत्सनभर्त्सनादयश्चेति। प्रतिपत्तृधर्मास्तु कुत्स्यमानत्वप्रभृतय एव। तत्र शास्त्रस्य प्लुतद्विर्वचनादिविधायकत्वेनाधिकार इति। —पु० रा० वा० प, 2-79

2. वाक्यादेरामन्त्रितस्य द्वे भवतः असूयासम्मति, कोप, कुत्सन भर्त्सन इत्येतेषु यदि तद्वाक्य भवति। तत्र परगुणानामसहनमसूया। पूजाऽसम्मतिः। कोपः क्रोधः। निन्दनं कुत्सनम्। आपकारशब्दैर्भयोत्पादनं भर्त्सनम्। एते च प्रयोक्तृधर्मा नाभिधेय धर्मा। —काशिका, अ० सू०, 8।1।8

तथा—

आबाधनमाबाधः पीडा, प्रयोक्तृधर्मः। तत्र वर्तमानस्य द्वे भवतः बहुव्रीहिवच्चास्य कार्यं भवति। —काशिका अ० सू०, 8।1।10

3. अत्र च य एव धर्माः शब्दानां शास्त्रस्य वाऽनधिकारविषयत्वेनोक्तानपेक्ष्योच्यते— व्युदासोऽस्य क्रियान्तर इति। —पु० रा० वा० प०,, 2-89

क्रम लक्षण

मीमांसादर्शन में क्रम लक्षण का विवेचन पंचम अध्याय में किया गया है। वहां क्रम के श्रुति, अर्थ, पाठ, प्रवृत्ति, काण्ड तथा मुख्य ये छह भेद किये गये हैं और वेद के सन्दर्भ में इन सबका विवेचन किया गया है। पुण्यराज ने इन क्रम के भेदों में मुख्य क्रमका परिगणन नहीं किया तथा प्रतिपत्तिक्रम, प्रयोगक्रम तथ. बुद्धिक्रम ये तीन भेद और जोड़ दिये हैं।[1] पुण्यराज ने क्रम के भेदों को लोक एवं वेद के प्रसंग में तो स्पष्ट किया ही है व्याकरणशास्त्र में भी इनकी प्रवृत्ति उदाहरणों द्वारा स्पष्ट की है। व्याकरण शास्त्र में मीमांसादर्शन में वर्णित इन क्रमों के अतिरिक्त प्रयोग, प्रतिपत्ति एवं बुद्धिक्रमों की प्रवृत्ति को देखकर ही पुण्यराज ने ये तीनों भेद और जोड़ दिये। जिससे मीमांसा के क्रमलक्षण की प्रवृत्ति की व्यापकता व्याकरण शास्त्र में भी सिद्ध की जा सके।

(i) श्रुतिक्रम

लौकिक उदाहरण

'स्नात्वाव्रजति' वाक्य में क्त्वा प्रत्यय के श्रवण से क्रम कहा गया है। पहले स्नान और बाद में गमन।[2]

वैदिक उदाहरण

मीमांसादर्शन में शबरस्वामी ने श्रुतिक्रम का उदाहरण 'अध्वर्यु गृहपति दीक्षयित्वा ब्राह्मणं दीक्षयति। तत उद्गातारं, ततो होतारम् दिया है।[3] जबकि पुण्यराज श्रुतिक्रम का वैदिक उदाहरण 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वायाः' देते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि इस उदाहरण में अग्रे तथा अथ शब्दों के श्रवण से क्रम का निर्देश हुआ है।[4]

व्याकरण शास्त्र का उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि पाणिनि सूत्र परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः में यथासंख्यमनुदेशः समानाम् सूत्र की प्रवृत्ति श्रुतिक्रम का ही उदाहरण है अर्थात् जिस

---

1. श्रुत्यादिभेदेनायं क्रमो नैकप्रकारः। तथा च श्रुतिक्रमः, अर्थक्रमः, पाठक्रमः, काण्डक्रमः प्रतिपत्तिक्रमः, प्रयोगक्रमः, बुद्धिक्रमश्चेति। —पु० रा० वा० प०, 2-80
2. तत्र श्रुतिक्रमो यथा स्नात्वा व्रजतीति। अत्र क्त्वाप्रत्ययेनैव श्रुत्या क्रम उक्तः। —वही, 2-80
3. वेदे यथा—हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वायाः। इत्यत्र श्रुत्यैवाग्रेऽथशब्दाभ्यां क्रम उक्तः। —वही, 2-89
4. शास्त्रेऽपि च 'परस्मैपदानां णलतुस् इत्यादौ यथासंख्यमनुदेशः समानामिति श्रुत्यैव क्रमः। —वही, 2-80

क्रम से परस्मैपदी तिप्-तस झि इत्यादि प्रत्ययों का श्रवण होता है उसी क्रम के णलादि होते हैं। इस प्रकार पुण्यराज ने यह स्पष्ट किया है कि परस्मैपदानां इत्यादि सूत्र में क्रम निर्धारण मीमांसा के श्रुति क्रम का ही उदाहरण हैं।

(ii) अर्थ क्रम

'अर्थ' का अर्थ पुण्यराज ने 'सामर्थ्य' दिया है अर्थात् सामर्थ्य के कारण क्रम का निर्धारण करना अर्थ क्रम कहलाता है।[1]

लौकिक उदाहरण

लोक में अर्थ क्रम की प्रवृत्ति का उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'भुक्त्वा स्नात्वा व्रजति' वाक्य में यद्यपि पहले 'भुक्त्वा' तथा बाद में स्नात्वा क्रम दिया गया है परन्तु सामर्थ्य के कारण पहले स्नान और बाद में भोजन इसी क्रम से प्रवृत्ति होती है।[2]

वैदिक उदाहरण

वेद में 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं श्रपयति' इस प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं। पहले अग्नि होत्र तथा बाद में यवागू का श्रपण इस क्रम से निर्देश होता है परन्तु अनुष्ठान इस क्रम से नहीं होता। सामर्थ्य के कारण पहले श्रपण तथा बाद में अग्निहोत्र का अनुष्ठान किया जाता है।[3]

व्याकरण शास्त्र का उदाहरण

'अकथितं च'[4] सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि जिन धातुओं के दो कर्म होते हैं उनमें लादिविधि मुख्य कर्म में होती है अथवा गौण कर्म में।[5] इस पर वार्तिक दिया गया है 'कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्व-

---

1. अर्थः सामर्थ्यं तन्निमित्तः क्रमोऽर्थक्रमः। —पु० रा० वा० त०, 2-80
2. यथा—भुक्त्वा स्नात्वा व्रजतीत्यत्र स्नानादीनामन्यथाशब्दोपात्तानामप्यर्थस्वरूपपर्यालोचनया स्नानादिक्रमो लक्ष्यते। —वही, 2-80
3. वेदे यथा—अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं श्रपयतीत्यत्र श्रपणं पश्चाद्विनिर्दिष्टमपि पूर्वमनुष्ठीयते, ततोऽग्निहोत्रमित्यर्थक्रमः। —वही, 2-80
4. अ० सू० 1।4।51
5. अथ ये धातूनां द्विकर्मकास्तेषां किं कथिते लादयो भवन्त्याहोस्विदकथिते ? कथिते लादयः ।। कथिते लादिभिरभिहिते गुणकर्मणि का कर्त्तव्या।

—महा० भा० अ० सू०, 1।4।51

मतिर्गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे'। इसको महाभाष्य में स्पष्ट करते हुए आचार्य पतंजलि लिखते हैं कि कथित अर्थात् अभिहित कर्म में लादिविधि होती है, यह केवल तुम मानते हो अन्य नहीं। अन्यों के अनुसार लादिविधि गौण कर्म में होती है।[1] पुण्यराज महाभाष्य के कथन 'गुणकर्मणिलादि-विधि' की पुष्टि मीमांसकों के अर्थक्रम के द्वारा करते हैं। पुण्यराज कहते हैं कि यद्यपि 'गां दोग्धि पयः' वाक्य में दूध प्रधान कर्म है तथा गाय गौण कर्म है (कर्तुरीप्सिततम कर्म)[2] अतः दोहन क्रिया के साथ पहले दूध का योग होना चाहिए बाद में गाय का परन्तु यह क्रम सम्भव नहीं है क्योंकि गाय के बिना दूध उपलब्ध नहीं हो सकता अतः पहले गाय के साथ दोहन क्रिया का योग होता है उसके बाद दूध के साथ। अतः सामर्थ्य के कारण गौण कर्म गाय के साथ पहले संबंध होता है और अंतरंग होने के कारण उसी में लादिविधि होती है।[3]

इस प्रकार पुण्यराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि महाभाष्यकार व्यर्थ में ही नहीं कहते कि लादिविधि गौण कर्म में होती है। पुण्यराज ने सामर्थ्यक्रम को इसका कारण देते हुए महाभाष्य के वक्तव्य को प्रामाणिकता प्रदान की जो उनकी संस्कृत व्याकरण को अमूल्य देन है। आचार्य कैय्यट ने भी पुण्यराज के इस कथन को स्वीकार किया है और श्लोक रूप में यही बात कही है।[4]

---

1. कथिते लादिभिरभिहिते त्वविधिरेष भवति। किमिदं त्वविधिरिति? तव विधिस्त्वविधिः। 'त्वमतिः' 'किमिदं त्वमतिरिति? तव मतिस्त्वमतिरिति। नैव मन्ये मन्यन्ते॥ कथं तर्ह्यन्ये मन्यन्ते? 'गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे।'
—महा० भा०: अ० सू०, 1।451

2. अ० सू०, 1।4।149

3 शास्त्रेऽपि 'गुणकर्मणि लादिविधिः इत्युक्तम्। तथाहि गां दोग्धि पय इत्यत्र गवा कर्मणा पूर्वं दुहेर्योगस्ततः' पयसः। न ह्यनुपादाय गां कश्चित् पय आदातुमर्हति। तस्मादत्र गोपयसोर्दुहिना यः क्रमेण सम्बन्धः, सोऽर्थसामर्थ्यादुपजायते। तस्मात् सत्यपि प्रधाने पयसि दुहेर्गवैव पूर्वं सम्बन्ध इति तत्रैव लादयोऽन्तरङ्गत्वादुत्पद्यन्ते गौर्दुग्धा सुदोहा गौरिति। —पु० रा० वा० प०, 280

4. यतश्च पयोऽर्थी प्रथमं गवि प्रवर्तते ततोऽन्तरङ्गत्वाद् दुह्यादिषु, गुणकर्मणि लादयो भवन्ति।'''पयो विवक्षायां च प्राधान्येऽप्यन्तरङ्गत्वाद् गुणे लादयः। उक्तं च—

'गुणकर्मणि लादिविधिः पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगात्।
मुख्यं कर्म प्रेप्सुर्यस्माद्गव्येव यतते प्राक्॥
तस्माच्छुद्धस्य दुहेर्भवति गवा पूर्वमेव सम्बन्धः।
गौदुहिना पयसस्तु प्राक्तस्माल्लादयस्तस्मिन्'। इति।

—कैय्यट महा भा०, 1।4।51

(iii) पाठ क्रम

उच्चारण क्रम को ही पुण्यराज पाठक्रम नाम देते हैं।[1]

लौकिक उदाहरण

लौकिक उदाहरण के रूप में पुण्यराज ने एक श्लोक उद्धृत किया है—

इन्दुस्वर्णैणमातङ्गपुंस्कोकिलकलापिनः ।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिस्वरकेशैस्त्वया जिताः ॥[2]

पुण्यराज कहते हैं कि इस श्लोक में पूर्वार्ध में जिस क्रम से पाठ हुआ है उसी क्रम से उत्तरार्ध में पठित विशेषताओं का उनसे सम्बन्ध होता है।[3] अर्थात् इन्दु का सम्बन्ध वक्त्र से, स्वर्ण का कान्ति से, ऐण का ईक्षण से इत्यादि।

वैदिक उदाहरण

पुण्यराज पाठक्रम का वैदिक उदाहरण 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति' दिया है। जिस क्रम से इन प्रयाजों का पाठ हुआ है उसी क्रम से इनका अनुष्ठान होता है[4] मीमांसादर्शन में शबरस्वामी ने भी यही वाक्य दिया है और इस प्रश्न पर विचार किया है कि इनका अनुष्ठान अनियत क्रम से होता है अथवा नियत क्रम से। इसका उत्तर भी शबरस्वामी ने दिया है कि पाठक्रम के द्वारा ही इनका अनुष्ठान होता है।[5]

व्याकरण का उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्, तथा 'पूर्वत्रासिद्धम् सूत्रों से

---

1. उच्चारण क्रम एव पाठक्रमो···। —पु० रा० वा० प०, 2-80
2. पु० रा० वा० प०, 2-80। इस श्लोक का पुण्यराज ने सन्दर्भ नहीं दिया। पण्डित रघुनाथ शर्मा ने बताया है कि यह श्लोक भामह के काव्यालंकार का 2।90 श्लोक है।
3. इत्यत्र यथापठितानां यथापठितैरेव सम्बन्ध इति। —वही 2-80
4. वेदे यथा—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजतीत्येवमात्मकेषु प्रयाजेषु यथापाठमेव क्रमेणानुष्ठानम् —वही, 2-80
5. दर्शपूर्णमासयोराम्नातं—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वहाकारं यजयीति। तत्र संशयः किमनियतेनैव क्रमेणैषामनुष्ठानमुत य पाठक्रमः स एव नियम्येतेति। किं प्राप्तम्। नियमकारिणः शास्त्रस्य भावादनियम इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः। क्रमेणैव नियम्यतैकस्मिन्क्रताविति। —मी० सू०, 5/1/१२ शाबरभा०

परत्व एवं पूर्वत्व शास्त्र में पढ़े गये सूत्रों के अनुसार ही निश्चित होता है [1] अर्थात् जिस क्रम से पाणिनि सूत्र अष्टाध्यायी में पठित हैं उसी क्रम से उनका पूर्वत्व एवं परत्व व्यवस्थित होता है। इस प्रकार पाणिनि सूत्रों में भी पाठक्रम की प्रवृत्ति होती है।

(iv) काण्डक्रम

मीमांसादर्शन में इस क्रम को स्थानक्रम भी कहते हैं।[2]

लौकिक उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि जिस क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के आचारादि के प्रकरण उद्दिष्ट हैं उसी क्रम से ही उनका अभिधान होता है।[3]

वैदिक उदाहरण

वेद में काण्डक्रम की प्रवृत्ति दिखाते हुए पुण्यराज कहते हैं कि वेद में किसी याज्ञ कर्म में जिस कण्डिका क्रम से कर्मों का विधान किया गया है उसी क्रम से कर्म प्रवृत्त होते हैं।[4]

व्याकरण शास्त्र का उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि अष्टाध्यायी में द्विर्वचन काण्ड के बाद ही सम्प्रसारण-काण्ड[5] आता है अतः दोनो में विप्रतिषेध होने पर काण्डक्रम के अनुसार सम्प्रसारण काण्ड बाद में आता है अतः उसकी पूर्व प्रवृत्ति होगी।[6]

(v) प्रवृत्ति क्रम

प्रवृत्ति क्रम का अर्थ स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि प्रतिपत्ता की इच्छा

---

1. शास्त्रे यथा—विप्रतिषेधे परं कार्यम्, पूर्वत्रासिद्धम् इति च। अत्र हि शास्त्रपाठमेवापेक्ष्येदं पूर्वमिदं परमिति व्यवस्थाप्यते।— —पु० रा० वा० प०, 2-80
2. स्थानक्रमनियमाधिकरणम्। —5/1/6 सूत्र (अधिकरण 3)
3. यथा येनैव क्रमेण ब्राह्मणक्षत्रियविशां वर्णसमाचारप्रतिपादकानि प्रकरणान्युद्दिष्टानि तेनैवाभिधीयन्त इति। —पु० रा० वा० प०, 2-80
4. वेदे तु कुत्रचिद् याज्ञे कर्मणि येनैव कण्डिकाक्रमेण कर्माणि चोद्यन्ते तेनैव क्रमेण प्रवर्तन्ते।
5. द्विर्वचनकाण्ड, अ० सू०, 6/1/1 से 6/1/12 तक
   सम्प्रसारणकाण्ड, अ० सू०, 6/1/13 से 6/1/44 तक
6. शास्त्रे यथा—द्विर्वचनकाण्डात् सम्प्रसारणकाण्डमिति। तदैव विप्रतिषेधे सति पूर्वं भवतीति। —पु० रा० वा० प०, 2-80

के अनुसार प्रवृत्त क्रम प्रवृत्ति क्रम कहलाता है ।[1]

लौकिक उदाहरण

लोक में प्रवृत्तिक्रम का प्रदर्शन करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जिस क्रम से समान ज्ञानवाले ब्राह्मण यज्ञसदन में प्रवेश करते हैं उसी क्रम से आचार्य द्वारा कहे गये कार्य को प्राप्त करते हैं ।[2]

वैदिक उदाहरण

मीमांसादर्शन में शबरस्वामी एक वेद वाक्य देते हैं 'वाजपेये सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभत'। शबरस्वामी प्रश्न उठाते हैं कि सप्तदश पशुओं में प्रोक्षणादि जो धर्म प्राप्त होते हैं उनका क्या क्रम है ? अर्थात् यदि पहले पशु का प्रोक्षणादि किसी एक क्रम से प्रारम्भ किया जाए तो क्या दूसरे पशु का भी उसी क्रम से प्रोक्षणादि (प्रोक्षण, विशसन, पर्यग्निकरण इत्यादि) करना चाहिए अथवा अन्य पशुओं में कोई नियम नहीं है ।[3] इस प्रश्न का उत्तर मीमांसासूत्र 'प्रवृत्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात्'[4] द्वारा दिया गया है जिसका अर्थ है पहले पशु का जिस क्रम से प्रोक्षणादि प्रारम्भ किया जाता है उसी क्रम से अन्य पशुओं का भी प्रोक्षणादि प्रारम्भ करना चाहिए। पुण्यराज ने प्रवृत्ति क्रम के उदाहरण के रूप में शबर स्वामी द्वारा प्रदत्त यही वेद वाक्य दिया है। पुण्यराज कहते हैं कि वेद में सत्रह अजाओं का प्रोक्षण विशसन तथा पर्यग्निकरण क्रम से कहा गया है। यह अनुष्ठाता की इच्छा पर निर्भर है कि पहले पशु का जिस किसी कार्य से प्रारम्भ कर ले पुनः दूसरे पशुओं का भी प्रोक्षणादि उसी क्रम से करना चाहिए ।[5]

---

1. प्रतिपत्तुरिच्छावशात् प्रवृत्त: क्रमः प्रवृत्तिक्रम इत्युच्यते । —वही, 2-80
2. येनैव क्रमेण ब्राह्मणाः समानाः प्रविशन्ति । तेनैव क्रमेण यथास्वं चोदितं कार्यं प्रतिलभन्त इति । —वही, 2-80
3. वाजपेये सप्तदश प्राजापत्यानालभत इति श्रूयते । तेषु हि पशुषु चोदकप्राप्ताः प्रोक्षणादयो धर्माः । तत्र प्रथमः पदार्थो यतः कुतश्चित्प्रारब्धव्यः । द्वितीयादिषु भवति संशयः किं तत एव द्वितीयोऽपि पदार्थ प्रारब्धव्य उत द्वितीयादिष्वनियम इति । —मी० सू०, 5/1/8 पर शाबर भा०
4. मी० सू०, 5/1/8
5. वेदे यथा 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत' इत्यत्र सप्तदशानामजानां प्रोक्षण--विशसनपर्यग्निकरणानि क्रमेण चोदितानि । अनुष्ठातुः पुनरिच्छावशात्तेषु प्रवर्तमानस्य यत एवारभ्य पशोस्तेनानुष्ठात्रा तेषामाद्यस्यानुष्ठानमारब्धं तेनैव प्रवृत्तिक्रमेण पुनरपरयोरप्यनुष्ठानं विधत्त इति । पु० रा० वा० प०, 2-80

व्याकरण शास्त्र का उदारण

प्रवृत्तिक्रम का व्याकरण का उदाहरण पुण्यराज ने महाभाष्य का 'यथैवानुपूर्व्याऽर्थानां प्रादुर्भावः तथैव शब्दानामपि'[1] कथन दिया है। महाभाष्यकार कहते हैं कि जिस क्रम से अर्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी क्रम में ही शब्दों का प्रादुर्भाव होता है और उसी क्रम से ही कार्य भी होते हैं। आचार्यपतंजलि कहते हैं कि 'प्रातिपादिक जब उपदिष्ट होता है तब वह सामान्य अर्थ में रहता है। सामान्य में वर्तमान उस प्रातिपदिक से व्यक्ति की उत्पत्ति होती है। व्यक्त होने पर उसका लिंग संख्यादि से योग होता है।[2] पुण्यराज कहते हैं कि महाभाष्य के इस कथन में प्रवृत्ति क्रम स्पष्ट होता है जैसे पट्व्या, मृद्व्या इत्यादि शब्दों में पहले लिंग सम्बन्ध होने क कारण स्त्री प्रत्यय की उत्पत्ति होती है उसके पश्चात् कर्म संख्या इत्यादि के सम्बन्ध के कारण एकवचन उत्पन्न होता है और उसी क्रम से यणादेश इत्यादि कार्य प्रतीत होते हैं।[3] इस प्रकार पुण्यराज महाभाष्यकार के मन्तव्य की सार्थकता उसमें मीमांसकों के प्रवृत्ति क्रम द्वारा सिद्ध कर देते हैं।

(iv) प्रतिपत्ति क्रम

लौकिक उदाहरण

प्रतिपत्ति क्रम का लौकिक उदाहरण पुण्यराज 'पुरुषो राज्ञः' वाक्य देते हैं। पुण्यराज कहते है कि यद्यपि पुरुष का उच्चारण पूर्व है तथा राजा का बाद में परन्तु इस उच्चारण क्रम का अतिक्रमण करके राजा अर्थ के व्यवच्छेद से ही पुरुष की प्रतिपत्ति होती है।[4] अर्थात् पहले राजा की प्रतिपत्ति उसके बाद पुरुष की प्रतिपत्ति।

वैदिक उदाहरण

इस क्रम का निर्देश मीमांसादर्शन में नहीं किया गया। पुण्यराज ने इस क्रम

---

1. अ० सू०, 1/1/57 पर, श्लोक वार्तिक पर भाष्य
2. प्रातिपदिकं चाप्युपदिष्टं सामान्यभूतेऽर्थे वर्तते। सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते व्यक्तस्य सतो लिङ्गसंख्याभ्यामन्वितस्य बाह्येनार्थेन योगो भवति।
—महा भा०, अ० सू०, 1/1/57 पर
3. भाष्य उक्तं—यथैवानुपूर्व्याऽर्थानां प्रादुर्भावः तथैव शब्दानामपि। यथा पट्व्या मृद्व्येत्यत्र प्रथमं लिङ्गसम्बन्धात् स्त्रीप्रत्यय उत्पद्यते, तदनु कर्मसंख्यादिसम्बन्धादेकवचनमुत्पद्यते। तथैव च यणादेशादिकार्यं तेनैव क्रमेण प्रवर्तत इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-80
4. लोके यथा—पुरुषो राज्ञ इत्युक्तेऽप्युच्चारणक्रममतिक्रम्य राजार्थव्यवच्छेदेनैव पुरुषस्य प्रतिपत्तिः।
—वही, 2-80

निर्देश किया है और वेद में भी इस क्रम की प्रवृत्ति दिखाई है। यद्यपि प्रधानयाग वेद में पहले कहे गये हैं परन्तु अवान्तरयागो के निर्वर्तन करने पर ही उनकी प्रतिपत्ति होती है। उदाहरण के लिए सोमयाग प्रधान याग है अतः बुद्धि में पहले उपारूढ़ होता है फिर भी दीक्षणीय इत्यादि के निर्वर्तन पूर्वक ही उसकी प्रतिपत्ति होती है।[1]

व्याकरणशास्त्र का उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि यद्यपि लुङ्लकार के रूपों में पहले अट् का उच्चारण होता है परन्तु विधि वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति पहले लुङ्ादि तथा उसके पश्चात् अडागम की प्रतिपत्ति द्वारा होती है।[2] अर्थात् 'अभवत्' 'अभूत्' इत्यादि प्रक्रियाओं में पहले 'अ' (अट्) का श्रवण तथा बाद में लङ् लुङ् का श्रवण होता है परन्तु व्याकरण शास्त्र में इन रूपों की प्रतिपत्ति पहले लुङ्ादि तथा बाद में अडादि करने पर ही होती है। इससे पुण्यराज का प्रक्रिया ज्ञान स्पष्ट होता है।

(vii) प्रयोगक्रम

वैदिक उदाहरण

इस क्रम को क्रमलक्षण के भेदों में मीमांसादर्शन में निर्दिष्ट नहीं किया गया है। पुण्यराज ने इसे क्रमलक्षण का एक भेद माना है तथा वेद में इस क्रम की प्रवृत्ति भी प्रदर्शित की है। पुण्यराज कहते हैं कि वेद में यह वचन है 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वाऽन्येन यजेत।' यहाँ दर्शपूर्णमास का पूर्व प्रयोग हैं बाद में अन्य याग का। अतः प्रयोग-क्रम की प्रवृत्ति होती है: पहले दर्शपूर्णमास याग का अनुष्ठान होता है बाद में अन्य याग का।[3]

व्याकरण का उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि धातुपाठ में पठित डुकृञ् इत्यादि धातुओं में प्रयुक्त

---

1. वेदे यथा—प्रधानयागा पूर्वमुक्ता अप्यवान्तरयागनिर्वर्तनानुसारेणैव प्रतिपत्तिमुपारोहन्ति। यथा दीक्षणीयादीनां सोमस्य च। अत्र हि सोमयागस्य प्रधानस्य पूर्वं बुद्ध्युपारोहेऽपि दीक्षणीयादियागनिर्वर्तनपूर्वकमेव सोमप्रतिपत्तिः।
—पु० रा० वा० प०, पृ० 2-80

2. 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यत्र यद्यपि प्रयोगे पूर्वमडागम उच्चार्यते, तथापि वयं विधिवाक्यार्थं प्रतिपद्यमाना लुङ्ादीन् प्रतिपद्यामहे, पश्चादडागममिति शास्त्रीयमुदाहरणम्। —वही, 2-80

3. वेदे यथा-दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वाऽन्येन यजेते इत्यत्र दर्शपूर्णमासयागपूर्वकमन्यानुष्ठानं विज्ञेयम्। —वही, 2-80

अनुबन्धों की उसी क्रम में इत् संज्ञा होती है जिस क्रम से उनका प्रयोग हुआ है अर्थात् 'डुकृम्' में पहले 'डु' का प्रयोग है अतः पहले डु की तथा बाद में भ् की इत्संज्ञा होती है।[1] यहाँ इत्संज्ञा प्रयोगक्रम के अनुसार हुई है न कि वर्णानुपूर्वी के अनुसार।

(vii) बुद्धिक्रम

लौकिक उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि विद्युत, क्रम से प्रवृत्त होती हुई बुद्धि में संकलित होती है, ऐसी लोक में भी बुद्धि क्रम की प्रवृत्ति होती है।[2]

वैदिक उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि वेद में प्रयाजादि याग उत्पन्न प्रध्वंसी होने पर भी, बुद्धि के द्वारा उनका क्रम संकलित किया जाता है।[3]

व्याकरण शास्त्र का उदाहरण

'इको यणचि' इत्यादि सूत्रों में वर्णों का पौर्वापर्य बुद्धि में ही कल्पित किया जाता है।[4] व्याकरण में बुद्धिक्रम की सिद्धि पुण्यराज ने महाभाष्या के मत द्वारा भी की है। महाभाष्य में परः सन्निकर्षः संहिता[5] पर यह वार्तिक दिय गया है — पौर्वापर्यमकालव्यपेतं संहिता चेत्पूर्वापराभावादसंहितम्। एकवर्णवर्तित्वाद्वाच उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्।'[6] इसका अर्थ है कि यदि काल रहित पौर्वापर्य संहिता है तब पूर्वापर का अभाव होने के कारण वर्ण संहिता नहीं हो सकते क्योंकि वाणी एक समय में एक ही वर्ण का उच्चारण कर सकतीं है तथा वर्ण उच्चारण करते ही नष्ट हो जाते हैं। इस शंका का निराकरण आचार्य पतंजलि निम्न श्लोक वार्तिक द्वारा करते हैं—

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥[7]

---

1. यथा डुकृञित्यादौ ययाऽनुपूर्व्या अनुबन्धाः प्रयुक्ता तयैवेत्संज्ञां लभन्त इति शास्त्रीयमुदाहरणम्। —पु० रा० वा० प०, 2-80
2. लोकेऽपि विद्युतः क्रमेण प्रवृत्ता बुद्धौ संकलयति। —वही, 2-80
3. वेदे प्रयाजादीनामुत्पन्नप्रध्वंसिनां बुद्ध्यैव संकलनमिति बौद्धः क्रमः। —वही, 2-80
4. शास्त्रे वर्णानामिकोयणचीत्यादौ बुद्ध्या पौर्वापर्यं कल्प्यते। —वही, 280
5. अ० सू०, 1/4/109
6. वही, 1/4/109 वार्तिक 9-10 (महा भा०)
7. महाभा० अ० सू०, 1/4/109 वार्तिक 10 पर

अर्थात् शब्दों का पौर्वापर्य बुद्धि का विषय है। पुण्यराज कहते हैं कि महाभाष्यकार के ये वचन बुद्धिक्रम को पुष्ट करते हैं।[1]

क्रम की अविवक्षा

क्रम लक्षण का प्रतिपक्ष क्रम की अविवक्षा है। मीमांसादर्शन के पांचवें अध्याय में इसका विवेचन किया गया है।[2]

लौकिक उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि लोक में प्रतिपत्ताओं में भी क्रम की अविवक्षा दिखाई देती है।[3] पं० रघुनाथ शर्मा ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि कोई 'प्रतिपत्ता 'दण्डेन गामभ्याज शुक्लाम्' इस पदक्रम से पदार्थ की प्रतिपत्ति द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान करता है तथा कोई प्रतिपत्तां 'शुक्लां गामभ्याज दण्डेन' इस तद्विपरीत क्रम वाले वाक्य से वाक्यार्थ ज्ञान करते हैं इस प्रकार उनके क्रम की अविवक्षा होती है।[4]

वैदिक उदाहरण

पुण्यराज कहते हैं कि वेद में भी अनुष्ठाताओं में निमित्तवश क्रम की अविवक्षा देखी जाती है।[5]

व्याकरणशास्त्र का उदाहरण

क्रम की अविवक्षा का उदाहरण पुण्यराज कात्यायन का वार्तिक 'अतिप्रसङ्गो गुणवृद्धिप्रतिषेधे क्ङिति' उद्धृत करते हैं। यह वार्तिक यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र (3/1/10) पर दिया गया है। यथासंख्यं इत्यादि सूत्र का अर्थ है निमित्त एवं

---

1. तथा च पौर्वापर्यमकालव्यपेतं संहिता चेत् पूर्वपराभावादसंहितम्। एकवर्णवर्तित्वाद्वाच उच्चरितप्रध्वसित्वाच्च वर्णानामित्याशङ्क्योक्तं भाष्यकारेण—बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्त्ता धीरस्तत्वन्नीतिः। शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥ इति शास्त्रे बुद्धिक्रमः। —पु० रा० वा० प०, 2-80
2. अनियमोऽन्यत्र। —मी० सू०, 5/1/3
3. लोके प्रतिपत्तृणामपि दृश्यते। —पु० रा० वा० प०, 2-80
4. तद्यथा कश्चित् प्रतिपत्ता 'दण्डेन गामभ्याज शुक्लाम्' इति वाक्योपात्तेन पदक्रमेण पदार्थं प्रतिपद्यमानो वाक्यार्थं प्रतिपद्यते। कश्चित्तु—'शुक्लां गाममभ्याज दण्डेन' इति तद्विपरीतक्रमेण वाक्यार्थं प्रतिपद्यत इति पदानां पदार्थानां च क्रमस्याविवक्षा। —पु० रा० वा० प०, 2-80
5. तद्यथा वेदेऽनुष्ठातृणां क्रमाविवक्षा निमित्तवशाद् दृश्यते। —वही, 2-80

निमित्त दोनों यदि समान संख्या वाले हों तो जिस क्रम से उनका निर्देश होता है उसी क्रम से कार्य होते हैं। ऐसा होने पर 'क्ङिति च' सूत्र (1.15) जो कित् ङित प्रत्यय परे होने पर गुण वृद्धि का प्रतिषेध करता है उसमें भी यथासंख्य इत्यादि सूत्र की प्रवृत्ति प्राप्त होगी क्योंकि कित् एवं ङित ये दो निमित्त हैं तथा गुण एवं वृद्धि ये निमित्ती भी दो हैं। कित् परे होने पर गुण का प्रतिषेध तथा ङित् परे होने पर वृद्धि प्रतिषेध ऐसा अर्थ होगा, जो अभीष्ट नहीं है। ङित के परे होने पर भी गुण प्रतिषेध हो जाता है तथा[1] कित् के परे होने पर भी वृद्धि का प्रतिषेध हो जाता है इसलिए कात्यायन ने वार्तिक दिया कि कित् एवं ङित प्रत्यय परे होने पर गुण वृद्धि प्रतिषेध करने में इस सूत्र (यथासंख्यम् इत्यादि) की प्रवृत्ति नहीं होती। पुण्यराज ने इस वार्तिक को क्रम की अविवक्षा का उदाहरण माना है। क्योंकि क्रम अभीष्ट न होने के कारण ही इस वार्तिक को दिया गया। इस सम्बन्ध में यदि महाभाष्य की व्याख्या देखी जाए तो उसके अनुसार क्ङिति च सूत्र में यथासंख्यमनुदेशः··· सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि 'क्ङिति' में गकार भी विद्यमान है। अतः निमित्त तीन हैं तथा निमित्ती दो हैं अतः निमित्ती समान न होने के कारण इस सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होती।[2] पुण्यराज के अनुसार निमित्त संख्या वाले दो ही हैं इसीलिए उन्होंने इस सूत्र में क्रम की अविवक्षा मानी है।

प्रयोजक लक्षण

प्रयोजक लक्षण का केवल एक उदाहरण लोक से ही पुण्यराज ने दिया है। वेद एवं शास्त्र से उन्होंने उदाहरण नहीं दिये तथा 'वेदशास्त्रयोरप्यूह्यम्' कहकर छोड़ दिया। प्रयोजक लक्षण को लोक में स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि राजा छत्र छाया का प्रयोजक है। राजा हस्ति इत्यादि पर बैठा हुआ है उन पर भी छत्रछाया आ रही है। अतः यद्यपि हस्ति आदि छत्रछाया के प्रयोजक नहीं है फिर भी छत्रछाया से सम्बद्ध होने के कारण वे भी प्रयोजक कहलाते हैं। यह उदाहरण एकफल होने पर प्रयोजक भाव का उदाहरण है। अर्थात् राजा एवं हस्ति दोनों के लिए एक ही फल आतप निवारण है।[3]

---

1. शास्त्रे यथोक्तं वार्तिककृता-अतिप्रसङ्गो गुणवृद्धिप्रतिषेधे क्ङित इति।
—पु० रा० वा०, प०, 2-80

2. गकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते। तद्गकारग्रहणं कर्त्तव्यम्? न कर्त्तव्यम् क्रियत न्यास एव। ककारे गकारश्चर्त्वभूतो। निर्दिश्यते। गिति किति ङितीति।
—महा० भा० अ० सू०, 1.3.10 वार्तिक 8 पर

3. तत्र राजा छत्रच्छायायाः प्रयोजकः, हस्त्यादयस्तदाधारा अप्रयोजका अपि छत्रच्छायया सम्बध्यमानाः प्रयोजका उच्यन्ते इत्येकफलतया प्रयोजकभावः।
—पु० रा० वा० प०, 2-81

शेष लक्षण एवं शेषी लक्षण

शेष का अर्थ गौण तथा शेषी का अर्थ मुख्य है।

शेष शेषी लक्षणों का वेद में उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य में व्रीहि शेषी है तथा उनका अवहनन शेष है।[1]

भेदलक्षण

भेद लक्षण का निर्देश आचार्य भर्तृहरि ने निम्न कारिका में किया है—

शक्तिव्यापारभेदोऽस्मिन् फलमत्रं तु भिद्यते।
सम्बन्धाज्जातभेदोऽयं भेदस्तत्राविवक्षितः ॥[2]

अर्थात् भेद कई प्रकार से होता है कहीं शक्ति भेद होता है, कहीं व्यापार भेद कहीं पर फल में भेद होता है, कहीं पर सम्बन्ध के कारण भेद होता है। पुण्यराज ने भेद के इन सभी रूपों को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। शक्तिभेद का उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि लोक में बलाहकाद्विद्योतते, बलाहके विद्योतते, बलाहको विद्योतते वाक्यों में बलाहक की शक्तियों का भेद है अर्थात् बलाहक में क्रमशः अपादान, अधिकरण तथा कर्ता शक्तियों के कारण भेद होता है।[3]

पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण में यही उदाहरण शक्ति एवं व्यापार भेद का उदाहरण है।[4] व्याकरण में केवल शक्तिभेद तो सम्भव है, परन्तु शुद्ध व्यापार भेद सम्भव नहीं है।[5] धनुषा विध्यति उदाहरण में शक्तिभेद है अर्थात् धनुषा में करणशक्ति है परन्तु उसमें अपादान शक्ति भी अन्तर्निहित है क्योंकि अपादान शक्ति का आश्रय लिये बिना धनुष का करणत्व सम्भव नहीं है।[6] अर्थात् धनुष वेधन क्रिया का साधन

---

1. वेदे यथा व्रीहीनवहन्तीति व्रीह्यः शेषिणः अवघातः शेषस्तदर्थत्वात्।
—पु० रा० वा० प०, 2-81

2. वा० प०, 2-83

3. तत्र लोके बलाहकाद्विद्योतते, बलाहके विद्योतते, बलाहको विद्योतत इत्यत्र बलाहकस्यापादानाधिकरणकर्तृशक्तीनां भेदः। —पु० रा० वा० प०, 2-83

4. शास्त्रे चात्रैव विवक्षावशाद् व्यापारभेदश्चेत्येवं शक्तिव्यापारभेदः।
—वही; 2-83

5. व्यापारभेदस्तु शुद्धो न सम्भवति। शक्तिभेदमन्तरेण व्यापारभेदस्यासम्भवात्।
—वही, 2-83

6. (क्वचित्तु) शक्तिभेदमात्रं न तु व्यापारभेदः। यथा धनुषा विध्यतीति।
अत्र हि गर्भीकृतापादानशक्तिः करणशक्तिर्विध्यत्यर्थभेदेन व्याप्रियते।
न ह्यन्यथानाश्रितापादानशक्तिधनुषः करणत्वं सम्भवति।
—वही, 2-83

तभी बन सकता है जब वह बाण से पृथक् होगा ।

फलभेद का उदारहण देते हुए पुण्यराज ने कहा है कि एक ही 'दान' से आयु आरोग्य तथा ऐश्वर्य रूप भिन्न-भिन्न फल मिलते हैं ।[1]

सम्बन्ध के कारण भेद को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि धातु वाच्य क्रिया के कर्त्ता में भेद होता है जैसे यदि कर्त्ता एकवचन में होता है तो पचति रूप बनता है परन्तु जब कर्त्ता द्विवचन अथवा बहुवचन में होता है, तब क्रिया में भी भेद हो जाता है तथा क्रमशः पचतः तथा पचन्ति रूप बन जाता है ।[2]

वेद में भेद का प्रदर्शन करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यजते, ददाति, जुहोति इत्यादि में याग दान तथा होम रूप अनुबन्ध के भेद से अपूर्व का भी भेद होता है ।[3]

भेद का प्रतियोगी अभेदलक्षण

आचार्य भर्तृहरि 'भेदस्तत्राविवक्षितः' कारिकांश के द्वारा अभेद लक्षण का निर्देश करते हैं । अर्थात् जब भेद की विवक्षा न हो तो अभेद लक्षण होता है । पुण्यराज ने भेद की भांति अभेद के भी विभिन्न प्रकार माने हैं और शक्ति, व्यापार, फल एवं सम्बन्ध के कारण अभेद का उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण किया है । शक्ति के अभेद को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा' (3.4.21) इस सूत्र में 'पक्त्वोदनं भुङ्क्ते' वाक्य में समानकर्तृकत्व भेद की अविवक्षा का उदाहरण है अर्थात् कर्ता की क्रिया भोजन करना है तथा कर्म की क्रिया पाक है परन्तु इस कर्ता एवं कर्म की शक्ति में भेद की यहाँ अविवक्षा है इसीलिए पाक एवं भोजन का कर्ता एक ही मानकर क्त्वा प्रत्यय सिद्ध हो जाता है ।[4]

फल के अभेद का उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि कुछ व्यक्ति दान का केवल एक ही फल प्रीति मानते हैं ।[5]

---

1. यथैकस्य दानस्यायुरारोग्यैश्वर्याणि भिन्नानि फलानि । —वही, 2-83
2. यथाऽख्यातेषु धातूपात्तायाः क्रियायाः प्रत्ययवाच्यकर्तृभेदे सति सम्बन्धात् क्रियाया अपि भेदः प्रतीयते, पचतः पचन्तीति । —वही, 2-83
3. वेदेऽपि भेदव्यवहारो दृश्यते । यजते, ददाति जुहोतीत्यादौ यागदानहोमरूपादनुबन्धभेदादपूर्वस्य भेदः । —वही, 2-83
4. अत्र शक्त्यभेदो यथा—समानकर्तृकयोरित्यत्र पक्त्वौदनं भुङ्क्त इति कर्तृकर्मणोः क्रियाभेदेन प्राप्तः शक्तिभेदो वक्त्रा न विवक्षितः । —वही० 2-83
5. अन्ये त्वायुष्यप्रभृतिषु सत्सु प्रीतिविशेषमेवैकं फलमाहुः । यै तथा यथा दानस्यैका प्रीतिः फलमिति केचन । —वही, 2-83

भेद की अविवक्षा का वेद में प्रदर्शन करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि छह आग्नेय आदि यागों का अपूर्व रूप साध्य में ही ऐक्य है ।[1]

इस प्रकार मीमांसादर्शन के लक्षणों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुण्यराज न केवल मीमांसादर्शन के ही लक्षणों को स्पष्ट करते हैं अपितु व्याकरण शास्त्र में भी इन लक्षणों की प्रवृत्ति प्रदर्शित करके सूत्रों की नई व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं । इस दृष्टि से इन्हें आचार्य पतंजलि की कोटि में रखा जा सकता है ।

मीमांसादर्शन में वर्णित इन लक्षणों के अतिरिक्त आचार्य भर्तृहरि ने पद पदार्थ का निश्चय करने में हेतु भूत कुछ अन्य न्यायों का भी निर्देश वाक्यपदीय में किया है ।[2] इनके सम्बन्ध में पुण्यराज कहते हैं कि आचार्य भर्तृहरि ने प्रौढ़वादिता के कारण पदपदार्थ के निश्चायक अन्य भी बहुत से न्यायों का परिगणन किया है ।[3] पुण्यराज ने उन न्यायों का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

प्रसज्यप्रतिषेध

प्रसज्यप्रतिषेध न्याय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जहाँ नञ् का सम्बन्ध क्रियापद से होता है तथा वाक्यभेद होता है वह प्रसज्यप्रतिषेध होता है ।[4] इस प्रसज्यप्रतिषेध न्याय को लोकवेद एवं व्याकरण शास्त्र के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं । लोक में इस न्याय का उदाहरण देते हुए 'असूर्यपश्या राजदारा' वाक्य उद्धृत करते हैं । अर्थात् यहाँ 'सूर्यं न पश्यन्ति इति' असूर्यपश्या में न का सम्बन्ध क्रिया से है ।[5] वेद में इस न्याय का उदाहरण देते हुए पुण्यराज 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः नानृतं वदेत्' वाक्य देते हैं ।[6] व्याकरणशास्त्र में प्रसज्य प्रतिषेध का उदाहरण पुण्यराज

---

1. अभेदोऽपि यथा—षण्णामाग्नेयादियागानामेकस्मिन्नेवापूर्वे साध्ये ऐक्यमिष्यत इति ।
—वही, 2-83

2. प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं पर्युदासोऽयमत्र तु ।
इदं गौणमिदं मुख्यं व्यापीदं गुरु लघ्विदम् ॥
भेदेनाङ्गाङ्गिभावोऽस्य बहुधेदं विकल्प्यते ।
इदं नियम्यतेऽस्यात्र योग्यत्वमुपजायते ॥
अस्य वाक्यान्तरे दृष्टाल्लिङ्गाद्भेदोऽनुमीयते ।
अयं शब्दादपोद्धृत्य पदार्थः प्रविभज्यते ॥ —वा० प०, 2-84, 85, 86

3. इदानीं षड् द्वादशचतुर्विंशतिर्व्यतिरिक्ता अप्यमी बहुप्रकारा न्यायाः पदार्थनिश्चय-हेतवः सन्तीति प्रौढवादितया टीकाकारः प्रदर्शयितुमाह'''।
—पु० रा० वा० प०, 2-84

4. यत्र क्रियापदेन नञः सम्बन्धो वाक्यभेदश्च । —वही, 2-84

5. लोके यथा—असूर्यपश्या राजदारा इति । —वही, 2-84

6. वेदे यथा 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः नानृतं वदेत्' इत्यादि —वही, 2-84

'अकर्त्तृरि च कारके संज्ञायाम्' सूत्र देते हैं। इस सूत्र का अर्थ है कर्ता भिन्न कारक तथा संज्ञा में घञ् प्रत्यय होता है। यहाँ कारक एवं संज्ञा में घञ् प्रत्यय होता है' एक वाक्य है तथा 'कर्त्ता कारक में घञ् नहीं होता' दूसरा वाक्य है तथा 'नञ् का सम्बन्ध क्रिया से है। 'न स्यात्' अर्थात् घञ् नहीं होता।[1]

पर्युदास

पर्युदास प्रसज्यप्रतिषेध का विपरीत है। इसे स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते है कि—'तत्र ह्ययाख्यातेनैव नञः सम्बन्धःएकवाक्यता च'। परन्तु यहाँ 'तत्र ह्ययाख्यातेन नैव नञः सम्बन्ध एकवाक्यता च होना चाहिए था। सम्भवतः प्रकाशन की त्रुटि के कारण' नञ् का प्रयोग नहीं हुआ। इस प्रकार पर्युदास में नञ् का सम्बन्ध क्रियापद से नहीं होता तथा वाक्यभेद न होकर एकवाक्यता होती है।[2] उदाहरण के लिए -अब्राह्मणमानय' वाक्य में आनयन क्रिया का निषेध नहीं है अपितु ब्राह्मण का निषेध है तथा एक ही वाक्य है कि ब्राह्मणत्वरहित व्यक्ति को लाओ।[3] इसी प्रकार वेद में 'अब्राह्मणः सोमविक्रयी' वाक्य पर्युदास का उदाहरण है क्योंकि यहाँ सोम विक्रयी के साथ नञ् का सम्बन्ध नहीं है अपितु ब्राह्मण से अतिरिक्त व्यक्ति ही सोम विक्रयी है।[4] व्याकरण शास्त्र में 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र को पुण्यराज पर्युदास के उदाहरण के रूप में उद्धृत करते हैं।[5] अर्थात् यह सूत्र उपसर्गरहित कर्म के उपपद रहते आदन्त धातु से 'क' प्रत्यय का विधान करता है। यहां उपसर्ग का निषेध है। नञ् का सम्बन्ध उपसर्ग से है क्रिया से नहीं। क प्रत्यय तो होता ही है उपसर्ग रहित कर्म उपपद होना चाहिए।

गौण एवं मुख्य अर्थ

गौण अर्थ का लौकिक उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'सिंहो माणवकः' तथा 'गंगायां घोषः' वाक्यों में सिंहः तथा गंगायाम् शब्द अपने मुख्य अर्थ में प्रयुक्त न होकर गौण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[6]

पुण्यराज गौण अर्थ का वैदिक उदाहरण देते हुए कहते हैं कि 'आदित्यो यूपः

---

1. शास्त्रे यथा—'अकर्तरि च कारके' इति। —पु० रा० वा० प०, 2-84
2. पर्युदासः खलु प्रसज्यप्रतिषेधविपरीतस्तत्र ह्याख्यातेनैव नञः सम्बन्ध एकवाक्यता च। —वही, 2-84
3. लोके यथा 'अब्राह्मणमानय' इति। —वही, 2-84
4. वेदे यथा—'अब्राह्मणः सोमविक्रमी।' —वही, 2-84
5. तत्र शास्त्रे यथा—'आतोऽनुपसर्गे कः' इति। —वही, 2-84
6. लोके च—सिंहो माणवकः, गंगायां घोष इत्यादि। —वही, 2-84

यजमानः प्रस्तरः' वाक्य में वास्तव में यूप आदित्य नहीं है तथा प्रस्तर यजमान नहीं है अपितु आदित्य के समान उज्जवल होने के कारण यूप को आदित्य तथा यजमान के समान उपकारक होने के कारण प्रस्तर को यजमान कहा गया है ।[1]

पुण्यराज कहते हैं कि पाणिनि सूत्र 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः में समानाधिकरण' शब्द गौण अर्थ में प्रयुक्त है क्योंकि समानाधिकरण तत्पुरुष नहीं होता अपितु अवयव समानाधिकरण होते हैं ।[2]

मुख्य अर्थ का लौकिक उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'शूरो माणवकः' वाक्य में शूर शब्द का प्रयोग अपने मुख्य अर्थ में हुआ है ।[3] वेद में 'यजमानोऽध्वर्युमालभेत' वाक्य में यजमान एवं अध्वर्यु शब्द मुख्य अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं ।[4]

व्यापी अर्थ

व्यापी अर्थ का उदाहरण देते हुए पुण्यराज निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—

उपोष्य रजनीमेकां सन्निहत्यां नरोत्तमः ।
सौर्ये तमसि गंगायां चान्द्रे चापि विमुच्यते ।।[5]

अर्थात् सन्निहति में किसी इतिकर्त्तव्यता से अमरसिन्धु स्नान बन जाता है । अतः सन्निहति में एक रात उपवास व्यापक फल देता है ।[6]

वेद में व्यापकता का उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि सभी प्रधान याग विषयक जो ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि अधिकार विधियाँ हैं वे 'विश्वजितादि' जिन यागों में फल नहीं सुनाई देते उनमें स्वर्ग रूप फल धारण करती है । अतः यह अधिकार विधियों का व्यापक प्रयोग है ।[7]

---

1. वेदे यथा—'आदित्यो यूपः यजमानः प्रस्तर' इति । अत्र गुणाच्चाकचक्यादेर्यूपादिरप्यादित्यादिरित्युच्यते ।
—पु० रा० वा० प०, 2-84
2. शास्त्रे यथा—'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः' इति अत्रावयवानां समानाधिकरणत्वास्त्पुरुषत्तयापि समानाधिकरणत्वम् । — वही, 2-84
3. लोके यथा—शूरो माणवक इति । —वही, 2-84
4. वेदे यथा—'यजमानोऽध्वर्युमन्वालभते इत्यत्राध्वर्युयमानौ मुख्यावेव ।
—वही, 2-84
5. वही, 2-84
6. लोकेऽपि यथा—यया कयाचिदितिकर्त्तव्यतया सन्निहत्याममरसिन्धुस्नानम् ।
—वही, 2-84
7. वेदेऽपि 'सर्वे प्रधानयागविषया ज्योतिष्टोमेन' इत्याद्यधिकारविधयः ।
– वही, 2-85

व्याकरणशास्त्र में 'एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ' सूत्र में लौकिक सम्बुद्धि (सम्बोधन) का ग्रहण करने से कृत्रिम सम्बुद्धि (एकवचनं सम्बुद्धिः) का भी ग्रहण हो जाता है। पुण्यराज कहते हैं कि लौकिक सम्बुद्धि व्यापक होने के कारण इस सूत्र में गृहीत होती है।[1]

महाभाष्य में भी इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि पारिभाषिक सम्बुद्धि का ग्रहण करना चाहिए अथवा अन्वर्थ अर्थात् लौकिकी का, कहा गया है कि यदि पारिभाषिक सम्बुद्धि का ग्रहण करें तो केवल एकवचन का ही ग्रहण हो सकेगा। देवाः ब्राह्मणाः इन बहुवचनों का ग्रहण न हो सकेगा। तथा यदि लौकिक सम्बुद्धि का ग्रहण करें तो कोई दोष नहीं है।[2] पुण्यराज ने यह स्पष्ट किया है कि लौकिक सम्बुद्धि का ग्रहण करने में व्यापी न्याय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार महाभाप्य की ही व्याख्या को पुण्यराज ने शास्त्रीय रूप दे दिया है और स्पष्ट किया है कि व्याकरण में भी पदार्थ निश्चय के उपायों की आवश्यकता पड़ती है।

लघु गुरु

पुण्यराज कहते हैं कि पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (6।3।109) सूत्र द्वारा शिष्ट प्रसिद्ध साधु शब्दों के समूह का प्रतिपादन करना लघु उपाय है। परन्तु 'प्रातिपदिक से अनभिहित कर्मादिभात एकत्व इत्यादि में सु आदि की उत्पत्ति होती है;[2] इस प्रकार से शब्दों का प्रतिपादन करना गुरु उपाय है। वेद में गुरु लाघव का व्यवहार तन्त्र प्रसंग एवं आवृत्ति में होता है। आवृत्ति में गुरु व्यवहार होता है तथा तन्त्र एवं प्रसंग में लघु व्यवहार होता है।[4]

---

1. शास्त्रे यथा—'एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ' इति। तत्र हि लौकिक्याः सम्बुद्धेर्ग्रहणं व्यापित्वात्। तद्ग्रहणे हि शास्त्रीयापि सम्बुद्धिः परिगृहीता भवति।
—पु० रा० वा० प०, 2-84

2. किमिदं पारिभाषिक्याः सम्बुद्धेर्ग्रहणम् 'एकवचनं सम्बुद्धिः (2।4।49)' इति, आहोस्विदन्वर्थग्रहणं सम्बोधनं सम्बुद्धिरिति ? किं चातः ? यदि पारिभाषिक्या सम्बुद्धेर्ग्रहणं देवाः ब्राह्मणा अत्र न प्राप्नोति। अथान्वर्थग्रहण, न दोषो भवति यथा न दोषस्तथास्तु। —महा भा०, अ० सू०, 1।2।33

3. तत्र शास्त्रे यथा—पृषोदरादीनि यथोपदिष्टमिति शिष्टप्रसिद्धसाधुशब्दौघ प्रतिपादने लघुरुपायः। स एव तु प्रातिपदिकादनभिहितकर्मादिगतैकत्वादौ स्वादय इत्यादिना गुरुरुपायः। —पु० रा० वा० प०, 2-84

4. वेदे तु गुरुलाघवव्यवहारः तन्त्रप्रसङ्गावृत्तिषु। तन्त्र प्रसंग एवं आवृत्ति लक्षणों का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय में पहले कर दिया गया है।

अर्थ का नियमन

पार्थः एव धनुर्धरः वाक्य में धनुष का धारण केवल राजा के लिए नियमित कर दिया गया है।[1] इसी प्रकार वेद में 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' वाक्य वाग्विसर्जन का नियमन करता है कि विशेष नियतकाल में ही वाणी का विसर्जन करना चाहिए।[2] पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरणशास्त्र में भी नियमन देखा जाता है। उदाहरण के लिए 'पतिः समासे एव' तथा 'ते प्राग्धातोः' सूत्रों में कार्यों का नियमन किया गया है अर्थात् पति शब्द को शेषो घ्यसखि सूत्र द्वारा प्राप्त 'घि' संज्ञा का 'पतिः समासे एवं सूत्र द्वारा केवल समास में ही घि संज्ञा का नियमन होता है। इसी प्रकार 'ते प्राग्धातोः' सूत्र भी उपसर्गों का धातु से पूर्व ही प्रयोग नियमित करता है। अतः लोक एवं वेद के साथ-साथ व्याकरण शास्त्र में भी 'नियमन' न्याय लागू होता है।[3]

योग्यत्व

योग्यत्व को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'धुरिधुर्यो नियुज्यते' वाक्य में योग्यता न्याय की प्रवृत्ति होती है क्योंकि यहाँ धुर्य (वृषभ) की ही योग्यता मानी गई है।[4]

इसी प्रकार वेद में ज्योतिष्टोमेन यजेत' में ज्योतिष्टोम यज्ञ के प्रति त्रिवर्ण की ही योग्यता मानी गई है।[5] 'उरण् रपरः सूत्र में योग्यत्व न्याय की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् ऋ के स्थान पर होने वाले अण्[6] की ही रपरत्व के प्रति योग्यता इस सूत्र द्वारा होती है, प्रत्येक अण् की नहीं।[7]

लिंग न्याय

दूसरे वाक्य में देखे गये लिंग द्वारा वाक्य में अर्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए

---

1. लोकेऽपि—पार्थे एव धनुर्धर इत्यत्र धानुष्कत्वं पार्थे नियम्यते।
—पु० रा० वा० प०, 2-85
2. वेदे यथा 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' इति। अत्र नियत एव काले वाग्विसर्गो नियमितः।
—वही, 2-85
3. शास्त्रे यथा—'पतिः समास एव', 'ते प्राग्धातोः' इत्यादि। —वही, 2-85
4. लोके यथोच्यते 'धुरि धुर्यो नियुज्यते' इति। —वही, 2-85
5. वेदे यथा 'ज्योतिष्टोमेन यजेत इत्यत्र त्रैवर्णिकस्यैव योग्यत्वम्।'
—वही, 2-85
6. आद् गुणः। —अ० सू०, 6।1।87
7. यथा शास्त्रे—'उः स्थानेऽणः प्रसज्यमानस्यैव रपरत्वं प्रति योग्यत्वमुपजायते इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-85

पुण्यराज एक श्लोक की पंक्ति देते हैं 'रामोऽसौ भुवनेषु' तथा[1] कहते हैं कि इस पंक्ति में प्रयुक्त राम शब्द का अर्थ परशुराम नहीं है अपितु 'एकबाणाहत श्रेणीभूतविशालताल-विवरोद्गीर्णै: स्वरैः सप्तभिः' पंक्ति में देखे गये लिङ्ग द्वारा दशरथ का पुत्र राम अर्थ निश्चित होता है ।[2]

वेद में लिंग न्याय की प्रवृत्ति दिखाते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'अक्ताः शर्करा' वाक्य में केन अक्ताः यह आशंका होने पर 'तेजो वै घृतम्' वाक्य में घृत की स्तुति रूप लिंग द्वारा 'घृतेन अक्ता' अर्थ की प्रतीति हो जाती है ।[3]

लिंग न्याय की प्रवृत्ति व्याकरण में प्रदर्शित करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'ओः पुयण्ज्यपरे' सूत्र द्वारा अभ्यास के उकार को इकार आदेश इस बात का ज्ञापक है कि णिच् निमित्तक अजादेश स्थानीवत् होता है । द्विर्वचनेऽचि सूत्र द्वारा तो द्वित्व निमित्तक अजादि परे होने पर ही अजादेश स्थानिवत् होता है। णिच् तो द्वित्व निमित्तक नहीं है अतः अजादेशस्थानिवत् प्राप्त नहीं होता । इससे भू धातु का भाव् णिच् सन्' रूप होने पर यदि णिच् निमित्तक आदेश स्थानिवत् न माने तो भाव् को द्वित्व होगा तथा अभ्यास में उकार न होने पर ओः पुयण् इत्यादि सूत्र व्यर्थ होगा अतः इस सूत्र द्वारा यह सूचित होता है कि णिच् होने पर 'भू' को जो अजादेश होता है वह स्थानीवत् ही होता है ।[4]

---

1. पूरा श्लोक पण्डित रघुनाथ शर्मा ने दिया है तथा इसका सन्दर्भ भी दिया है कि यह श्लोक सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० 586 काव्यप्रकाश 5।109, वक्रोक्तिजीवित पृ० 28 तथा काव्यानुशासन पृ० 29 में भी उपलब्ध होता है ।

    रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः समृद्धिं पराम्
    अस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानातितम् ।
    वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहत-
    श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ।।

    —पं० रघुनाथ शर्मा, वा० प०, 2-85 पर

2. लोके यथा रामोऽसौ भुवनेष्वित्यादौ दाशरथिः परशुरामो वेति संशये वाक्यान्तर-गतात् 'एकबाणहतश्रणीभूतविशालताविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः' इति लिङ्गाद् दाशरथिप्रतिपत्तिश्चेति । —वही, 2-86

3. वेदे यथा 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इत्यत्र केनास्ता इत्याशङ्कायां 'तेजो वै घृतम्' इति घृतस्तुतेर्वाक्यान्तराल्लिङ्गात् घृतेनाक्ता इति विशेषः प्रतीयते ।

    —वही, 2-84

4. शास्त्रे यथा—ओः पुयण्ज्यपर इति वचनाण् णौ कृतं स्थानिवद्भवतीति ।

    —वही, 2-85

लौकिक भाषा में शब्दार्थ निर्णय के उपायों की पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रवृत्ति

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यकाण्ड में कुछ उपायों का परिगणन कराया है जो शब्दार्थ निर्णय में हेतुभूत होते हैं।[1] आचार्य भर्तृहरि द्वारा केवल नामतः निर्दिष्ट उपायों को पुण्यराज ने न केवल लौकिक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है अपितु पाणिनीय सूत्रों में भी इन उपायों की प्रवृत्ति दिखाकर उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि भाषा बनाने वाला शास्त्र भी भाषा के नियमों से बँधा रहता है। यद्यपि 'भर्तृहरि का पदार्थ विवेचन' अध्याय (सप्तम अध्याय) में भी इन उपायों का विवेचन कर दिया है परन्तु पुण्यराज द्वारा पाणिनि सूत्रों में इन उपायों की प्रवृत्ति प्रदर्शित करने के लिए यहाँ इनका विवेचन करना आवश्यक है—

(1) वाक्य द्वारा शब्दार्थ निर्णय

पाणिनीय अष्टाध्यायी में वाक्य द्वारा शब्दार्थ निर्णय के उदाहरण के रूप में पुण्यराज 'कर्मणि द्वितीया' (2।2।2) सूत्र देते हैं। इस सूत्र में 'अनभिहिते' तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' एवं 'बहुषु बहुवचनम्' सूत्रों की अनुवृत्ति करके 'अनभिहित कर्मादि में जो एकत्व आदि है वहां प्रातिपदिक से द्वितीयादि विभक्ति होती है' इस अर्थ की संगति कर ली जाती है। अर्थात् 'कर्मणि' शब्द का अर्थ अनभिहिते इत्यादि सूत्रों की अनुवृत्ति द्वारा निश्चित होता है।[2] इस प्रकार काशिका में जो 'अनभिहितकर्माद्या-श्रयेष्वैकत्वादिषु द्वितीयादयो वेदितव्याः'[3] अर्थ कर्मणि द्वितीया सूत्र का दिया है उसका हेतु पुण्यराज ने स्पष्ट किया है कि वाक्य के द्वारा ही यह अर्थ गृहीत होता है।

---

1. वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥
—वा० प०, 2-314, 315, 316

2. तथा च शास्त्रे 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादीनि पृथगेव प्रकरणानि विरचितानि। तत्र प्रातिपदिकादनभिहिते कर्मादौ यदेकत्वादि तत्र द्वितीयाद्या विभक्तयो भवन्तीत्येव-मर्थस्य सङ्गतेराकांक्षादिवशाद् भिन्नेष्वपि प्रकरणेषु तात्पर्यालोचनके श्रोतरि वाक्यीयः सम्बन्धोऽर्थनिश्चयाय पर्यवस्यतीति वाक्याच्छब्दार्थनिर्णयः।
—वही, 2-314

3. काशिका, अ० सू०; 2।3।2 पर

प्रकरण द्वारा शब्दार्थ निर्णय

व्याकरणशास्त्र में प्रकरण द्वारा सूत्रों के शब्दों के अर्थ निर्णय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र (2।3।18) में 'करण' शब्द का अर्थ प्रकरण द्वारा ही निश्चित होता है। यह सूत्र कारक प्रकरण में पठित है। अतः यहाँ करण शब्द का अर्थ क्रिया न होकर (करण) कारक है। इसके विपरीत शब्द-वैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्य करणे (3।1।1) सूत्र में करण शब्द का अर्थ क्रिया लिया गया है क्योंकि यह सूत्र धातु के प्रकरण में पठित है।[1]

(3) अर्थ द्वारा शब्दार्थ निर्णय

व्याकरण शास्त्र में अर्थ रूप उपाय की प्रवृत्ति पुण्यराज ने 'पूरण गुणसुहितार्थ-सदव्ययतव्यसमानाधिकरणे' (2।2।11) सूत्र में प्रदर्शित की है। पुण्यराज कहते हैं कि इस सूत्र में 'गुण' शब्द का अर्थ 'अर्थ' के द्वारा निश्चित हुआ है। 'गुण' शब्द का एक अर्थ विशेषता है तथा एक पारिभाषिक अर्थ अ, ए एवं ओ' है (अदेङ् गुणः)। इस सूत्र में गुण शब्द से 'अदेङ्' का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि अ, ए एवं ओ के साथ षष्ठी का समास नहीं हो सकता। अतः अर्थ के कारण 'गुण' शब्द का इस सूत्र में 'विशेषण' अर्थ है।[2] इस प्रकार यद्यपि सूत्रों के व्याख्याकारों ने 'गुण' शब्द का प्रयोग विशेषण के लिए किया है फिर भी पुण्यराज ने यह स्पष्ट किया है कि किस कारण से गुण शब्द का अर्थ 'अदेङ्' न होकर विशेषण हुआ है। इसके विपरीत 'न शसददवादिगुणानाम्' (6।4।126) सूत्र में गुण शब्द से आश्रयी का बोध न होकर पारिभाषिक 'अदेङ्' का बोध होता है। यह सूत्र शस दद एवं वकारादि के अकार तथा गुण शब्द से निर्वृत्त अकार को एत्व तथा अभ्यास लोप का निषेध करता है। अर्थ की संगति पारिभाषिक अर्थ को ग्रहण करने में ही होती है।[3]

औचित्य द्वारा शब्दार्थ निर्णय

औचित्य की प्रवृत्ति व्याकरण में प्रदर्शित करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि

---

1. तथा च उभयावगतौ सत्याम् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' 'इत्यत्र कारकाणां प्रक्रान्तत्वात् करणशब्देन क्रियाग्रहणं न विज्ञायते, शब्दवैरेत्यादौ सूत्रे च धात्वधिकारे करणशब्दात् क्रिया प्रतीयत इति। —पु० रा० वा० प० 2-314
2. शास्त्रेऽपि पूरणगुणसुहितार्थेत्यत्र गुणेन सह षष्ठी न समस्यत इत्यर्थसामर्थ्याददेङ्ग्रहणम-सम्प्रत्ययः। —पु० रा० वा० प०, 2-314
3. तथा 'न शसददवादिगुणानाम्' इत्यत्र नाश्रयिणो ग्रहणं भवत्यर्थादिति। —वही, 2-314

'प्रष्ठादि' शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त अग्रगामित्व आदि है। औचित्य के कारण वे प्रवृत्ति निमित्त पुंल्लिग में ही सम्भव होने के कारण ही प्रष्ठ आदि शब्द पुंशब्द कहलाते हैं। प्रयोग के कारण ही प्रष्ठादि शब्द स्त्रीलिंग में प्रवृत्त होते हैं साक्षात् रूप में नहीं। इसीलिए 'प्रयोगादाख्यायाम्' सूत्र द्वारा प्रष्ठी आदि के निमित्त के रूप में प्रष्ठ आदि का सम्बन्ध ही प्रदर्शित किया गया है।[1]

संसर्ग द्वारा शब्दार्थ निर्णय

संसर्ग न्याय की व्याकरण शास्त्र में पुण्यराज ने प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। पाणिनि सूत्र 'अवाद्ग्रः' में ग्रः शब्द का अर्थ संसर्ग के द्वारा निश्चित होता है। 'गृ' धातु का ही अव उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होता है गॄ धातु का नहीं अतः 'अव' के संसर्ग के कारण 'ग्रः' शब्द का अर्थ निश्चित हुआ है।[2] पुण्यराज ने संसर्ग के द्वारा शब्दार्थ निर्णय को इस सूत्र में प्रवृत्त करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सूत्र अपने में ही पूर्ण अर्थ प्रदान कर देता है। 'अवाद् ग्रो गिरतेः' वार्तिक की आवश्यकता नहीं है।

विप्रयोग द्वारा अर्थ निर्णय

पुण्यराज कहते हैं कि पाणिनि सूत्र 'भुजोऽनवने' (1।3।66) में 'भुजः' शब्द का अर्थ विप्रयोग द्वारा निश्चित होता है अर्थात् 'भुजः' शब्द से रुधादिगणीय भुज् धातु (भुजपालनभ्यवहारयोः) का ही ग्रहण होता है। तुदादिगणीय कौटिल्यार्थक भुज् धातु (भुजो कौटिल्ये) का नहीं। पुण्यराज कहते हैं कि अवन का विप्रयोग रुधादिगणीय 'भुज्' से ही सम्भव होने के कारण इस सूत्र में रुधादिगणीय 'भुज' धातु का ही ग्रहण होता है।[3]

साहचर्य द्वारा शब्दार्थ निर्णय

पाणिनिसूत्रों में साहचर्य द्वारा शब्दार्थ निर्णय को प्रदर्शित करते हुए पुण्यराज

---

1. यथा वा प्रष्ठादयः शब्दा अग्रगामित्वादिनिमित्तसमाश्रयणेन प्रवर्त्तमानास्तस्य च प्रवृत्तिनिमित्तस्यौचित्यात् पुंस्येव सम्भवात् पुंशब्दास्त उच्यन्ते, तद्योगात् स्त्रियां वर्तन्ते न साक्षादिति प्रष्ठसम्बन्ध एव प्रष्ठ्यादीनाम् पुंयोगादाख्याम्' इत्यनेन निमित्तत्वेनोपदर्शितः।
—पु० रा० वा० प०, 2-314

2. शास्त्रे यथा 'अवाद् ग्रः' इत्यत्र यस्यावेनोपसर्गेण सम्बन्धः सम्भवति स एव गृह्यते गिरतिः। गृणातेस्तु स्वभावादर्थविरोधादेव सम्बन्धो नोपपद्यत एव।
—वही, 2-315

3. शास्त्रेऽपि 'भुजोऽनवने' इति यस्य भुजेरवनमनवनं चार्थस्तस्य ग्रहणं विज्ञायते, न तु कौटिल्यार्थस्य। निर्भुजति पाणिमिति।
—वही, 2-315

'विपराभ्यां जे:' सूत्र (1।3।19) उद्धृत करते हैं। इस सूत्र में 'परा' शब्द का प्रयोग है जिसके उपसर्ग एवं अनुपसर्ग दोनों अर्थ होते हैं। इसी सूत्र में 'वि' शब्द का भी प्रयोग हुआ है जो केवल उपसर्ग ही है। पुण्यराज कहते हैं कि इस सूत्र में 'परा' शब्द का अर्थ परा 'उपसर्ग' वि शब्द के साहचर्य के कारण निश्चित हुआ है।[1] आचार्य पतंजलि भी इस सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि यद्यपि 'परा' शब्द उपसर्ग एवं अनुपसर्ग दोनों होने के कारण, दृष्टापचार है परन्तु वि शब्द नित्य उपसर्ग है उसमें व्यभिचार नहीं है अत: परा शब्द के अर्थ के निश्चय के लिए 'वि' उपसर्ग को छोड़कर और कौन-सा शब्द सहायक हो सकता हैं।[2] इसी प्रकार 'अन्तरान्तरेण युक्ते' सूत्र में प्रयुक्त अन्तरा एवं 'अन्तरेण' शब्द निपात भी है और अनिपात (टाप्, तृतीयान्त) भी है अतः इस सूत्र में दोनों के परस्पर साहचर्य के कारण निपात अर्थों का ही ग्रहण होता है।[3] पुण्यराज ने 'अन्तरा' शब्द को निपात एवं अनिपात दोनों माना है जबकि आचार्य पतंजलि ने इसे नित्य निपात कहा है।[4] कैय्यट भी पुण्यराज के समान ही अन्तरा को निपात एवं अनिपात दोनों मानते हैं।[5]

सामर्थ्य द्वारा शब्दार्थ निर्णय

सामर्थ्य के द्वारा पाणिनि सूत्रों में शब्दों के अर्थों का निश्चय होता है इसे स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' सूत्र

---

1. शास्त्रे यथा—'विपराभ्यां जे:' इत्यत्र पराशब्दोऽदृष्टव्यभिचारेण विना साहचर्या-दुपसर्ग एव गृह्यते। —पु० रा० वा० प०, 2-315
2. यद्यपि तावदयं पराशब्दो दृष्टापचार: उपसर्गश्चानुपसर्गश्च, अयं तु खलु विशब्दो दृष्टव्यभिचार उपसर्ग एव। तस्यास्य कोऽन्यो द्वितीय: सहायो भवितुमर्हति अन्य-दत: उपसर्गात्। —महा भा० अ० सू०, 1।3।19
3. यथा च 'अन्तरान्तरेण युक्ते' इत्यत्र द्वावपि टाप्तृतीयान्तयोरसम्भवाद् दृष्टाप-चारौ। अतः परस्परसाहचर्यान्निपातयोरेव ग्रहणमित्येवं साहचर्यमर्थनिर्णयहेतुः। —पु० रा० वा० प०, 2-315
4. अथवा यद्यपि तावदयमन्तरेणशब्दो दृष्टापचारो निपातश्चानिपातश्चायं तु खलु अन्तराशब्दोऽदृष्टापचारो निपात एव तस्यास्य कोऽन्यो द्वितीय: सहायो भवितु-मर्हति अन्यदतो निपातात्। —महा भा० अ० सू०, 2।3।5
5. नन्वन्तराशब्दोऽप्यनिपातष्टाबन्तोऽस्ति 'अन्तरायां पुरि वसती' ति तत्कथमसाव-दृष्टापचार: ? एवं तर्हि टाबन्तस्य लाक्षणिकत्वात्स्त्रीत्वापेक्षटाबाश्रयत्वाद्बहि-रङ्गत्वाच्चाग्रहणं मन्यते। अथवा परस्परसाहचर्यान्निपातयोर्ग्रहणमिति वाच्यम्। —कैय्यट, महा भा० अ० सू०, 2।3।4 पर

(1।2।43) में समासे शब्द का अर्थ सामर्थ्य के द्वारा ही निश्चित होता है। महाभाष्यकार 'समास' शब्द का अर्थ 'समास विधायक' शास्त्र देते हैं।[1] पुण्यराज ने यह स्पष्ट किया है कि इस सूत्र में समास शब्द से समास विधायक 'शास्त्र' अर्थ सामर्थ्य के कारण लिया गया है क्योंकि समासशास्त्र में प्रथमा निर्दिष्ट की उपसर्जन संज्ञा सम्भव हो सकती है।[2] अन्यथा समास में तो एक से अधिक पद भी प्रथमा में निर्दिष्ट हो सकते हैं। इस प्रकार पुण्यराज ने कारण देकर महाभाष्यकार के 'समासशास्त्र' अर्थ की पुष्टि की है। इसके विपरीत 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' सूत्र (1।2।44) में जिस 'समास' शब्द का अनुमान किया जाता है उसका अर्थ 'समासशास्त्र' न होकर 'विधीयमान समास' होता है।[3] पुण्यराज कहते हैं कि सामर्थ्य के कारण ही इस सूत्र में 'समास' शब्द का अर्थ निश्चित होता है।

इस प्रकार पुण्यराज स्पष्ट करते हैं कि लोक में प्रवृत्त होने वाले शब्दार्थ निर्णायक उपायों की पाणिनीय सूत्रों में भी प्रवृत्ति होती है। पुण्यराज ने पाणिनि सूत्रों में इन उपायों की प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हुए इन सूत्रों की नई व्याख्या की है।

पाणिनि सूत्रों पर महाभाष्य की व्याख्या

पुण्यराज ने पाणिनि सूत्रों पर महाभाष्य में उठाई गई शंकाओं का भी समाधान एक नये ढंग से किया है। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने महाभाष्य की आलोचना भी की है। इतना ही नहीं अष्टाध्यायी के सूत्रों का भी उन्होंने आलोचनात्मक विवेचन किया है। व्याकरणशास्त्र में प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में अभेद एवं भेद के द्वारा अर्थ की सिद्धि का विवेचन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि व्याकरण में प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में भेद तथा अभेद दोनों ही देखे जाते हैं। उदाहरण के लिये ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः सूत्र में प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में अभेद के द्वारा ही अर्थ बोध होता है तथा स्यतासीलृलुटोः सूत्र में प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में भेद द्वारा अर्थ बोध होता है।[4]

---

1. समासविधाने प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं भवती तिवक्तव्यम्।
—महाभा० अ० सू०, 1।2।43

2. शास्त्रेऽपि 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति समासार्थे शास्त्रे समासशब्दस्य प्रवृत्तिः।
—पु० रा० वा० प०, 2-316

3. एकविभक्तिर्यस्य तदिदमेकविभक्ति। समासे विधीयमाने यन्नियतविभक्तिकं द्वितीये सम्बन्धिनि बहुभिर्विभक्तिभिर्युज्यमानेऽपि एकयैव विभक्त्या युज्यते तदुपसर्जनसंज्ञं भवति अपूर्व निपाते।
—काशिका अ० सू०, 1।2।44

4. शास्त्रे प्रत्यायकस्यापि क्वचिदेकत्वमाश्रितम्।
प्रत्याय्येन क्वचिद्भेदो ग्रहणग्राह्ययोः स्थितः॥
ऊ इत्यभेदमाश्रित्य यथासंख्यं प्रकल्पितम्।
लृङ्लृटोर्ग्रहणे भेदो ग्राह्याभ्यां सह कल्पितः॥ —वा० प०, 2-9, 998

पुण्यराज महाभाष्य में वार्तिकों द्वारा यथासंख्यमनुदेश समानम्' (1।3।10) सूत्र पर उठाई गई शंका को उद्धृत करते हैं जिसमें स्यतासीलृलुटोः इत्यादि सूत्रों में यथासंख्य असम्भव माना गया है। महाभाष्य में यह शंका की गई है कि संख्यासाम्य यदि शब्दतः माने तो परस्मैपदानां णलतुसुस्थुलथुस—इत्यादि सूत्रों में शब्दतः संख्यासाम्य न होने के कारण यथासंख्य की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि 'परस्मैपदानां' एक शब्द है तथा णलादि अनेक हैं। यदि संख्यासाम्य अर्थतः मानें तो स्यतासीलृलुटो इत्यादि सूत्रों में समसंख्या न होने के कारण यथासंख्य की प्रवृत्ति न हो सकेगी क्योंकि स्यतासी दो है तथा निमित्त लृट् लृङ् तथा लुट् तीन हैं क्योकि लृ का अर्थ लृङ् तथा लृट् दोनों हैं।[1] महाभाष्य में 'ऊकालोऽज्झ्रस्व दीर्घप्लुतः' सूत्र शब्दतः संख्यासाम्य पर शंका करते हुए नहीं दिया गया परन्तु आचार्य भर्तृहरि एवं पुण्यराज दोनों ने ही इस सूत्र का उदाहरण देकर शब्दतः संख्यासाम्य पर लगाये गये दोषों का परिहार कर दिया है। शब्दतः संख्यासाम्य पर लगाये गये दोष का परिहार करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं कि 'परस्मैपदानां णलतुस्…इत्यादि सूत्रों में स्थानेऽन्तरतमः 1।1।50 सूत्र द्वारा व्यवस्था हो जाती हैं।[2] पुण्यराज ने शब्दतः संख्यासाम्य पर लगाये गये दोष का परिहार प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में अभेद मानकर किया है। पुण्यराज कहते हैं कि ऊ के द्वारा उ, ऊ, ऊ ३ 'इन तीनों का प्रत्यायन होता है प्रत्यायक 'ऊ' तथा प्रत्याय्य में अभेद मानकर ही इस सूत्र में यथासंख्य की सिद्धि हो जाती है अर्थात् प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में अभेद होने के कारण 'ऊ' के अन्तर्गत उ, ऊ, ऊ ३ प्रश्लिष्ट रूप में निर्दिष्ट है अतः संज्ञी तीन हैं तथा संज्ञाएं भी तीन होने के कारण समसंख्यात्व की सिद्धि हो जाने से ह्रस्व दीर्घ एवं प्लुत तीनों पृथग्-पृथग् अवस्थित हो जाते हैं।[3] परस्मैपदानां णलतुस्…इत्यादि सूत्रों

---

1. यथासंख्यमनुदेशः समानमित्यत्रोक्तम्—यथासंख्यं शब्दतश्चेत् णलादयः परस्मैपदानां, डारौरसः प्रथमस्य, एचोऽयवायावः इत्यनिर्देशः। अर्थतश्चेत् लृलुटोर्नन्द्यरीहणसिन्धुतक्षशिलादिषु दोष इति चोद्यमेवं पक्षद्वयमुपस्थितम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-99 तथा देखिये महाभा० 1।3।10

2. ननु चोक्तं 'संख्यासाम्यं शब्दतश्चेत् णलादयः परस्मैपदानां डारौरसः प्रथमस्यायवायव एव इत्यनिर्देशः' इति। नैष दोषः। स्थानेऽन्तरमः 1.1.50) इत्यनेन व्यवस्था भवति।
—महाभा०, 1।3।10

3. ऊ कालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत इत्यत्रोक्तम्—ह्रस्वादिषु समसंख्याऽप्रसिद्धिरुद्देशनिर्देशवैषम्यात्। सिद्धम् तु समसंख्यत्वात् त्रयाणां हि विकारनिर्देश इति। ततश्च ऊकाल इत्यत्र मात्रिकद्विमात्रत्रिमात्राणां संसृज्य निर्देशात् प्रत्याय्यप्रत्याययकयोरभेदे समसंख्यात्वान्निर्देशसाम्ये संख्यातानुदेशे सिद्धे ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञाः पृथगवतिष्ठन्त इति न कश्चिद्दोषः।
—पु० रा० वा० प०, 2-99
तथा देखिये महाभाष्य अ० सू०, 1।3।1। पर

में भी प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में अभेद मानकर ही समसंख्यात्वसिद्ध कर लिया जाना चाहिए। इस प्रकार पुण्यराज ने पाणिनि सूत्रों के सम्बन्ध में महाभाष्य में वार्तिकों द्वारा उठाई गई शंकाओं का पृथक् प्रकार से निराकरण किया है।

'स्यतासीलृलुटोः' इत्यादि सूत्रों के विषय में अर्थतः समसंख्यात्व मानने पर लगाये गये दोष का परिहार महाभाष्य में नहीं किया गया। अर्थतः समसंख्यात्व मानने पर लृट् लृङ् तथा लुट् तीन तथा स्यतासी ये निमित्ती दो होने के कारण समसंख्यात्व नहीं होता।[1] महाभाष्यकार केवल यह कहते हैं कि सन्देह के कारण लक्षण को अलक्षण नहीं समझना चाहिए अपितु शास्त्र के द्वारा ही विशेष प्रतिपत्ति होती है।[2] पुण्यराज ने अर्थतः संख्यासाम्य मानते पर स्यतासी लृलुटोः सूत्र में समसंख्यात्व की असिद्धि रूप दोष का परिहार प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में भेद मानकर किया है। पुण्यराज कहते हैं कि 'लृ' अनुबन्ध रहित सामान्य मात्र प्रत्यायक है तथा एक ही है प्रत्याय्य में भेद (दो) होने के कारण लृ भिन्न नहीं है। अतः प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में भेद होने के कारण लृ में लृट् तथा लृङ् का समावेश नहीं है अतः निमित्त लृ लुट् दो हैं तथा निमित्ती स्य एवं तासी भी दो होने के कारण संख्यासाम्य होने से यथासंख्य की प्रवृत्ति हो जाती है।[3] प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में भेद मानकर ही नन्दिग्रहि···, बुज्छण्कठ···। सिन्धुतक्षशिला···इत्यादि सूत्रों में भी समसंख्यात्व सिद्ध होने के यथासंख्य क्रम की प्रवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार महाभाष्यकार जिस सन्देह का निराकरण नहीं कर सके हैं उसका आचार्य भर्तृहरि एवं पुण्यराज ने कर दिया है जो उनकी व्याकरण शास्त्र को अनुपम देन है।

पुण्यराज ने पाणिनि सूत्रों की पूर्णता को भी स्पष्ट किया है। महाभाष्य में कहा गया है 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते'[4] अर्थात् 'षष्ठी शेषे' इस सामान्य सूत्र द्वारा विहित षष्ठी को छोड़कर विशेष लक्षण द्वारा विहित षष्ठी का समास नहीं

---

1. स्यतासी लृलुटोरित्यत्र लृशब्देन लृङ्लृटौ प्रत्याय्येत इति निमित्तनिमित्तिनोर्वैषम्यात् संख्यातानुदेशाभावः प्राप्नोति।
—पु० रा० वा० प०, 2-99

2. सर्वसन्देहेषु वेदमुपतिष्ठते—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न सन्देहादलक्षणमिति।
—महाभा० अ० सू०, 1।3।10 पर

3. तत्रोच्यते—लृलुटोरित्यत्र लृरूपभुत्सृष्टानुबन्धसामान्यमात्रं प्रत्यायकमभिन्नमेव, न पुनः प्रत्याय्यभेदाद्भिन्नमत्राभ्युपगम्यते। ततश्च निमित्तनिमित्तिनोः साम्यात् संख्यातानुदेशः सङ्गच्छत इति न किञ्चिदनिष्टम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-99

4. प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम्।
—महाभा० अ० सू०, 2।2।10 पर

होता। पुण्यराज कहते हैं कि महाभाष्यकार के इस कथन की कोई आवश्यकता नहीं है। 'मातुः स्मरणम्' इत्यादि वाक्यों में कर्म में शेषत्व विवक्षित होने पर 'शेषे षष्ठी' से षष्ठी सिद्ध हो जाती है फिर भी अधीगर्थदयेषां कर्मणि इत्यादि 2-3-51 से 2-3-58 सूत्रों द्वारा जो पुनः षष्ठी का विधान है वह यह सिद्ध करता है कि इन सूत्रों द्वारा कर्मादि की शेषत्व विवक्षा होने पर षष्ठी ही होती है अन्य जो कुछ भी प्राप्त होता है उसका निषेध होता है। अर्थात् 'षष्ठी' सूत्र द्वारा जो समास होता है वह नहीं होता। अतः पाणिनि सूत्रों द्वारा ही समास निवृत्ति सिद्ध हो जाती है 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' भाष्य की कोई आवश्यकता नहीं।[1] अतः पाणिनि-अष्टाध्यायी की पूर्णता पुण्यराज ने स्पष्ट की है। पुण्यराज ने इस विवेचन से यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अष्टाध्यायी में पुनरुक्ति दोष नहीं है अपितु उसका एक-एक सूत्र सप्रयोजन है।

पुण्यराज का प्रक्रिया ज्ञान

पुण्यराज का प्रक्रिया सम्बन्धी ज्ञान उनकी टीका में विभिन्न स्थलों पर स्पष्ट होता है। नामपदों के निर्वचन को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि वैर वासिष्ठ गिरिशः इत्यादि शब्दों का अन्वाख्यान अनेक निमित्तों के द्वारा किया जाता है।[2] पुण्यराज उस कारिका के अर्थ को स्पष्ट करते हुए गिरिशः शब्द की दो प्रकार से सिद्धि करते हैं। उन्होंने कहा है कि गिरिशः शब्द 'गिरौ शेते' अर्थ में 'गिरौ डश्छन्दसि' सूत्र द्वारा ड प्रत्यय लगने पर भी निष्पन्न होता है तथा गिरिं श्यति' अर्थ में 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र से 'क' प्रत्यय लगने पर भी निष्पन्न होता है।[3]

---

1. मातुः स्मरणमित्यादौ कर्मणि शेषत्वेन विवक्षिते सिद्धैव षष्ठीति पुनः प्रातिपद्येनाधीगर्थेत्यादिना (अ० सू०, 2।3।52) या षष्ठी विहिता सा नियमाय भवति। कर्मादौ शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठ्येव भवति। यदन्यत् प्राप्नोति तन्निषिध्यते। किं चान्यत् प्राप्नोति ? लुगादि। तत्र निदानोच्छेदनं विना न लुगादिनिवृत्तिः कर्तुं शक्येति समासनिवृत्तिरेव क्रियते। ततश्च षष्ठ्येव भवति। यदन्यतः पृष्ट्वाऽयाति समासलुगादि प्राप्नोति, तन्निवार्यत इत्यतः प्रतिपदं पुनः षष्ठी समासस्य निवृत्तये विहितेति बोद्धव्यम्। अतश्च 'प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यते' इति भाष्यं नारम्भणीयमेव। —पु० रा० वा० पा०, 2-198

2. वैरवासिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः।
कैश्चित्कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसङ्करैः॥ —वा० प०, 2-171

3. गिरौ शेते इति' गिरौ डश्छन्दसि' (3।2।15 वा०) इति के प्रत्ययेऽथवा गिरिं श्यतीति 'आतोऽनुपसर्गे कः' (3।2।3) इति के गिरिशः इत्येवं निमित्तावधिसाङ्कर्येणान्वाख्यानं कृतम्। —वही 2-171

इस प्रकार एक अन्य स्थल पर जहाँ आचार्य भर्तृहरि ने यह स्पष्ट किया है कि केवल रूप के द्वारा पदों का अर्थ निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि कई शब्दों के नाम एवं आख्यात समान रूप वाले होते हैं जिनका प्रकरणादि द्वारा ही विशेष स्थल पर अर्थ निश्चित होता है,[1] इसकी टीका में पुण्यराज ने अश्वः एवं अजापयः शब्दों की नाम एवं आख्यात के रूप में सिद्धि करके स्पष्ट किया है कि ये नाम शब्द आख्यात के रूप में भी सिद्ध किये जा सकते हैं।

अश्वः शब्द पुल्लिंग में प्रथमा विभक्ति एकवचन लगने से भी निष्पन्न होता है[2] तथा टुओश्वि (गतिवृद्ध्योः) धातु के लुङ् लकार मध्यम पु० एकवचन में भी निष्पन्न होता है। पुण्यराज द्वारा प्रदर्शित प्रक्रिया इस प्रकार हैं—

अश्वः टुओश्वि धातु लुङ् लकार मध्यम पुरुष एक वचन—

श्वि लुङ्	लुङ्
श्वि सिप्	तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्
श्वि च्लि सि	च्लि लुङि
श्वि च्लि स्	नित्यं ङितः तथा इतश्च
श्वि अङ् स्	जृस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च[3]
श्व अ स्	श्वयतेरः
श्व स्	अतो गुणे
श्वः	ससजुषो रुः, खरवसानयोः विसर्जनीयः
अश्वः	लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः

इस प्रकार अश्वः शब्द आख्यात पद है तथा अतीतकाल की श्वयति क्रिया का प्रतिपादक है।[4]

---

1. नामाख्यातसरूपा ये कार्यान्तरनिबन्धना।
शब्दा वाच्याश्च तेष्वर्थो न रूपादधिगम्यते ॥ —वा० प०, 2-318

2. अश्व इति च नामपदमश्वजातीयस्यार्थस्य सत्वभूतस्याभिधायकम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-318

3. पुण्यराज ने यहां जृस्तम्भु…इत्यादि सूत्र द्वारा च्लि को चङ् निर्देश कहा है जबकि अङ् होना चाहिए।

4. यथा अश्व इति टुओश्वि गतिवृद्ध्योरित्यस्माल्लुङि मध्यमपुरुषैकवचने सिपि 'नित्यं ङितः, इतश्च' इतीकारलोपे च्लिप्रत्ययस्य जृस्तम्भुभृच्चित्यादिना चङादेशे श्वयतेरस्तस्यातो गुणरूपत्वे सकारस्य रुत्वविसर्जनीययोः कृतयोर्लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वित्यादिनाऽटि कृते अश्व इत्याख्यातपदं श्वयतिक्रियायाः कर्त्रावच्छिन्नाया अतीतकालायाः प्रतिपादकम्। —वही, 2-171

इसी प्रकार पुण्यराज ने अजापय: शब्द की भी नाम एवं आख्यात दोनों रूपों में सिद्धि करके दिखाई है। अजाया: पय: अजापय: नामपद भी होता है तथा 'जि जये' धातु से 'कश्चिदजेयं जितवान् तमन्योऽनुप्रयुक्तवान्' इस अर्थ की विवक्षा में लङ् लकार मध्यम पु० एकवचन का णिजन्त रूप भी है।[1]

'अजापय:' इस आख्यात पद की णिजन्त जि धातु से लङ् लकार मध्यम पु० एकवचन में प्रक्रिया पुण्यराज इस प्रकार सिद्ध करते हैं—

जि णिच्	हेतुमति च
जा णिच्	क्रीङ्जीनां णौ
जा पुक् णिच्	अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ् णौ।
जापि लङ्	अनद्यतने लङ्
जापि सिप्	तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वसमस्
जापि शप् सि	कर्त्तरि शप्
जापे अ सि	सार्वधातुकार्धधातुकयो:
जापय स्	नित्यं ङित, इतश्च
जापय:	ससजुषोरु: तथा खरवसानयोर्विसर्जनीय
अट् जापय:	लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त:
अजापय:[2]	

अष्टाध्यायी में उत्सर्ग, अपवाद, नियम एवं प्रतिषेध सूत्रों में सम्बन्धों का पुण्यराज द्वारा प्रतिपादन

अपोद्धार का आश्रय लेकर वाक्यों में वाक्यैकदेश को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि ने अष्टाध्यायी के उत्सर्ग एवं अपवाद वाक्यों को एक ही वाक्य माना है और कहा है कि अपवाद वाक्य में जो बात कही गई है यद्यपि शब्दों के द्वारा उसका श्रवण उत्सर्ग वाक्य में नहीं होता फिर भी उसे शब्दवत् ही समझना चाहिए।[3] पुण्यराज ने

---

1. यथा जापय इत्येतद् जि जय इत्यस्माद्धातो: कश्चिदजेयं जितवान् तमन्योऽनुप्रयुक्तवानित्यर्थविवक्षायां हेत्वर्थे णिचि···अजापय: इत्याख्यातम्।
—पु० रा० वा० प०, 2-171

2. हेत्वर्थे णिचि 'क्रीङ्जीनां णौ' इत्यात्वे अतिह्रीव्लीत्यादिना पुकि जापीत्येवं स्थिते लङि शपि गुणायादेशयो: कृतयो: सकारस्य रुत्वविसर्जनीययोश्च लुङ्लङित्यादिना अडागमे च कृतेऽजापय इत्याख्यातम्।
—वही०, 2-171

3. उत्सर्गवाक्ये यत्त्यक्तमशब्दमिव शब्दवत्।
तद्बाधकेषु वाक्येषु श्रुतमन्यत्र गम्यते॥
—वही 2-346

आचार्य भर्तृहरि के इस कथन को अष्टाध्यायी के सूत्र उद्धृत करके स्पष्ट किया है। पुण्यराज कहते हैं कि अष्टाध्यायी के उत्सर्ग सूत्रों की प्रवृत्ति, अपवाद सूत्रों में जिसका बाध किया गया है, उससे भिन्न में ही होती है अर्थात् 'कर्मण्यण्' सूत्र का अर्थ 'कर्म उपपद रहते धातु से अण् प्रत्यय होता है, नहीं है अपितु 'आतोऽनुपसर्गे कः' अपवाद सूत्र में प्रोक्त आदन्त धातु को छोड़कर अन्य धातुओं में कर्म उपपद रहते अण् प्रत्यय होता है' यह अर्थ है।[1] यद्यपि आदन्त धातु का त्याग शब्दशः उत्सर्ग वाक्य में नहीं कहा गया परन्तु उसे शब्दवत् समझना चाहिये। इस प्रकार भर्तृहरि एवं पुण्यराज दोनों ने ही अपवाद सूत्र को उत्सर्ग वाक्य का एकदेश सिद्ध किया है। क्योंकि यदि अपबाद वाक्य उत्सर्ग वाक्य के एकदेश न होते तो पहले सामान्य सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय की प्रवृति होने पर आकारान्त धातुओं से कैसे उसका निवारण किया जा सकता है।[2] लोक से दृष्टान्त देकर भी आचार्म भर्तृहरि ने इसे सिद्ध किया है। पुण्यराज इस प्रकार कहते हैं 'दधि ब्राह्मणेभ्यः दीयताम्' इस वाक्य द्वारा माठर रहित ब्राह्मणों को ही दधिदान कहा गया समझना चाहिये। बाद में 'तक्रं माठराय' वाक्य में माठर के लिये तक्रदान कहने से उत्सर्ग वाक्य का अर्थ माठर रहित ब्राह्मण को दधिदान' होता है।[3]

नियम एवं प्रतिषेध सूत्रों को आचार्य भर्तृहरि ने विधि सूत्र के शेष अर्थात् अंग रूप में माना है उन्होंने केवल प्रतिषेध सूत्र को ही उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।[4] पुण्यराज ने सूत्र उद्धृत करके स्पष्ट किया है कि नियम सूत्र एवं प्रतिषेध सूत्र

---

1. उत्सर्गवाक्ये सामान्यलक्षणे उपक्रम एव यत्त्यक्तमपवादाक्रान्तं किं तत्र शब्देन परित्यक्तम्, नेत्याह अशब्दमिवेति। बोधकविरहेण कथं त्यक्तम्? शब्दवत् बोधकवदेव त्यक्तम्, धातोः कर्मण्युपपदेऽण्प्रत्ययस्तावदेव बाधकेनाक्रान्तधातु-विषयमेवाण्प्रत्ययविधानमिति गम्यत एव।

—पु० रा० वा० प०, 2-346

2. अन्यथा त्वविशेषेण प्रवृत्तावुत्तरकालमाकारान्तेभ्यः कथं निवार्यते?

—वही, 2-346

3. दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतामित्यत्र श्रुत्या माठरवर्जमेवात्र ब्राह्मणानां दधिदानमुप-क्रान्तमिति बोद्धव्यम्। उत्तरकालं तक्रं माठरायेत्येतत्तत्र यथार्थबोधक (बोधकं एव) विषयपरिहारेणैवार्थवत्तां गमयतीत्येवं भिन्नवाक्यतासमाश्रयणेन तावदप्राप्त्यनु-मानं बाध इति बोद्धव्यम्। —वही, 2-347

4. नियमः प्रतिषेधश्च विधिशेषस्तथा सति।
द्वितीये यो लुगाख्यातस्तच्छेषमलुकं विदुः॥ —वा०प० 2-349

विधि सूत्रों के शेष रूप में माने जाने चाहिये।

सर्वप्रथम नियम सूत्र का उदाहरण देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'इको गुणवृद्धी' यह नियम सूत्र है जो सार्वधातुकार्धधातुकयोः इस विधि सूत्र का अंग है अर्थात् इस नियमसूत्र के साथ विधि सूत्र की एक वाक्यता होने पर 'सार्वकधातु एवं आर्धधातुकपरे होने पर अंग की इक् को गुण होता है' ऐसा वाक्यार्थ ज्ञात होता है।[1] यदि 'इको गुणवृद्धी' सूत्र को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र का शेष न मानें तो अंग को इक् एवं अनिक् दोनों स्थान पर गुणवृद्धि प्राप्त हो जायेगी जबकि अनिक् के स्थान पर गुणवृद्धि अभीष्ट नहीं है। यदि दोनों सूत्रों में एक वाक्यता न माने तो पहले विधिसूत्र द्वारा इक् एवं अनिक् दोनों के स्थान पर गुणवृद्धि की प्रवृत्ति होने पर बाद में नियम कैसे होगा।[2] उद्धरण द्वारा स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने भोजन कर लिया है उसे कोई कहे कि मत खाओ तो उससे क्या लाभ होगा।[3]

प्रतिषेध सूत्र को विधिसूत्र का अंग स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि प्रतिषेध सूत्र भी विधि सूत्र के साथ एकवाक्यता को प्राप्त करके साफल्य को प्राप्त करता है। 'अलुगुत्तरपदे' यह अष्टाध्यायी के छटे अध्याय में कहा गया लुक् प्रतिषेध 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' इस द्वितीय अध्याय में विहित लुग्विधि का अंग रूप बनकर एक वाक्यता को प्राप्त करके ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराता है।[4]

जो विद्वान् भेदवादी हैं अर्थात् उत्सर्ग एवं अपवाद इत्यादि वाक्यों को पृथक्-पृथक् समझते हैं उनका मत प्रस्तुत करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि उत्सर्ग एवं अपवादादि वाक्य निराकांक्षारूप में वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराते हैं अतः ये प्रधान ही हैं उनका अंग अंगी भाव नहीं हो सकता। अतः उनमें परस्पर उपकार्य एवं

---

1. इको गुणवृद्धी इत्यादिको नियमः सार्वधातुकार्धधातुकयोरित्यस्य गुणविधेः शेषः; तेन सहास्यैकवाक्यतायां सार्वधातुकार्धधातुकयोः परतोऽङ्गस्येको गुणो भवतीत्येवं वाक्यार्थो ज्ञायते। —पु० रा० वा० प०, 2-349
2. अन्यथाऽङ्गस्येगनिकोः स्थाने गुणवृद्धयोः प्रवृत्तयोरुत्तरकालं नियमेन किमत्र कृत्यम्। —वही, 2-349
3. उक्तं च—यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुङ्क्था इति किं तेन कृतं स्यादिति। —वही, 2-349
4. प्रतिषेधोऽपि विधिना सहैकवाक्यतां गत्वा साफल्यं भजतीत्याह—प्रतिषेधश्चेति। प्रतिषेधश्च विधिशेष एव तथा सति बोद्धव्य इत्यर्थः। अलुगुत्तरपदे इत्यनेनोत्तरपदे परतो लुक्प्रतिषेध उच्यमानः सुपो धातुप्रातिपदिकयोरित्यस्य लुग्विधेरङ्गभावमुपगच्छन् वाक्यैकवाक्यतयाऽर्थप्रत्यायनं करोति बोद्धव्यम्। —वही, 2-349

उपकारक भाव का अभाव होने के कारण उनमें अपेक्षा की कल्पना क्यों की जाए अतः उनमें एकवाक्यता नहीं हो सकती।[1]

इसके विपरीत उत्सर्ग एवं अपवाद इत्यादि सूत्रों को एक ही वाक्य मानने-वालों के अनुसार उत्सर्ग एवं अपवाद आदि सूत्रों में परस्पर अपेक्षा होती है। एक का अर्थ दूसरे के अर्थ की आकांक्षा करता है। अतः उत्सर्ग एवं अपवादादि वाक्यों में अंगांगिभाव होने के कारण उनमें एकवाक्यता है।[2]

इस प्रकार पुण्यराज केवल सूत्रों की व्याख्या ही नहीं करते अपितु पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचना की प्रक्रिया भी स्पष्ट करते हैं। पुण्यराज ने यह स्पष्ट किया है कि अष्टाध्यायी की रचना सामान्य एवं विशेष सूत्रों में एकवाक्यता मानकर की गई है। अतः यदि उन्हें अलग-अलग सूत्र माना जाए तो अष्टाध्यायी के सूत्रों का अर्थ अवगत नहीं हो सकेगा।

संज्ञा शब्द एवं उनके एकदेश

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड में संज्ञा शब्द एवं उनके विभागों के सम्बन्ध में अनेक मतों का विवेचन किया है। पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा विवेचित इन मतों की विस्तृत व्याख्या की है। वास्तव में अखण्डवाक्य पक्ष को मानने वाले वाक्य से पृथक् पदों के अर्थ को स्वीकार नहीं करते परन्तु वाक्य को समझाने के लिये अपोद्धार बुद्धि के द्वारा उन्हें पदों को स्वीकार करना पड़ता है। पुण्यराज संज्ञा शब्दों के एकदेश के सम्बन्ध में विवेचन करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देते हैं कि अपोद्धार के समाश्रयण द्वारा ही पदों के एकदेश होते हैं, इस पर विचार किया जाता है।[3]

संज्ञा शब्दों के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं। पुण्यराज कहते हैं कि 'देवदत्त' इत्यादि शब्द संज्ञा शब्द के रूप में प्रसिद्ध हैं परन्तु कभी 'देव' तथा कभी 'दत्त' शब्दों का प्रयोग भी देवदत्त इत्यादि के लिये किया जाता है, यह कैसे उपपन्न

---

1. निर्वृत्तौ विशेषपरिपूर्णतायां वाक्यानि निराकांक्षाण्येव। अतः परस्परं प्रधानानि तान्यभिधीयन्ते, न तेषामङ्गाङ्गिभाव इति। अतः परस्परमुपकार्योपकारकभावाभावात् कथं तेषां निष्प्रयोजनापेक्षा परिकल्प्यते, (अतो) नैकवाक्यतेति पूर्वः पक्षः। —पु० रा० वा० प०, 2-350
2. तयोः परस्परापेक्षणं तुल्यमेवेति कृत्वाऽर्थपर्यालोचनावशेनाकांक्षादिना परस्परसम्बन्धेनाङ्गाङ्गिभावापत्तावेकवाक्यतैव ज्यायसीत्युक्तम्। —वही, 2-351
3. इदानीमपोद्धारसमाश्रयेण प्रसङ्गात् पदेषु पदैकदेशाः सन्तीति विचारयितुं प्रस्तौति। —वही, 2-352

हो सकता है क्योंकि ये जो संज्ञाशब्दों में 'देव' तथा दत्त: इत्यादि है उनका लोप शास्त्र में कहीं पर भी उपदिष्ट नहीं है तथा न ही उनके लोप का उपदेश ही किया जा सकता है क्योंकि जब लोक में नियत वर्ण क्रम वाला पदसमुदाय ही संज्ञा के रूप में विनियुक्त होता है तब उसके अन्तर्गत अवयव भी विनियुक्त ही समझे जाने चाहिये जैसे कि वृक्ष अपने अवयवों सहित ही चलता है। अतः न्यून वर्णों वाली संज्ञा, वाचक कैसे हो सकती है। नियत वर्णों वाली पूरी संज्ञा ही वाचक हो सकती है।[1] पुण्यराज कहते हैं कि इसके उद्धरण में यदि यह कहा जाए कि 'दत्त' शब्द से यह सम्पूर्ण देवदत्त संज्ञा प्रतीत होकर अपने संज्ञी का प्रत्यायन करती है तो इस पर भी आशंका के रूप में आचार्य भर्तृहरि द्वारा कारिका दी गई है।[2] इस कारिका में वर्णित विषय को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'दत्त' शब्द तो स्वतन्त्र शब्द है जो किसी अन्य की संज्ञा है। उससे देवदत्त यह अन्य संज्ञी कैसे प्रतीत हो सकती है क्योंकि देवदत्त शब्द अलग है तथा दत्त शब्द अलग है और दत्त का देवदत्त में संकेत भी नहीं किया गया। दत्त शब्द देवदत्त द्वारा वाच्य संज्ञी का भी प्रत्यायन नहीं कर सकता क्योंकि दत्त शब्द किसी अन्य की भी संज्ञा हो सकता है। अतः अन्य (देवदत्तादि) द्वारा प्रत्याय्य 'देवदत्त' का प्रत्यायन दत्त शब्द द्वारा कैसे हो सकता है।[3]

पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण शास्त्र में न तो देवदत्तादि नियत वर्णक्रम

---

1. इह देवदत्तादयः संज्ञाशब्दा स्थिताः, तत्र कदाचिद्देवः कदाचिद्दत्त इति प्रयुञ्जाना दृश्यन्ते। तदेतत्कथमुपपन्नम्? यस्मात्तेषु संज्ञाशब्देष्वेकदेशास्तेषां लोपस्तावच्छास्त्रे न कुत्रचिदुपदिश्यते। उपदेशोऽपि तेन कर्तुं न पार्यते···। यदा लोके नियतवर्णानुपूर्वीकः पदसमुदायः संज्ञात्वेन विनियुज्यते, तदा तदन्तर्गता अवयवा विनियुक्ता एव, यथा वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलतीत्याचारानुरोधेन किमसौ न्यूनवर्णा वाचिका भवति, सा हि नियतानुपूर्वीका परिपूर्णैव कृता न निवर्तते।
—पु रा० वा० प०, 2-352

2. अथोच्यते दत्तशब्दादेवासौ सकला प्रतीता स्वसंज्ञिनं प्रत्याययतीत्याशङ्क्याह----
—वही, 2-353

संज्ञान्तराच्च दत्तादेर्नान्या संज्ञा प्रतीयते।
संज्ञिनं देवदत्ताख्यं दत्तशब्दः कथं वदेत्॥ —[illegible]० प० 2-353

3. दत्तशब्दः स्वतन्त्रोऽन्य एव कस्यचित् संज्ञान्तरम्। तस्मात् कथमन्या देवदत्तेति संज्ञा प्रतीयते, शब्दान्तरादकृतसंकेतत्वाच्चेत्यभिप्रायः। नापि तद्वाच्यं संज्ञिनमवगमयितुमलं दत्तशब्द इत्याह—संज्ञिनमिति। दत्तशब्दस्यान्य एव प्रत्याय्यस्ततः कथं शब्दान्तराभिधेयमसौ प्रत्याय्येत।
—वही, 2-353

वाले संज्ञा शब्दों के एकदेश का लोप ही कहीं विहित है तथा न ही दत्त शब्द अथवा देव शब्द (जो कि देवदत्त के एकदेश है) के द्वारा देवदत्त की प्रतीति उचित है। अतः यह प्रश्न उठता है कि दत्त शब्द एवं देव शब्द का प्रयोग देवदत्त इत्यादि संज्ञा के लिये क्यों किया जाता है। अर्थात् देवदत्त नामक व्यक्ति को कभी देव कभी दत्त संज्ञा से क्यों सम्बोधित किया जाता है।[1]

इस प्रश्न पर विचार करते हुए आचार्य भर्तृहरि ने कई मत प्रस्तुत किये है उनमें से प्रथम मत को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जिस प्रकार 'देवदत्त' इत्यादि समुदाय संज्ञी का वाचक होता है उसी प्रकार तत्काल ही उसके अवयव देव तथा दत्त आदि भी संज्ञी का प्रत्यायन करते हैं। एकदेश भी समुदाय के समान ही संज्ञी के साथ सम्बद्ध होने के कारण संज्ञी का प्रत्यायन कर सकते हैं।[2]

इस मत के विरुद्ध दो दोषों की उद्भावना की गई है जिनको स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि यदि यह मान लेते हैं कि समुदाय के अवयव भी समुदाय के समान ही संज्ञा से सम्बद्ध होते हैं तो संज्ञा के वर्णों को भी अर्थवान मानना पड़ेगा तथा एक वर्ण भी संज्ञी का प्रत्यायक माना जाएगा।[3] दूसरा दोष यह कि यदि अवयव के द्वारा संज्ञी का बोध माना जाए तो अवयव तो समुदाय से सम्बद्ध होकर ही वाचक के रूप में विनियुक्त होते हैं समुदाय से पृथक् तो उनमें वाचकत्व नहीं हो सकता।[4]

एक अन्य मत देते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि कुछ विद्वानों के मतानुसार 'देव' तथा 'दत्त' इत्यादि एकदेशों के द्वारा देवदत्त शब्दसंघातविषयक स्मृति उत्पन्न होती है। स्मृति के विषय भूत उस देवदत्त शब्द से देवदत्तादि संघात अर्थ की प्रतीति हो जाती है।[5] अर्थात् दत्त शब्द देवदत्त शब्द की स्मृति कराता है। स्मृति से

---

1. तदेवं नियतवर्णानुपूर्वीकायास्तस्या लोपस्तावदेकदेशस्य नोपपद्यते, नापि दत्तशब्दाद्देवशब्दाद्वा नदेकदेशभूतदेवदत्तशब्दप्रतीतिरुपपद्यते, तत्रापि तद्वाच्या प्रतिपत्तिरिति यत्किञ्चिदेतत्।
—पु० रा० वा० प०, 2-353

2. यथा समुदायस्तस्य वाचकत्वेन नियुक्तः, तथा तत्काल एव तदवयवा अपीत्यतस्तदेकदेशस्य तस्य प्रत्यायनं करोतीति को दोषः।
— वही, 2-354

3. संज्ञानां ये वर्णास्तेषां संज्ञिनाऽर्थवत्वं प्राप्नोति। ततः स्वाभिमतैकदेशवदेकोऽपि वर्णो वाचकः स्यात्। न चैतत्परिदृष्टम्।
—वही, 2-355

4. योऽसौ भवता वाचकोऽवयवः एकदेशः परिकल्प्यते, स सम्बद्ध एव वाचकत्वेन विनियुक्तः, समुदायाच्च प्रविवेके पृथग्भावे वाचकत्वं न कल्प्य (प) ते विलक्षणत्वात्।
—वही, 2-355

5. एकदेशात्तु संघाते केषाञ्चिज्जायते स्मृतिः।
स्मृतेस्तु विषयाच्छब्दात् सङ्घातार्थः प्रतीयते ॥
—वा०प० 2-357

प्राप्त उस शब्द से देवदत्त संज्ञी का बोध होता है। इस प्रकार इस मत के अनुसार स्मृति द्वारा एकदेश, संज्ञी का बोध कराते हैं।

इस मत का निराकरण करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि एकदेश से भिन्न संघात की स्मृति एकदेश से कैसे उत्पन्न हो सकती है तथा प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक कैसे हो सकता है?[1] पुण्यराज इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्मृति सदैव सदृश वस्तु को देखने से उत्पन्न होती है, ऐसा प्रसिद्ध है। संघात एवं अवयव दोनों भिन्न स्वरूप वाले हैं। अतः भिन्न स्वरूप वाले संघात की अवयव द्वारा प्रतीति कैसे हो सकती है तथा स्मृति द्वारा प्रतीयमान शब्द संज्ञी (देवदत्त) का कैसे वाचक हो सकता है क्योंकि प्रतीयमान शब्द वाचक नहीं हो सकते। श्रुतिपथ को प्राप्त करके ही शब्द, अर्थ के वाचक होते हैं ऐसा प्रसिद्ध है।[2]

सिद्धान्त पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि ये जो देव तथा दत्त आदि शब्द देवदत्तादि संज्ञा शब्दों द्वारा वाच्य संज्ञी का बोध कराते है, वे वास्तव में देवदत्तादि शब्दों के अवयव नहीं हैं अपितु उनके समान रूप वाले स्वतन्त्र शब्द हैं। जब देवदत्तादि समुदाय शब्द संज्ञा के रूप में विनियुक्त होते हैं उसी समय 'देव' एवं दत्तादि स्वतन्त्र शब्द भी जो कि देवदत्तादि शब्दों के अवयवों के समान रूप वाले हैं, संज्ञा के रूप में विनियुक्त होते हैं। अनुनिष्पादी न्याय द्वारा इन शब्दों की सिद्धि होती है। अर्थात् देवदत्तादि शब्दों के संज्ञा के रूप में विनियुक्त होने पर उनके अवयवों के सादृश्य के कारण दत्तादि (स्वतन्त्र) शब्द भी संज्ञा के रूप में विनियुक्त होते हैं।[3] अखण्डपक्ष में पदों अथवा वाक्यों के अवयवों का अपना पृथक् अर्थ नहीं होता अतः दत्तादि शब्द जिनमे देवदत्तादि शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है, अवयव नही पृथक् शब्द है जो देवदत्तादि शब्दसमूह के संज्ञा के रूप में विनियुक्त होने पर बाद में उत्पन्न होकर संज्ञी का बोध कराते हैं।

---

1. एकदेशात् स्मृतिर्भिन्ने सङ्घाते जायते कथम्।
कथं प्रतीयमानः स्याच्छब्दोऽर्थस्याभिधायकः॥ —वा० प०, 2-358

2. सदृशवस्तुसन्दर्शनात् स्मृतिरुपजायत इति प्रसिद्धम्। तत्र सङ्घाते भिन्नस्वरूपे कथं तस्मात् स्मृतिः कथं च तस्मात् प्रतीयमानो देवदत्तस्य संज्ञिनोऽभिधायक उपपद्यते ? प्रतीयमानस्य वाचकत्वेऽतिप्रसङ्गः स्यात्। श्रुतिपथमवतीर्णाः शब्दा वाचका इति प्रसिद्धम्। पु० रा० वा० प०, 2-358

3. यदा तु समुदायः संज्ञात्वेन विनियुज्यते, तदैव तदन्तर्गताऽवयवसरूपा अपि संज्ञात्वेन विनियुज्यन्त इति तेष्वनुनिष्पादिन्यायेन सिद्धाः संज्ञात्वेन बोद्धव्या इति। —वही, 2-359

पुण्यराज पूर्वपक्ष के रूप में एक शंका की उद्भावना करते हुए कहते हैं कि 'देवदत्त' इत्यादि संज्ञाशब्दों के अवयवों के समान रूपवाले देव तथा दत्त इत्यादि स्वतंत्र शब्द अनुनिष्पादी न्याय द्वारा विनियुक्त होते हुए भी साधारणत्व के कारण संज्ञी का अभिधान करने में समर्थ नहीं है। यथा देव शब्द देवता का वाचक भी है तथा किसी की संज्ञा भी है। उसी प्रकार दत्त शब्द क्रिया भी है तथा संज्ञा भी। फिर उनके द्वारा नियत संज्ञी की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है।[1] इस शंका का समाधान करनेवाली कारिका[2] की व्याख्या करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि देव तथा दत्तादि शब्द, सामर्थ्य इत्यादि के द्वारा संज्ञी के अभिधायक व्यवस्थित किये जाते हैं।[3] देवदत्त शब्द में स्वतन्त्र रूप से समान वर्णक्रम वाला दत्त शब्द संज्ञा शब्द ही है। देव शब्द भी अनुनिष्पादित होने के कारण संज्ञा शब्द ही है, देवदत्त शब्द का अवयव नहीं है।[4] पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरणशास्त्र में 'चतुर्थादनजादेः लोप पूर्वपदस्य च'[5] वार्तिक द्वारा जो लोप वर्णित किया गया है उसका प्रयोजन देव एवं दत्त इत्यादि स्वतन्त्र अनुनिष्पादी शब्दों का साधुत्व प्रतिपादन करना ही है।[6] जिस प्रकार दत्तादि पद अनुनिष्पादी न्याय द्वारा देवदत्त

1. तदन्तर्गतावयवसरूपा अनुनिष्पादिन्यायेन विनियुक्ता अपि साधारणत्वात् संज्ञिनमभिधातुमसमर्थाः। तथा हि देवशब्दो देवानां वाचकः कस्यचित् संज्ञिनोऽपि, तथा दत्तशब्दः क्रियाशब्दोऽपि संज्ञाशब्दोऽपि तत्र-कथं नियतस्य संज्ञिनस्तेभ्यः प्रतिपत्तिः स्यात्। —पु० रा० वा० प०, 2-360
2. साधारणत्वात्सन्दिग्धा सामर्थ्यान्नियताश्रयाः।
तेषां ये साधवस्तेषु शास्त्रे लोपादि शिष्यते॥ —वा० प०, 2-360
3. सामर्थ्यादिभिर्नियताश्रया संज्ञ्यभिधायका व्यवस्थाप्यन्ते। —पु० रा० वा० प०, 2-360
4. तेन देवदत्ते स्वतन्त्रः क्रियावाचकदत्तशब्दसाधारणो दत्तः संज्ञाशब्दः देवोऽपि संज्ञाशब्दोऽनुनिष्पादित्वान्न तदन्तर्गतोऽपीति बोद्धव्यम्। —वही, 2-360
5. महाभा०, अ० सू०, 5।3।88 पर वार्तिक।
6. एतदेव शास्त्रे लोपादिविधौ अन्वाख्यायते। यथोक्तं चतुर्थादनजादेः लोपः पूर्वपदस्य च इत्यादि। —पु० रा० वा० प०, 2-360

पण्डित रघुनाथ शर्मा इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते है कि लोपादि द्वारा शास्त्र का तात्पर्य देवदत्तादि शब्दों के एकदेश के लक्षण का अन्वाख्यान नहीं है अपितु इस प्रकार से देवादि तथा दत्तादि स्वतन्त्र शब्दों का देवदत्त आदि शब्द के अर्थ में साधुत्व का बोध कराना है क्योंकि पद अखण्ड तथा नित्य है। उनके एकदेश का लोप उपपन्न नहीं है। (इदं त्ववधेयं शास्त्रेण देवदत्तादिशब्दैकदेशानां लोपान्वाख्यानेऽपि न तत्र शास्त्रतात्पर्यम्, किन्त्वनेन प्रकारेण देवादिशब्दानां दत्तादिशब्दानां च स्वतन्त्राणां देवदत्तादिशब्दार्थे साधुत्वबोधने एव शास्त्रतात्पर्यम्, पदानामखण्डत्वनित्यत्वाभ्यामेकदेशलोपस्य चानुपपत्तेरिति।

—पं० रघुनाथ शर्मा, वा० प० 2-360

इत्यादि समुदाय के अर्थ में विनियुक्त होते हैं उस प्रकार से ज्येष्ठ, द्राधिष्ठ, श्लाघा मघा इत्यादि शब्दों में अनुनिष्पादी न्याय से सिद्ध ज्ये, द्रा, घा, इत्यादि वर्ण ज्येष्ठ, द्राघिष्ठ, श्लाघा, मघा इत्यादि अर्थ के प्रत्यायन के लिए विनियुक्त नहीं होते। ज्येष्ठादि शब्द में ज्या इत्यादि वर्णमात्र वृद्धव्यवहार में साधु नहीं है तथा व्याकरण शास्त्र में भी दत्तादि के ग्रहण की ही बात है। अत: घा आदि वर्ण मघादि द्वारा वाच्य अर्थ के वाचक नहीं हैं।[1]

संज्ञा शब्दों का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्यत्व

पुण्यराज संज्ञा शब्दों के सम्बन्ध में दो प्रश्नों पर विचार करते हैं कि संज्ञा शब्दों का संज्ञी के साथ सम्बन्ध होने से पूर्व लक्षण योग होता है अथवा बाद में।[2] पुण्यराज दोनों ही पक्षों को मानते हैं। पहले पक्ष में संज्ञी के साथ सम्बन्ध होने से पहले ही उसका लक्षण से योग होता है। इस सम्बन्ध में यह दोष उठाया गया है कि यदि संज्ञी के साथ सम्बन्ध होने से पूर्व लक्षणयोग मानें तो वह शब्द किसी की संज्ञा ही नहीं होगा तो फिर तन्निबन्धन कार्य कैसे किये जा सकेंगे।[3] इसका निराकरण करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि संज्ञा संज्ञिसम्बन्ध से संज्ञात्व मानकर पहले भी लक्षण योग हो जाएगा।[4]

संज्ञा का पहले संज्ञी के साथ सम्बन्ध तथा बाद में लक्षण योग पक्ष में यह दोष लगाया गया है कि यदि संज्ञी के साथ संज्ञा का पहले सम्वन्ध मानें तो 'खुरणास' आदि संज्ञा शब्द पहले णत्व रहित थे बाद में उनमें णत्व हुआ ऐसा मानना पड़ेगा जिससे संज्ञा शब्दों में अनित्यत्व आ जाएगा।[5]

---

1. समुदाये यथा पदान्यनुनिष्पादिन्यायेन तत्र विनियुज्यन्ते, नैवमत्र समानायामप्यनुनिष्पत्तौ वर्णानां वर्णा विनियुज्यन्ते। अतश्च ज्येष्ठादिषु न ज्यादयो वर्णमात्रा वृद्धव्यवहारे साधवोऽभ्यनुज्ञायन्त इति, शास्त्रेऽप्यन्वाख्यायकेन तथाभूतानामनुगमः क्रियत इति बोद्धव्यम्। अतो नेते घादयो वर्णा मघादिवाच्येषु वाचका इति।
—पु० रा० वा० प०, 2-361

2. इह संज्ञाशब्दानां संज्ञिसम्बन्धात् प्राग्लक्षणयोग उत तदुत्तरकालम्?
—वही, 2-362

3. यदा प्राक् तदासौ न कस्यचित्संज्ञेति तन्निबन्धनं कार्यं कथं स्यात्?
—वही, 2-362

4. अत्रोच्यते—अत्र (यत्र) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धात् संज्ञात्वं तत्र लक्षणमिति।
—वही, 2-362

5. अथोत्तरकालं संज्ञात्वम् (अथोत्तरकालं लक्षणयोगः) तदा चाकृतणत्वोऽसौ शब्दः सम्प्रति णत्वं भजत इत्यनियत्वं शब्दानां स्यादिति···।
—वही, 2-362

संज्ञा शब्दों में इस अनित्यत्व दोष का परिहार करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि शब्दों की दो राशियाँ होती हैं एक कृतणत्व शब्द, दूसरे अकृतणत्व शब्द। जो कृतणत्व शब्द हैं वे भी स्वाभाविक रूप में नित्य हैं। णत्व सहित ही वे संज्ञा शब्द हैं क्योंकि पित्रादि के द्वारा संकेत के विषयभूत एक द्रव्य के वाचक हैं। व्याकरण शास्त्र द्वारा 'पूर्वपदात्संज्ञायामग:' इत्यादि सूत्रों द्वारा इनका णत्व सहित ही साधुत्व प्रतिपादन किया गया है। न् को ण् विधान तो केवल प्रक्रिया मात्र का सूचक है।[1] अत: संज्ञा शब्दों में अनित्यत्व दोष दोनों पक्षों को मानने पर ही नहीं होता।

संज्ञा शब्दों के नित्यत्व के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष के रूप में एक अन्य शंका की उद्भावना करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि संज्ञा शब्दों का नित्यत्व उपपन्न नहीं है क्योंकि ये किसी के द्वारा (सम्प्रति) किसी वस्तु के संकेत में व्यवहृत होते हैं। पुरुष की इच्छा के द्वारा किसी भी प्रकार से नियुक्त करके संज्ञा के रूप में व्यवहृत हो जाते हैं। इस शंका के समर्थन में पुण्यराज एक श्लोक उद्धृत करते हैं कि संज्ञा शब्द पुरुष के द्वारा इच्छानुसार नियुक्त होते हैं इसलिए कृतक होने का कारण इनका संज्ञी के साथ सम्बन्ध अनित्य है।[2] मिट्टी से बच्चों द्वारा घर बनाकर जिस प्रकार उनकी मधुरा इत्यादि संज्ञा दे दी जाती है उसी प्रकार सभी संज्ञा शब्द भी अनित्य सम्बन्ध वाले हैं।[3]

इस शंका का निराकरण करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि संज्ञा शब्द का अपने अर्थ डित्थ इत्यादि के साथ योग्यता लक्षण सम्बन्ध अनादि तथा नित्य हैं। पुरुषों के द्वारा तो नियमन मात्र किया जाता है। जैसे इस घर में आज से यह (व्यक्ति) डित्थ शब्द द्वारा वाच्य होगा। पुण्यराज कारिका उद्धृत करके स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार इन्द्रियों की अपने विषयों में अनादि योग्यता होती है उसी प्रकार शब्दों का अर्थों के

---

1. इह द्वौ राशी कृतणत्वानामेको राशिर्नित्य एव, अकृतणत्वानामपर इति। तत्र ये कृतणत्वास्ते साधवो नित्या एव, एकद्रव्योपदेशित्वात् स्वभावेनैव ते संज्ञाशब्दा इत्यर्थ:। शास्त्रे पूर्वपदात् संज्ञायामग: इत्यनेन कृतणत्वानामेव तेषां साधुत्वमन्वाख्यायत इति कृतणत्वता शास्त्रे प्रक्रियासमाश्रयणेनैषामुक्तेति न कश्चिद्विरोध:।
—पु० रा० वा० प०, 2-362

2. ननु च नित्यत्वं संज्ञाशब्दानामनुपन्नं सम्प्रति क्रियमाणत्वात्, यस्मात्पुरुषेच्छया यथा कथञ्चिन्नियुज्य संज्ञा: क्रियन्ते, उक्तं च 'कृतकत्वादनित्यत्वं सम्बन्धस्योपजायते। संज्ञाया: सा हि पुरुषैर्यथाकामं नियुज्यते
—वही, 2-364

3. यथा हि पांसुरेरवाणां बालकैर्मधुरादय: संज्ञा क्रियन्ते, संज्ञासु सर्वास्वेवैव कल्पना इति···।
—वही, 2-364

साथ योग्यता लक्षण सम्बन्ध भी अनादि है ।[1] पुण्यराज कहते हैं कि जिस प्रकार गवादि शब्दों का अपने गोपिण्ड इत्यादि अर्थों में अनादि योग्यता लक्षण सम्बन्ध होने के कारण वाचकत्व होता है उसी प्रकार डित्थादि संज्ञा शब्दों का भी डित्थादि व्यक्तियों में योग्यता लक्षण सम्बन्ध नित्य होता है ।[2]

व्याकरणशास्त्र में भी संज्ञाओं का संज्ञी से नित्य सम्बन्ध होता है। पुण्यराज कहते हैं कि व्याकरण में वृद्धि इत्यादि संज्ञाओं में सभी अर्थों का प्रकाशन करने की शक्ति होती है तथा आदैच् इत्यादि संज्ञी में भी सभी शब्दों के द्वारा वाच्य होने की योग्यता होती है। अतः शास्त्र में केवल अन्य संज्ञाओं से भेद करने के लिए ही वृद्धि इत्यादि शब्दों की शक्ति आदैच् इत्यादि के प्रत्यायन में ही नियमित कर दी जाती है। आदैच् इत्यादि का भी वृद्धि इत्यादि शब्दों द्वारा वाच्यत्व स्थापित किया जाता है ।[3] अतः व्याकरण शास्त्र कृत्रिम सम्बन्ध का आधान नहीं करता अपितु उनकी सहज शक्ति का केवल नियमन ही करता है। पुण्यराज कहते हैं कि जिस प्रकार विशेषणविशेष्य का सम्बन्ध अनादि है, पुरुष द्वारा उत्पल में नीलादि का योग नहीं किया जाता अपितु स्वाभाविक होता है उसी प्रकार संज्ञा शब्दों का सम्बन्ध स्वाभाविक ही है ।[4] हेलाराज भी यही कहते हैं कि यद्यपि संज्ञा शब्द सभी संज्ञाओं के प्रत्यायन की शक्ति से युक्त होता है फिर भी विशिष्ट संज्ञी में व्यवहार सामयिक होता है ।[5]

---

1. संज्ञाशब्दानां क्वचित्संज्ञिनि यदि परं व्यवहारार्थः पुरुषैर्नियममात्रं क्रियते । यथाऽस्मिन् गृहेऽद्यप्रभृति डित्थशब्दवाच्योऽयमिति बोद्धव्यम् । शब्दार्थसम्बन्धस्तु डित्था— दिष्वनादियोग्यतालक्षणो नित्य एव, यद्वक्ष्यति—

 इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादियोग्यता यथा ।
 अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।।

 —पु० रा० वा० प०, 2-364

2. तदैवं यथा गवादिष्वनादियोग्यतालक्षणसम्बन्धाद्वाचकत्वं गोशब्दादीनां तथैव डित्थादीनां बोद्धव्यम् । —वही, 2-364
3. शास्त्रे वृद्ध्यादीनां संज्ञाशब्दानां सर्वार्थप्रकाशनशक्तियोगः संज्ञिनामादैचादीनां च सर्वशब्दवाच्यता योग्यता, अतः केवलं शास्त्रे संज्ञान्तरादवच्छिद्यादेजादिप्रत्यायन एव शक्तिर्वृद्ध्यादीनां नियम्यते । — वही, 2-365
4. सहजशक्तिप्रतिनियम एव वाच्यवाचकयोरुच्यते, न पुनः कृत्रिमसम्बन्धाधानं विज्ञेयम्, यथा विशेषणविशेष्ययोरनादिः शब्दवाच्यतात्मक एव सम्बन्धः न पुनरत्र पुरुषेण नीलादियोग क्रियत इति । —वही, 2-365
5. संज्ञाशब्दानां तु सर्वसंज्ञिप्रत्ययायनशक्तियुक्तेऽपि विशिष्टे संज्ञिनि शक्त्यवच्छेदः सामयिकः । —हेलाराज वा० प० 3 सम्बन्ध समुद्देश 9

संज्ञा-शब्दों के प्रवृत्ति निमित्त

आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित संज्ञा शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते कि लौकिकी संज्ञाओं का प्रवृत्ति-निमित्त उनका स्वरूप ही होता है। लेकिन यद्यपि उनका स्वरूप ही उनका प्रवृत्ति निमित्त होता हैं फिर भी कहीं पर अर्थ का सान्निध्य भी निमित्त रूप में होता है तथा कहीं उसका अभाव होता है। डित्थादि संज्ञाओं का प्रवृत्ति निमित्त केवल स्वरूप ही हैं अर्थ का सान्निध्य नहीं है। पुण्यराज कहते हैं कि कुछ विद्वानों के अनुसार डित्थादि में भी अर्थ का सान्निध्य रहता है।[1] दूसरे शब्दों में पुण्यराज ने जिन शब्दों का केवल स्वरूप प्रवृत्ति निमित्त माना है वे रूढ़ शब्द कहलाते हैं तथा जिनका प्रवृत्ति निमित्त स्वरूप हो तथा अर्थ का भी सान्निध्य हो वे शब्द योगरूढ़ कहलाते हैं।

पुण्यराज व्याकरण की संज्ञाओं के प्रवृत्ति निमित्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि व्याकरण में न केवल एक अक्षरवाली टि, घु इत्यादि संज्ञाओं का ही स्वरूप ही प्रवृत्ति निमित्त होता है अपितु सर्वनाम इत्यादि महती संज्ञाओं का भी स्वरूप ही प्रवृत्ति निमित्त होता हैं।[2]

व्याकरण में संज्ञा शब्दों के प्रकार

पुण्यराज ने स्पष्ट किया है कि व्याकरण शास्त्र में संज्ञा शब्द चार प्रकार के होते हैं। (1) कहीं पर लौकिक अर्थात् अकृत्रिम रूप में संज्ञा शब्दों का ग्रहण होता है। (2) कहीं पर कृत्रिम रूप में। (3) कहीं पर कृत्रिम एवं अकृत्रिम उभयरूप में तथा (4) कहीं पर व्यापी होने के कारण केवल अकृत्रिम रूप में ही ग्रहण किया जाता हुआ कृत्रिम के विषय को भी प्राप्त करता है।[3] आचार्य भर्तृहरि यह कहते हैं कि विषयभेद के द्वारा ही संज्ञा व्यवस्थित होती है।[4] पुण्यराज उद्धरण द्वारा स्पष्ट करते

---

1. सर्वशब्दानां स्वरूपमेव प्रवृत्तिनिमित्तं बोद्धव्यम्। तस्मिन् सति कुत्रचिदर्थानुपात्तं निमित्तं विद्यते, कुत्रचिदस्याभाव एव डित्थादाविति कैश्चित् तत्राप्युच्यत एव।
—पु० रा० वा० प०, 2-366
2. न केवलं तत्रैकाक्षराणां स्वरूपमेव प्रवृत्तिनिमित्तं विद्यते, यावन्महतीनामपि स्वरूपमेवोपनिबन्धनं प्रवृत्तिनिमित्तं बोद्धव्यम् इति···। —वही, 2-367
3. 'इदानीं लौकिकस्याकृत्रिमस्य क्वचिद्ग्रहणं क्वचित् कृत्रिमस्य पारिभाषिकस्य क्वचिदुभयगतिरिह शास्त्रे सम्भवतीत्युभयोरपि कृत्रिमाकृत्रिमयोः क्वचिदकृत्रिम एव व्याप्तेः परिगृहीतः इतरस्यापि विषयं व्याप्नोतीति चातुर्विध्यं संज्ञाशब्दानां···।
— वही, 2-369
4. क्वचिद् विषयभेदेन कृत्रिमा व्यवतिष्ठते। —वही, 2-369

हुए कहते हैं कि 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' सूत्र में 'कर्म' संज्ञा अकृत्रिम है इसका अर्थ क्रिया है न कि कृत्रिम (कर्तुरीप्सिततमं कर्म) क्योंकि व्यतिहार कृत्रिम संज्ञा में उपपन्न नहीं होता। जबकि 'कर्मण्यण्' सूत्र में कर्म शब्द कृत्रिम संज्ञा है। इसी प्रकार 'शब्दवैर-कलहाभ्रकण्वमेघेभ्य: करणे' सूत्र में करण शब्द का अकृत्रिम संज्ञा (करना) अर्थ है। जब कि 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र में करण कृत्रिम (साधकतम करणं) संज्ञा है।[1] इस प्रकार पुण्यराज सूत्रों द्वारा स्पष्ट करते हैं कि कहीं पर कृत्रिम संज्ञा होती है तथा कहीं पर अकृत्रिम। कृत्रिम एवं अकृत्रिम दोनों संज्ञाओं का एक ही संज्ञा शब्द द्वारा ग्रहण करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि संख्या विषयक शास्त्र (बहुगणवतुडति संख्या' सूत्र) में 'संख्या' शब्द द्वारा कृत्रिम एवं अकृत्रिम दोनों संज्ञाएं गृहीत होती है। अर्थात् संख्या शब्द बहुगणवतु एव डति की भी संज्ञा (कृत्रिम संज्ञा) है तथा दस-बीस इत्यादि की भी संज्ञा (अकृत्रिम संज्ञा) है। इसीलिए इस सूत्र का अर्थ है कि बहु, गण, वतु एवं डति प्रत्ययान्त शब्द तथा संख्या की संख्या संज्ञा होती।[2]

कहीं संज्ञा शब्द का अकृत्रिम अर्थ लेने पर ही व्यापक होने के कारण कृत्रिम का भी प्रत्यायन हो जाता है।[3] इसका स्पष्टीकरण करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ' सूत्र में सम्बुद्धि शब्द का सम्बोधन, यह अकृत्रिम (लौकिक) अर्थ ग्रहण करने पर शास्त्रीय (एकवचनं सम्बुद्धि:) अर्थ भी गृहीत हो जाता है।[4]

इस प्रकार पुण्यराज के इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पुण्यराज केवल आचार्य भर्तृहरि की कारिकाओं का अर्थ मात्र ही नहीं स्पष्ट करते अपितु जिस-जिस

---

1. सा विषयभेदेन व्यवतिष्ठते, न तु सर्वत्र तथैव व्यवस्था। यथा—कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यत्राकृत्रिमा गृह्यते, व्यतिहारस्यात्र कृत्रिमसंज्ञा (संज्ञायामात्र) श्रयणानुपपत्तेः। 'कर्मण्यण्' इत्यत्र कृत्रिमा, शब्दवैरेत्यादावकृत्रिमा धात्वधिकारात्कृत्रिमाया अत्रानुपपत्तेः। कर्तृकरणयोस्तृतीयेत्यत्र कृत्रिमेति''' ।
—पु० रा० वा० प, 2-369

2. संख्याविषये शास्त्रे कृत्रिमाकृत्रिमयोरपि समाश्रयणं शास्त्रीयाया बहुगणवतुडतीत्यादिकाया अपि कृत्रिमाया लौकिक्या अथ (प्य) कृत्रिमाया विंशत्यादिकाया अतिशदन्ताया इति प्रतिषेधादत्र ज्ञापकाद् ग्रहणम्। —वही, 2-369

3 विषयं कृत्रिमस्यापि लौकिक: क्वचिदुच्चरन्।
व्याप्नोति दूरात्सम्बुद्धौ तथाहि ग्रहणं तयो: ॥ —वा० प०, 2-370

4. यथा एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ इत्यत्र सम्बोधनं सम्बुद्धिरिति लौकिकेन शास्त्रीयमप्येकवचनं सम्बुद्धिरिति गृह्यत एव। तत्रापि सम्बोधनस्य विद्यमानत्वादित्यर्थ:।
—पु० रा० वा० प०, 2-370

विषय के साथ उन कारिकाओं का सम्बन्ध होता है उस विषय का गूढ़ अध्ययन करके उसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं। पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा विवेचित मीमांसादर्शन के लक्षणों से सम्बन्धित कारिकाओं का न केवल अर्थ ही स्पष्ट किया है अपितु मीमांसादर्शन के सन्दर्भ में उन लक्षणों की व्याख्या भी की है तथा साथ ही उन लक्षणों की प्रवृत्ति व्याकरणशास्त्र में भी दिखाकर व्याकरण एवं मीमांसा का घनिष्ठ सम्बन्ध भी प्रदर्शित किया है। इस प्रकार उनका यह विवेचन उनकी मीमांसा-दर्शन एवं व्याकरण को अमूल्य देन है।

नवम अध्याय

पुण्यराज एक टीकाकार के रूप में

आचार्य भर्तृहरि द्वारा वाक्यकाण्ड की कारिकाओं में वर्णित विषयों पर पुण्यराज की टीका का विस्तृत विवेचन पूर्व अध्यायों में कर दिया गया है। पुण्यराज ने चूंकि वाक्यकाण्ड की कारिकाओं पर टीका लिखी इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उनकी टीका कारिकाओं पर ही आधारित है। पुण्यराज का मुख्य प्रयोजन कारिकाओं में वर्णित गम्भीर विषयों की सरल शब्दों में व्याख्या करना है। उनकी टीका की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) वाक्यकाण्ड पर भर्तृहरिवृत्ति अधूरी

वाक्यकाण्ड पर आचार्य भर्तृहरि की वृत्ति पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं होती। जिन कारिकाओं पर उपलब्ध है वह भी अतिगम्भीर एवं दुरुह है अत: पुण्यराज-टीका पूर्ण रूप से उपलब्ध होने के कारण तथा सरल होने के कारण अपना विशेष महत्व रखती है। के०ए० सुब्रह्मण्यम अय्यर कहते हैं कि पुण्यराज की टीका का पाठ आचार्य भर्तृहरि की टीका के अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। इसलिए मैंने पुण्यराज की टीका के आधार पर कारिकाओं पर व्याख्या लिखी है।[1]

(2) विषयों का विशदीकरण

पुण्यराज की टीका के अध्ययन करने से एक बात स्पष्ट दिखाई देती है कि कारिकाओं में जो बातें सूत्र रूप में कही गई है पुण्यराज उनकी विस्तार पूर्वक व्याख्या करते हैं। उनकी टीका में ऐसे बहुत से उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) वा०प० 2-3 कारिका में आचार्य भर्तृहरि ने यह कहा है कि निघातादि की व्यवस्था के लिए शास्त्र में जो वाक्यलक्षण दिया गया इसके साथ

---

1. The text of Punyaraja's commentary is more certain than that of Vritti, It was therefore easier to write notes based on that.
दि वाक्यपदीय आफ भर्तृहरि—के०ए०एस० अय्यर, द्वितीय काण्ड (preface)

साकांक्षावयम् इत्यादि वाक्यलक्षण की पूर्ण रूप से तुल्यलक्षणता नहीं है।[1] कारिका में अनेक बातें सूत्र रूप में कही गई है जैसे निघातादि की व्यवस्था, शास्त्र में वाक्य की परिभाषा, साकांक्षावयम् इत्यादि वाक्य लक्षण तथा तुल्यलक्षणता। केवल कारिका के द्वारा इनके अर्थों का स्पष्टीकरण असम्भव है। पुण्यराज ने अपनी टीका में विस्तारपूर्वक इन सबकी व्याख्या की है।

(ख) आचार्य भर्तृहरि ने वा०प० 2-77 से 86 तक कारिकाओं में पूर्वपक्ष के रूप में पदवादियों का मन्तव्य देते हुए मीमांसा दर्शन के लक्षणों का निर्देश किया है जो पद पदार्थ पर आधारित हैं तथा जिनके बिना वाक्यार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उन्होंने लक्षणों का केवल परिगणन किया है। पुण्यराज ने एक-एक लक्षण की विस्तृत व्याख्या की है तथा साथ ही लौकिक वैदिक एवं व्याकरण शास्त्र में उन लक्षणों के प्रयोग को उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है। इससे न केवल आचार्य भर्तृहरि की कारिकाओं का अर्थ ही स्पष्ट होता है अपितु पुण्यराज का मीमांसा एवं व्याकरण विषयक ज्ञान भी स्पष्ट हो जाता है।[2]

(ग) आचार्य भर्तृहरि ने प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में भेद एवं अभेद द्वारा सूत्रों में अर्थ ग्रहण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि व्याकरण में कहीं पर प्रत्यायक का प्रत्याय्य के साथ एकत्व का आश्रयण किया जाता है तथा कहीं उनमें भेद का ग्रहण होता है। 'ऊ' यहाँ अभेद का आश्रयण लेकर यथासंख्य कल्पित किया जाता है तथा लङ् एवं लृट् के ग्रहण में प्रत्यायक एवं प्रत्याय्य में भेद कल्पित किया जाता है।[3] केवल कारिकाओं के द्वारा अर्थ पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता क्योंकि कारिकाओं में विषय को सूत्र रूप में कहा गया है। पुण्यराज विस्तारपूर्वक अष्टाध्यायी के सूत्रों का प्रदर्शन करके यह स्पष्ट करते हैं कि किन सूत्रों में प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में भेद द्वारा अर्थ की संगति होती है तथा किन सूत्रों में प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में अभेद का आश्रयण किया जाता है।

---

1. निघातादिव्यवस्थार्थं शास्त्रे यत्परिभाषितम्।
साकांक्षावयवं तेन न सर्वं तुल्यलक्षणम्॥

2. लक्षणों का विस्तृत विवेचन 'पुण्यराज की विद्वत्ता' अध्याय 8 में किया गया है।

3. शास्त्रे प्रत्यायकस्यापि क्वचिदेकत्वमाश्रितम्।
प्रत्याय्येन क्वचिद्भेदो ग्रहणग्राह्ययोः स्थितः॥
इत्यभेदमाश्रित्य यथासंख्यं प्रकल्पितम्।
लृङ्लृटोर्ग्रहणे भेदो ग्राह्याभ्यां सह कल्पितः॥

(घ) वा०प० 2-314; 15; 16 कारिकाओं में आचार्य भर्तृहरि ने शब्दार्थ निर्णय के उपायों का परिगणन कराया है। आचार्य भर्तृहरि ने केवल उन उपायों का नाममात्र निर्दिष्ट किया है। पुण्यराज ने प्रत्येक उपाय का अर्थ स्पष्ट किया है तथा लोक एवं व्याकरणों के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है कि किस प्रकार से लोक एवं व्याकरण में आचार्य भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट उपायों द्वारा शब्दार्थ निर्णय होता है।

(ङ) आचार्य भर्तृहरि ने वा०प० 2-468 कारिका में द्वयर्थक वाक्यों के सम्बन्ध में कहा है कि शब्दैकत्ववादी दो अर्थों वाले वाक्यों में दो अर्थों की प्रतीति शब्दों के अनेक शक्ति वाला होने के कारण मानते हैं। पुण्यराज ने व्याकरण एवं लोक में द्वयर्थक उदाहरणों द्वारा कारिका के अर्थ को विशद रूप से स्पष्ट किया है।

इस प्रकार पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा सूत्र रूप में वर्णित विषयों की अपनी टीका में विशद व्याख्या की है।

(2) कारिकाओं का प्रसंग

पुण्यराज की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह कारिका के प्रारम्भ में उस कारिका का प्रसंग दे देते हैं जिससे न केवल यह ज्ञात ही होता है कि अमुक कारिका में आचार्य भर्तृहरि क्या कहना चाहते हैं अपितु कारिकाओं में परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है। जिन कारिकाओं में आचार्य भर्तृहरि सामान्य रूप में किसी मत को अपरे, केचित् अथवा कैश्चित् इत्यादि शब्दों द्वारा अथवा बिना इन शब्दों का प्रयोग किये दे देते हैं, पुण्यराज अपनी टीका में स्पष्ट करते हैं कि वे मत किन आचार्यों के हैं। पुण्यराज की इस विशेषता के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(क) वाक्यकाण्ड की प्रारम्भिक दो कारिकाओं में वाक्य के सम्बन्ध में आठ प्रचलित मतों का परिगणन किया गया है। पुण्यराज ने इन कारिकाओं की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि इन कारिकाओं में प्रदर्शित आठों लक्षणों में से किस वाक्य लक्षण का वाक्यकाण्ड की किन-किन कारिकाओं में विवेचन है। इस प्रकार पुण्यराज के इस प्रकार के विवेचन से वाक्यकाण्ड के विषय को समझने में सुविधा मिलती है क्योंकि यदि पहले ही यह ज्ञात हो जाए कि किन-किन कारिकाओं में क्या विवेचन है तो कारिकाओं के अर्थ का स्पष्टीकरण शीघ्र ही हो जाता है।

(ख) वा०प० 2-17 कारिका में आचार्य भर्तृहरि केषाञ्चित् शब्द का प्रयोग करके एक मत देते हैं।[1] पुण्यराज कारिका का प्रसंग देते हुए

---

1. विशेषशब्दा: केषाञ्चित्सामान्यप्रतिरूपका:।
शब्दान्तराभिसम्बन्धाद् व्यज्यन्ते प्रतिपत्तृषु॥ —वा०प०, 2-17

प्रारम्भ में स्पष्ट कर देते हैं कि इससे पूर्व अभिहितान्वयवाद का निराकरण किया गया है, प्रस्तुत कारिका में अन्विताभिधानपक्ष का समाश्रयण करके, 'प्रथम पद वाक्य' तथा 'सभी साकांक्षपद वाक्य' इन दो वाक्य लक्षणों का विवेचन किया गया है।[1] उनकी इस प्रसंग देने की विशेषता के कारण एक तो 'केषाञ्चित्' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो गया तथा दूसरा यह ज्ञात हो गया कि कारिका में किस विषय का विवेचन है। पूर्व कारिका में वर्णित विषय के साथ कारिका का सम्बन्ध भी स्पष्ट हो गया है। आचार्य भर्तृहरि ने तो 'केषाञ्चित' शब्द का अर्थ अपनी वृत्ति में 'प्रक्रियान्तर वादिनाम्' दिया है।[2] अतः पुण्यराज टीका कारिका एवं वृत्ति दोनों को स्पष्ट करने में अपना विशेष महत्व रखते हैं।

(ग) वा०प० 2-15 कारिका में आचार्य भर्तृहरि ने सामान्य रूप से कहा है कि सामान्य अर्थ तिरोहित होने पर विशेष अर्थ से अवस्थित नहीं हो सकता। प्राप्त अर्थ का त्याग कैसे सम्भव है तथा निवृत्त होने पर वह अर्थ कहां रहता है।[3] कारिका के द्वारा यह स्पष्ट नहीं हुआ कि यह किन विद्वानों के मत का खण्डन है। पुण्यराज की कारिकाओं के प्रसंग देने की विशेषता के ही फलस्वरूप हमें यह ज्ञान होता है कि आकांक्षा योग्यता एवं सन्निधान के कारण परस्पर समन्वित पद संघात को वाक्य तथा संसर्ग को वाक्यार्थ मानने वाले मीमांसकों के मत का खण्डन ही आचार्य भर्तृहरि की इस कारिका का प्रतिपाद्य है।[4]

(घ) वा०प० 2-41 कारिका में यह कहा गया है कि केवल अकेला पद जितने अर्थ को कहता है वाक्य में स्थित होने पर भी वह उस अर्थ का अभिधान करता है।[5] कारिका में स्पष्ट नहीं किया गया कि यह किन आचार्यों का मत है।

---

1. 'एवं तावदभिहितान्वयवादी निरस्तः। इदानीमन्विताभिधानसमाश्रयणेन पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्युद्दिष्टे वाक्यलक्षणे प्रदर्शयितुकाम आह···।'
—पु०रा०वा०प०, 2-17
2. केषांचित्तु प्रक्रियान्तरवादिनामक्षादिवत्······।
—भर्तृहरि वृत्ति, वा०प०, 2-17
3. सामान्यर्थस्तिरोभूतो न विशेषेऽवतिष्ठते।
उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तः क्वावतिष्ठताम्॥ —आ०प० 2-15
4. यत्पुनर्मीमांसकैरुच्यते यथा पदसंघात एवाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधानवशात् परस्परसमन्वितो वाक्यं संसर्गश्च वाक्यार्थ इति तद् दूषयितुमाह···।
—पु०रा०वा०प० 2-15
5. केवलेन पदेन यावानेवाभिधीयते।
वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्॥ —वा०प० 2-41

पुण्यराज ही अपनी टीका में स्पष्ट करते हैं कि यह कारिका अभिहितान्वय पक्ष का आश्रय लेकर संघात वाक्य का प्रदर्शन करने के लिये कही गई है।[1]

(3) एक विषय की समाप्ति पर वर्णित विषय का संक्षिप्त सार देना

पुण्यराज की टीका की एक विशेषता यह है कि जब एक विषय समाप्त हो जाता है तब नया विषय प्रारम्भ होने के पूर्व संक्षेप में पूर्व-वर्णित विषय का सार दे देते हैं। उनकी इस विशेषता के द्वारा कारिकाओं में वर्णित विषयों में परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।[2] उनकी यह विशेषता कुछ निम्न उदाहरणों पर उनकी टीका द्वारा स्पष्ट हो जाएगी—

(क) वा०प० 2-56 कारिका पर टीका लिखने के पश्चात् पुण्यराज पूर्व कारिकाओं में वर्णित विषय का सार देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार संघात इत्यादि तीन वाक्य लक्षणों की व्याख्या कर दी गई है। आख्यात वाक्य की व्याख्या आगे की जाएगी। इन लक्षणों में से वाक्य एवं वाक्यार्थ दोनों का अखण्डपक्ष ही उपपन्न है। इस प्रकार सूत्रकार के अभिप्राय का अनुसरण करते हुए प्रदर्शित किया गया। अब भाष्यकार के अभिप्राय के अनुसार भी अखण्ड पक्ष ही उपपन्न है इसका विवेचन किया जाएगा।[3] पुण्यराज के इस उपर्युक्त विवेचन से न केवल कारिकाओं में वर्णित विषय का सार ही स्पष्ट होता है अपितु आगे की कारिकाओं में वर्णित विषय के साथ सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार का अनुसरण करते हुए अखण्डपक्ष का प्रदर्शन कर दिया है अब आगे भाष्यकार के अनुसार भी इसी मत का प्रदर्शन किया जाएगा।

(ख) वा०प० 2-186[3] कारिका[4] को टीका करने के पश्चात् पुण्यराज पूर्ववर्णित विषय का संक्षिप्त सार देते हुए कहते हैं कि नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं

---

1. इदानीमभिहितान्वयपक्षसमाश्रयणेन संघात पक्षस्य प्रदर्शनायाह···।
—पु०रा०वा०प० 2-41

4. नित्यत्वे समुदायानां जातेर्वा परिकल्पने।
एकस्यैकार्थतामाहुर्वाक्यस्याव्यभिचारिणीम्॥ —वा०प० 2-57

3. तदेवं संघातादीनि त्रीणि वाक्यलक्षणानि व्याख्यातानि। आख्यातं वाक्यमिति व्याख्यास्यति। एषां च मध्यादखण्डपक्ष एवोभयोरपीति सूत्रकाराभिप्राय-मनुसृत्याखण्डपक्ष एव वाक्यवाक्यार्थयोरभ्युपगम्यत इति प्रदर्शितम्। इदानीं भाष्यकाराभिप्रायेणापि स एवाभ्युपगन्तव्य इत्युपक्रम्यते।
—पु०रा०वा०प०, 2-57

4. बुद्धिस्थादभिसम्बन्धात्तथा धातूपसर्गयो:।
अभ्यन्तरीकृतो भेद: पदकाले प्रकाशते॥ वा०प०, 2-186

निपात ये चार पद विभाग निरुक्तकार के अनुसार माने जाते हैं। नाम एवं आख्यात का प्रदर्शन कर दिया गया है अब उपसर्गों का प्रदर्शन करना चाहिए। अतः आगे उनका स्वरूप प्रतिपादित किया जाएगा।[1] इस प्रकार पुण्यराज ने पूर्व वर्णित कारिकाओं के विषय का सार भी दे दिया तथा आगे कारिकाओं में वर्णित विषय के साथ सम्बन्ध भी बता दिया।

(ग) वा०प० 2-204 कारिका[2] के अन्त में पुण्यराज संक्षेप में पूर्वकारिकाओं में वर्णित विषय का सार देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार अखण्डवाक्यवादी अपोद्धार के समाश्रयण द्वारा प्रासङ्गिकादि कार्यों का समर्थन करते हैं। उसी प्रसंग में ही पदभाग के अर्थ तथा पदभाग का विचार किया गया। निरुक्तकार के मतानुसार नाम, आख्यात उपसर्ग एवं निपातों का प्रदर्शन कर दिया गया है। कर्मप्रवचनीयों को कुछ विद्वान पंचम पद मानते हैं। इसलिए उनका भी प्रदर्शन कर दिया गया है। इस प्रकार दूसरों के पक्ष (पदवाद) का निराकरण कर देने पर तथा दोषों के निराकरण पूर्वक अखण्डपक्ष का समर्थन करने की इच्छा से वार्तिकविरोध की आशंका करते हुए आचार्य भर्तृहरि अगली कारिका में इस प्रकार कहते हैं……।[3] पुण्यराज द्वारा दिये गये इस संक्षिप्त सार द्वारा कारिकाओं में परस्पर सम्बन्ध का भी ज्ञान हो जाता है।

(घ) पुण्यराज द्वारा वाक्यकाण्ड की टीका के अन्त में दिये गये श्लोक उनकी इसी विशेषता का परिणाम है। टीका के अन्त में उन्होंने 'तदत्र-मेयसमुच्चयः' कहकर श्लोकों का प्रारम्भ किया है जिनमें उन्होंने वाक्यकाण्ड की 485 कारिकाओं में वर्णित विषयों का सार दे दिया है।

पुण्यराज के श्लोकों का सार इस प्रकार है—

---

1. 'इदानीं नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति चत्वारि पदजातानि' इति निरुक्तकारस्तत्र नामाख्यातस्वरूपे प्रदर्शिते। उपसर्गाणां प्रदर्शनीयमिति तत्स्वरूपं प्रदर्शयितुमाह…।'
—पु०रा०वा०प०, 2-186

2. क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥ —वा०प० 2-204

3. एवमखण्डवाक्यवादिनाऽपोद्धारसमाश्रयेण प्रासङ्गिकादिकार्यसमर्थने विहिते तत्प्रसङ्गात्पदपदार्थपदभागार्थपदभागविचारः कृतः, निरुक्तकारमतानुसारेण च नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षणप्रदर्शनं कृतम्, कर्मप्रवचनीयाः पञ्चमपदजातमिति केचित्प्रतिजानत इति तदपि प्रदर्शितम्, एवं च दूषितेषु परपक्षेषु स्वपक्षे च दूषणनिराकरणपूर्वकं स्थापिते पुनरप्यखण्डपक्षमेव समर्थयितुकामो वार्तिकविरोधमाशङ्क्याह…। —पु०रा०वा०प० 2-204

"सर्वप्रथम वाक्य के आठ विभागों का परिकीर्तन किया गया है तथा उसके पश्चात् शास्त्रीय (वार्तिककार कात्यायन के) एवं मीमांसकों के वाक्यलक्षणों का परिकीर्तन किया गया है।[1]

तदनन्तर व्याप्ति निर्णय के द्वारा शास्त्रीय वाक्यलक्षण का बलाबल विचार किया गया है।[2]

वाक्य में पदभेद को स्वीकार किया गया। अखण्डवाक्यस्फोट की स्थापना की गई है।[3]

अन्विताभिधान एवं अभिहितान्वयपक्षों में दोष दिखाये गये हैं और प्रसंगवश अन्य छह वाक्यार्थों का प्रदर्शन भी किया गया है।[4]

अखण्डवाक्यपक्ष में पांच दोषों की आशंका का विवेचन किया गया है तथा उन दोषों का अपोद्धार का समाश्रयण करके निराकरण भी किया गया है।[5]

अपोद्धार के द्वारा पदार्थ को सम्भव मानकर उसके बारह प्रकार का वर्णन किया गया है।[6]

पदभाग एवं अर्थभाग का अन्वयव्यतिरेक के द्वारा विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात एवं कर्मप्रवचनीय इन पदभेदों का

---

1. वाक्यानामष्टधैवादौ विभागः परिकीर्तितः।
शास्त्रीयमैमांसकयोः कीर्तनं वाक्ययोस्ततः॥ —पु०रा० श्लोक

2. बलाबलविचारोऽपि शास्त्रीयो व्याप्तिनिर्णयात्।
ततश्च समासेन वाक्यलक्षणनिर्णयः॥ —पु०रा० श्लोक 2

3. सन्देहश्चागमेनापि वाक्यभेदस्य दर्शितः।
स्फोट एव तु सिद्धान्ते वाक्यं वाक्येषु साधितम्॥ —पु०रा० श्लोक 3

4. ततोऽन्विताभिधानस्याभिहितान्वयकस्य च॥ —पु०रा० श्लोक 4
शब्दभागार्थभागाभ्यां दूषणव्रातकीर्तनम्।
प्रसङ्गेनापरेऽप्यत्र वाक्यार्था षट् प्रदर्शिता:॥ —पु०रा० श्लोक 5

5. अखण्डपक्षे च चोद्यपञ्चकीर्तनम्। —पु०रा० श्लोक 7 (अ)
अपोद्धारं समाश्रित्य दोषास्त्वेते निराकृता:।
संहितायां प्रविभागेऽथ पदयोर्विलयं गते॥ —पु०रा० श्लोक 10
तथा द्रष्टव्य श्लोक 7, 8, 9

6. प्रविभागाश्रयादत्र पदार्थस्यापि सम्भवः। —पु०रा० श्लोक 13 (ब)
स च द्वादशधा भिन्न इत्यत्रोपपादितम्॥ —वही, 14 (अ)

प्रसंगवश प्रदर्शन किया गया है ।[1]

सार्थकत्व एवं अनर्थकत्व द्वारा वर्ण निष्ठित विचार करके अखण्ड पक्ष की स्थापना की गई है तथा पदवाद में चार अन्य दोषों का परिकीर्तन किया गय ।

अखण्डपक्ष की स्थापना हो जाने पर भी सात अन्य दोषों की सम्भावना की गई है तथा उनमें से पांच दोषों का अखण्ड वाक्यपक्ष में अपोद्धार के समाश्रण द्वारा निराकरण किया गया है तथा अन्य दो दोषों को शास्त्र प्रक्रिया मात्र मानकर उनका निराकरण भी कर दिया गया है ।[3]

पदवाद में अन्य दोषों का प्रदर्शन कर पदवाद का निराकरण करते हुए अखण्डवाक्यवाद को उपयुक्त बताया गया है ।[4]

टीकाकार (आचार्य भर्तृहरि) ने अपोद्धार द्वारा पदार्थ को स्वीकार करके उनके सम्बन्ध में गौण मुख्य विचार किया है । सत्य, असत्य इन दो ज्ञान के

---

1. पदभागार्थभागाश्च वितत्य प्रतिपादिता: ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विविक्तोपपादिता: ।। —पु॰रा॰ श्लो॰ 15

सनिमित्ता च साऽप्यत्र नामाख्यातसमाश्रया ।
उपसर्गनिपाताश्च कर्मप्रवनीयका: ।। —वही, 16

पदभेदा: प्रसङ्गेन लक्षणेनोपलक्षिता: ।। —वही 17 (अ)

2. सार्थकानर्थकत्वाभ्यां विचारे वर्णनिष्ठिते ।। —वही 17 (ब)

कृतेऽप्यखण्डपक्षोऽत्र प्रतिष्ठामुपनामित: ।
पदवादेऽथ दोषाणां चतुर्णां परिकीर्त्तनम् ।। —वही 18

द्रष्टव्य श्लोक 19, 20, 21 (अ)

3. स्थापितेऽखण्डपक्षेऽपि चोद्यसप्तकमाहितम् ।। —वही 21 (अ)

एतानि पञ्च चोद्यान्यपोद्धारस्य समाश्रयात् ।
समर्थितानि वै सम्यगखण्डं वाक्यमिच्छता ।। —वही 26

तथा द्रष्टव्य श्लो॰ 22, 23, 24, 25, 27, 28, 29, 30, 31, 32, 33, 34, 35, 36, 37, 38

4. पदवादेऽत्र दोषास्तु पृथक् पक्षद्वयं पुन: ।
शब्दभागार्थभागाभ्यां विस्तरेण विचक्षणै: ।। —वही 39

निराकृतमतो युक्तो वाक्यवादपरिग्रह: ।। —वही, 40 (अ)

विभागों का भी उपपादन किया गया है तथा मुख्य एवं नान्तरीयक अर्थों पर भी विचार किया गया है।[1]

उसके बाद चार प्रकार के अर्थों का क्रमपूर्वक विचार किया गया है। शब्दार्थ निर्णय के उपायों का भी निरूपण किया गया है।[2]

तदनन्तर उत्सर्ग एवं अपवाद का विवेचन किया गया है तथा संज्ञा शब्दों के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। प्रत्येक एवं समुदाय में वाक्य वाक्यार्थ की समाप्ति का विचार भी किया गया है।[3]

वाक्यों में साकांक्षत्व एवं निराकांक्षत्व का भी विवेचन किया गया है तथा महाभाष्य का अनुकरण करते हुए तन्त्र न्याय की सिद्धि की गई है।[4]

अन्त में टीकाकार (भर्तृहरि) महाभाष्य का अवतार ने प्रदर्शित किया है कि संग्रह के अस्त को प्राप्त हो जाने पर आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य में सभी न्याय बीजों का सार संगृहीत किया। पतंजलि के शिष्यों द्वारा उस आम्नायसार के भ्रष्ट हो जाने पर पुनः आचार्य वसुरात ने सभी न्याय मार्गों का चिन्तन करके व्याकरणागम की विधिपूर्वक रचना की तथा मैंने (टीकाकार भर्तृहरि ने) भी अपने गुरु के द्वारा निर्दिष्ट भाष्य से न्याय की अविप्लुति हेतु तीन काण्डों में निबन्ध (वाक्यपदीय) लिखा।[5] इस प्रकार ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में अपने गुरु के आगम

---

1. अपोद्धाराश्रयादत्र गौणमुख्यविचारणा।
   ततः कृता सुनियतं टीकाकारेण सादरम्॥ —पु०रा०श्लो० 41
   सत्यासत्यविभागोऽपि ज्ञानानामुपपादितः।
   मुख्यनान्तरीयकयोरर्थयोरनिवर्तनम्॥ —वही 42

2. ततस्त्वर्थचतुष्टकस्य चिन्तनं विहितम् क्रमात्।
   शब्दार्थनिर्णयोपायाः सादरं परिकीर्तिताः॥ —वही 43

3. संज्ञाशब्देष्वथ कृता निर्णयः परिवत्सरान्॥ —वही 45 (अ)
   प्रत्येकं समुदाये च समाप्त्या वाक्यनिश्चितिः॥ —वही, 46 (अ)

4. साकांक्षत्वं निराकांक्षा वाक्यानां परिकीर्तिता॥ —वही, 49 (ब)
   अथात्र तन्त्र न्यायस्य सिद्धिर्भाष्यानुगा स्मृता॥ —वही, 50 (ब)

5. अवतारोऽपि भाष्यस्यसंग्रहेऽस्तमुपागते।
   निबन्धहेतौ शास्त्रस्य टीकाकारेण कीर्तितः॥ —वही 51
   विप्लावनमथैतस्य संग्रहप्रतिपक्षतः॥ —वही, 52 (ब)
   कृतमाचार्यदेवज्ञैरावेशविवशैस्ततः।

क्रमशः

को स्पष्ट किया है। यही वाक्यकाण्ड का सार है जिसे मैंने (अर्थात् पुण्यराज ने) थोड़े से शब्दों में कह दिया है।[1]

इस प्रकार पुण्यराज की विषयों का सार देने की विशेषता के कारण वाक्यकाण्ड में वर्णित विषयों का क्रमबद्ध अध्ययन करने में सहायता मिलती है।

(4) अन्य ग्रन्थों से उद्धरण देना

पुण्यराज की टीका में एक विशेषता वह है कि यह वाक्यकाण्ड के विषयों को अन्य ग्रन्थों से उद्धरण देकर भी स्पष्ट करते हैं। इसमें आचार्य भर्तृहरि के विषयों को और भी अधिक दृढ़ता प्राप्त हो जाती है। उन्होंने इसके लिये आचार्य पतंजलि महाभाष्य, अष्टाध्यायी, स्फोटसिद्धि, मीमांसा दर्शन कात्यायन वार्तिकों एवं वाक्यपदीय के पदकाण्ड से उद्धरण दिये हैं।

(i) महाभाष्य

पुण्यराज वाक्यकाण्ड में अनेक स्थलों पर महाभाष्य से उद्धरण देकर वाक्यकाण्ड के विषयों की व्याख्या की है। इनमें से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित अखण्डवाक्य स्फोटपक्ष को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज ने महाभष्य से उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि आचार्य पतंजलि को भी अखण्डवाक्यपक्ष अभीष्ट था। महाभाष्य में कहा गया है 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्।' तथा 'यथालक्षणमप्रयुक्ते।' पुण्यराज का कहना है कि आचार्य पतंजलि ने पदकार शब्द का प्रयोग किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्हें भी अखण्डवाक्यपक्ष अभिप्रेत था। क्योंकि यदि पद सत् होते तो उनके स्वतः सिद्ध होने के कारण आचार्य पतंजलि पदकार शब्द का प्रयोग न करते। इसी प्रकार उनका यह कथन कि अप्रयुक्त पदों की रचना लक्षण के अनुसार करनी

भ्रष्टस्याम्नायसारस्य वैयाकरणगामिनः ॥ —पु॰रा॰श्लो॰ 54
मूलभूतमवाप्याथ पर्वतागमं स्वयम्।
आचार्यवसुरातेन न्यायमार्गान्विचिन्त्य सः ॥ —वही, 54
प्रणीतो विधिवच्चायं मम व्याकरणागमः।
मयापि गुरुनिर्दिष्टाद्भाष्यान्न्यायाविप्लुतये ॥ —वही, 55
काण्डत्रयक्रमेणायं निबन्धः परिकीर्तितः। —वही, 56 (अ)

1. ग्रन्थकारेण ग्रन्थेऽस्मिन्स्वस्मिन्गुर्वागमः स्फुटम्। —वही, 56 (ब)
इत्येवं वाक्यकाण्डस्य प्रमेयविषया स्फुटम्।
सङ्गतिः कीर्तिता लघ्वी समासेन निराकुला ॥ वही, 57

चाहिए भी यही सिद्ध करता है कि उनके अनुसार भी पद असत्य हैं तथा वाक्य एक अभिन्न स्वभाव वाला अर्थात् अखण्ड है ।[1]

(ख) इसी प्रकार आचार्य भर्तृहरि द्वारा वर्णित एक शब्द दर्शन एवं अनेक शब्द दर्शन को पुण्यराज ने महाभाष्य से उद्धरण देकर स्पष्ट किया है। पुण्यराज का कहना है कि आचार्य पतंजलि ने भी शब्दों के विषय में एक शब्ददर्शन एवं अनेक शब्ददर्शन की व्याख्या की है इसीलिए आचार्य भर्तृहरि ने भी स्वतन्त्र रूप से दोनों दर्शनों का विवेचन किया है ।[2]

(ख) अष्टाध्यायी

पुण्यराज ने अष्टाध्यायी का सूत्र उद्धृत करके स्पष्ट किया है कि आचार्य पाणिनि को भी अखण्ड वाक्यपक्ष ही अभिप्रेत था। पुण्यराज स्पष्ट करते हैं कि 'तिङतिङ:' सूत्र में अतिङ: शब्द का ग्रहण यह सिद्ध करता है कि वाक्य में चाहे एक तिङ हो अथवा एक से अधिक इस से कुछ अन्तर नहीं आता मुख्य बात यह है कि वाक्य अखण्ड होना चाहिये ।[3]

इसी प्रकार पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट मीमांसादर्शन के लक्षणों की पाणिनि सूत्रों को उद्धृत करके उनमें प्रवृत्ति दिखाई है। शब्दार्थ निर्णय के उपायों को भी उन्होंने पाणिनिसूत्र उद्धृत करके घटित करके दिखाया है।

(ग) मीमांसादर्शन

मीमांसादर्शन के तो पुण्यराज पारंगत थे। उन्होंने आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित मीमांसादर्शन के एक-एक लक्षण का मीमांसादर्शन में सन्दर्भ स्पष्ट किया

---

1. तथा च भाष्यम्—'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् ।' तथा 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' इति । अत्र यदि पदानां सत्यता स्यात् तदा तेषां स्वत एव सिद्धत्वात् पदानि कुर्वन्तीति पदकारा इत्येवेतदसङ्गतं स्यात् । लक्षणेन च तदननुवर्तनम् वस्तुसत्त्वात्तेषाम् । पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यमित्यप्यसङ्गतम् । तथा ऽप्रयुक्तपदविषये पदानामसत्यत्वात् तत्प्रविभागोऽयं न सिद्ध इति यथा—लक्षणं लक्षणानुसारेण पदकरणमप्रयुक्त इत्येतदनुपपन्नमेव । आह चैवं भाष्यकारः तस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि एकमभिन्नस्वभावं वाक्यम् । —पु०रा०वा०प० 2-57
2. एतच्च भेदाभेदस्वभावं दर्शनद्वयं शब्दानां भाष्यकारेण वार्तिकव्याख्यानावसरे दर्शितम् ।······तद्व्याख्यानायैव च टीकाकारः स्वतन्त्रपक्षद्वयप्रदर्शनं करोतीति बोद्धव्यम् । —द्र०पु०रा०वा०प०, 2-250
3. सूत्रकारस्य त्वतिङ्ग्रहणादेकमेवाखण्डं वाक्यमर्थैकत्वादाख्यातभेदेऽप्यभिप्रेतमिति गम्यते । —पु०रा०वा०प० 2-6

है। उन्होंने शबरस्वामी द्वारा लक्षणों के सम्बन्ध में दिये गये वैदिक उदाहरणों को उद्धृत करके उन लक्षणों की उनमें प्रवृत्ति प्रदर्शित की है।

(5) पुण्यराज की भाषा शैली

पुण्यराज की शैली का विशेष गुण उसका प्रसाद गुण है। समास भूयस्त्व का उसमें अभाव है। स्वाभाविक पदविन्यास एवं भाव सौष्ठव उन की शैली में प्रचुर रूप में दिखाई देता है। उन्होंने विषय के अनुरूप ही शैली का प्रयोग किया जहां पर कारिका में शब्दों का अर्थ स्पष्ट है वहां उन्होंने व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग करके विषय की व्याख्या की है तथा जहां विषय स्पष्ट है यहां शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है।

(क) व्याख्यात्मक शैली

पुण्यराज की व्याख्यात्मक शैली के उदाहरण सम्पूर्ण वाक्यकाण्ड में उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं —

(i) वाक्यपदीय 2-3 कारिका पर उनकी टीका उनकी व्याख्यात्मक शैली का ही उदाहरण है। इसमें शब्दों का अर्थ तो सरल है उनकी व्याख्या की आवश्यकता है। यहां पुण्यराज ने व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग करके कारिका के विषय को स्पष्ट किया है।

(ii) वाक्यकाण्ड में प्रदर्शित मीमांसादर्शन के लक्षणों की टीका-पुण्यराज की व्याख्यात्मक शैली का ही उदाहरण है। उन्होंने विस्तृत व्याख्या करके लक्षणों का स्पष्टीकरण किया है।

(iii) आचार्य भर्तृहरि द्वारा नामत: निर्दिष्ट शब्दार्थ निर्णय के उपायों को पुण्यराज ने व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग करते हुए स्पष्ट किया है। एक-एक उपायों को उन्होंने लोक एवं व्याकरण के उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

(ख) वर्णनात्मक शैली

वा०प० 2-4 कारिका[1] में प्रयुक्त भेदे संकाक्षावयवम्, परानाकांक्षशब्दकम्, गुणवद्, कर्मप्रधानम् शब्दों का अर्थ स्पष्ट करना अनिवार्य समझकर पुण्यराज ने वर्णनात्मक शैली का प्रयोग करते हुए प्रत्येक शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। भेदे साकांक्षावयवम् शब्द का अर्थ देते हुए पुण्यराज कहते हैं कि इसका अर्थ है विभाग

---

1. साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम्।
कर्मप्रधानम् गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥ —वा०प० 2-4

करने पर जो साकांक्ष हों।[1] 'परानाकांक्षशब्दकम्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि अविभाग अवस्था में जिसमें शब्द निराकांक्ष हों (वही वाक्य है)।[2] कर्म प्रधानम् शब्द का अर्थ पुण्यराज ने क्रिया-प्रधान दिया है क्योंकि क्रिया ही प्रधान अभिधेय के रूप में प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार गुणवत् शब्द का अर्थ पुण्यराज ने विशेषण शब्द से युक्त दिया है तथा एकार्थम् का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि एकार्थम् का तात्पर्य है एक प्रयोजन वाला।[3] इस प्रकार पुण्यराज ने यहां वर्णनात्मक शैली द्वारा कारिका का अर्थ स्पष्ट किया है।

वाक्यकाण्ड में एक-दो स्थल ऐसे भी हैं जिनमें पुण्यराज कारिका की व्याख्या न करके स्पष्टोऽर्थः, सुबोधम् या प्रतीतार्थ श्लोकः का ही प्रयोग कर देते हैं।[4] कहीं-कहीं व्याख्या करते हुए कुछ विषयों के उदाहरण देकर कुछ के लिये उदाहरण ऊह्य कहकर छोड़ देते हैं। उदाहरण के लिए प्रतिभा के षड् निमितों का स्पष्टीकरण करते हुए पुण्यराज केवल एक 'स्वभाव निमित्तप्रतिभा' का ही उदाहरण देते हैं उसके बाद यह कहकर छोड़ देते हैं कि अन्य उदाहरण ऊह्य हैं।[5]

इसी प्रकार मीमांसादर्शन के लक्षणों को उदाहरणों द्वारा व्याख्या करते हुए शेषशेषीभाव लक्षण का वैदिक उदाहरण देने के बाद पुण्यराज कह देते हैं कि लोक एवं व्याकरण शास्त्र के उदाहरण ऊह्य हैं।[6]

प्रयोजक एवं अप्रयोजक लक्षण का लौकिक उदाहरण देने के पश्चात् पुण्यराज कहते हैं कि वेद एवं शास्त्र में उदाहरण ऊह्य हैं।[7]

इस प्रकार इन थोड़े से स्थलों को छोड़कर सम्पूर्ण कारिकाओं की पुण्यराज ने विशद व्याख्या की है। यहां भी उन्होंने इसलिए पूरे उदाहरण नहीं दिए क्योंकि विषय सरल था तथा एक उदाहरण को देखकर अन्य उदाहरण ढूंढ़े जा सकते हैं।

---

1. भेदे विभागे विशेषजिज्ञासायां यत्साकांक्षावयवम्। —पु०रा०वा०प० 2-4
2. कर्मप्रधानं क्रियाप्रधानमित्यर्थः। तस्यैव प्रधानाभिधेयप्रयुक्तत्वादित्य-भिप्रायः। —वही, 2-4
3. गुणवद्विशेषणपदयुक्तम्। एकार्थमेकप्रयोजनम्। —वही, 2-4
4. वही, 2-94, 213, 357
5. तस्याश्च निमित्तभेदेन षाड्विध्यं दर्शयितुमाह—स्वभावेति। स्वभावेन यथा कपिः। चरणादिषूदाहरणान्यूह्यानि। —वही, 2-152
6. लोकशास्त्रयोरुह्यमुदाहरणम्। —वही, 2-82
7. वेदशास्त्रयोरप्यूह्यम्। —वही, 2-81

पुण्यराज की भाषा

पुण्यराज की भाषा सरल एवं सुग्राह्य है। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करके कारिकाओं के गम्भीर विषय की व्याख्या की है। उनके वाक्यों में कृत्रिम समास योजना नहीं है अपितु छोटे-छोटे समास अनायास ही आ गए हैं इनसे उनकी भाषा का सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। उदाहरण के लिए मीमांसादर्शन के विकल्प लक्षण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने सरल शब्दों का प्रयोग करते हुए छोटे-छोटे वाक्य प्रयुक्त किए हैं तथा उनमें समास स्वाभाविक रूप से आकर उसकी टीका की सरलता को कम नहीं करते—

विकल्पोऽपि बाधा प्रतियोगी। स च तुल्यप्रमाणविशिष्टानां विरुद्धानां भवति। वेदे यथा—व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इति। लोके दधितक्रे कौण्डिन्याय दीयेता-मित्येकफलदधितक्रदानचोदने।'[1]

अलंकारों का प्रयोग

व्याकरण का विषय होने कारण पुण्यराज की टीका में अलंकारों का प्रयोग कम ही दिखाई देता है क्योंकि वहां अलंकारों का प्रयोग करने की इतनी आवश्यकता नहीं थी। जो अलंकार प्रयुक्त हुए हैं वे मुख्यतः शब्दालंकार हैं तथा उनमें भी अनुप्रास अलंकार का ही अधिकतर प्रयोग हुआ है क्योंकि वह स्वाभाविक रूप से आ जाता है। उनकी टीका में अनुप्रास अलंकार के प्रयोग के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) 'भेदप्रतिभासपूर्वकान् भेदान् स्वाभिमतान् पददर्शिन पदमेव सत्यं ये मन्यन्ते ते ह्येकमखण्डं वाक्यं नाम काल्पनिकमाहुः।[2]

यहां पवर्ग की आवृत्ति स्वतः ही हुई है।

(ii) 'यथालक्षणं लक्षणानुकारेण पदकरणम्…।'[3]

(iii) 'एवं वाक्ये पदान्तरसरूपा पदरूपा भागा पदभागा पदे वा निरंशे ये भागा प्रकृतिप्रत्ययरूपास्तेऽविस्थता इति।'[4]

पुण्यराज की कवि प्रतिभा

पुण्यराज द्वारा अपनी टीका के अन्त में दिए गए 60 श्लोक उनकी काव्य प्रतिभा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गद्य के साथ-साथ

1. पु०रा०वा०प०, 2-77
2. वही, 2-27
3. वही, 2-57
4. वही, 2-11

उनसे श्लोक लिखने की भी प्रतिभा विद्यमान थी। उन्होंने सरल भाषा में श्लोक लिखकर वाक्य काण्ड के विशद विषय को संक्षिप्त करके स्पष्ट कर दिया है। उनके श्लोकों की सरलता एवं हृदयग्राहिता निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगी—

(i) कृतेऽप्यखण्डपक्षोऽत्र प्रतिष्ठामुपनामितः।
पदवादेऽथ दोषाणां चतुर्णां परिकीर्तनम्॥[1]

(ii) इति चोद्यचतुष्केण पदवादः पराकृतः।
स्थापितेऽखण्डपक्षेऽपि चोद्यसप्तकमाहितम्॥[2]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पुण्यराज सरल एवं सुग्राह्य शैली में टीका लिखकर वाक्यकाण्ड के गम्भीर एवं दुर्गाह्य विषय को सरल एवं सुग्राह्य बना दिया। उनकी टीका के सम्यक् अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कारिकाओं के विषय के सम्यग् ग्रहण के लिए उनकी टीका का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि पुण्यराज टीका न होती तो कारिकाओं में जिन विषयों का नामतः निर्देश है अथवा संक्षिप्त रूप में वर्णन है उनका विस्तृत अध्ययन पाठकों के लिए अत्यन्त कठिन हो जाता। वाक्यकाण्ड में सूत्र रूप में वर्णित विषयों को स्पष्ट करने में पुण्यराज टीका ही सहायक है। सरल शब्दावली में टीका लिखकर उन्होंने व्याकरण के गम्भीर विषय को भी सरल एवं सरस बना दिया है। पं० रघुनाथ शर्मा ने अम्बाकर्त्री टीका में पुण्यराज के विषय में सत्य ही कहा है कि पुण्यों के पुंज, महान् पुण्यराज के द्वारा रचित शुभ विवृत्ति अर्थात् विशद वृत्ति (टीका) के द्वारा ही वाक्यकाण्ड रूप महा समुद्र को सम्यक् रूप से पार किया जा सकता है।[3]

—०—

1. पु०रा० श्लोक 18
2. पु०रा० श्लोक 21
3. महता पुण्यपुञ्जेन पुण्यराजकृतां शुभाम्।
विवृत्तिं प्राप्य सन्तीर्णो वाक्यकाण्डमहोदधिः। —पं० रघुनाथ शर्मा, अम्बाकर्त्री टीका, वा०प० 2-485 पर टीका लिखने के बाद श्लोक 1

उपसंहार

अभी तक के अध्ययन के आधार पर पुण्यराज की टीका के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(2) पुण्यराज का नाम राजानक शूरवर्मा था तथा उनके गुरु शशांकशिष्य थे। वे कश्मीर के निवासी थे। पुण्यराज के काल के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पूर्व विद्वानों के प्रमाणों को ही आधार मानते हुए उनका समय दसवीं शताब्दी माना जा सकता है।

(2) वाक्य लक्षणों के प्रसंग में प्रथम दो कारिकाओं में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतानुसार वाक्यविषय आठ लक्षणों का निर्देश करने के पश्चात् आचार्य भर्तृहरि ने उनके आठों लक्षणों का क्रमबद्ध विवेचन नहीं किया। पुण्यराज ने अपनी टीका में यह क्रम प्रदान किया है और स्पष्ट किया है कि कौन-सा वाक्य लक्षण किस-किस कारिका में वर्णित है तथा उन कारिकाओं की व्याख्या करते हुए पुण्यराज ने सरल शब्दों में वाक्य विषयक लक्षणों का विवेचन किया है। केवल यही नहीं पुण्यराज ने वाक्य के सम्बन्ध में अन्य मतों को भी, जिनका आचार्य भर्तृहरि ने निर्देश नहीं किया, स्पष्ट किया है तथा उनका अन्तर्भाव भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट वाक्य लक्षणों में दिखाकर उनके द्वारा निर्दिष्ट वाक्यलक्षणों में अव्याप्ति दोष का परिहार किया है।

आचार्य भर्तृहरि ने अपनी कारिकाओं में पदवादियों द्वारा अखण्डवाक्यपक्ष के विरुद्ध लगाए जाने वाले दोषों का विवेचन भी किया है तथा उन दोषों का निराकरण करके अपने अखण्डवाक्यपक्ष की स्थापना की है। पुण्यराज ने पदवादियों द्वारा लगाए गए दोषों की विस्तृत व्याख्या की है तथा उनका निराकरण भी किया है। पुण्यराज ने क्रमबद्ध रूप में एक-एक दोष का स्पष्टीकरण कर उसका निराकरण करते हुए आचार्य भर्तृहरि के अखण्डवाक्यस्फोट को स्पष्ट किया है।

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यार्थ का विवेचन करते हुए केवल प्रतिभा वाक्यार्थ को विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है तथा अन्य वाक्यार्थों का संक्षिप्त परिचय दिया है। पुण्यराज ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा वर्णित वाक्यार्थों को न केवल स्पष्ट ही किया है अपितु वाक्यार्थों के सम्बन्ध में अन्य मतों को भी स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि द्वारा वर्णित वाक्यार्थों में ही उनका अन्तर्भाव दिखाकर आचार्य भर्तृहरि के विवेचन को अव्याप्ति दोष से बचाया है।

वाक्य एवं वाक्यार्थ के सम्बन्ध में कुछ सामान्य प्रश्नों पर भी भर्तृहरि ने यत्र तत्र विचार किया है। पुण्यराज ने उन सभी प्रश्नों पर आचार्य भर्तृहरि के विचारों का संकलन कर उनका स्पष्टीकरण किया है।

पदों एवं पदार्थों के सम्बन्ध में विवेचन वाक्यकाण्ड में इतस्ततः बिखरा हुआ है। पुण्यराज ने इनको इकट्ठा करके व्यवस्था प्रदान की है तथा आचार्य भर्तृहरि के उस सम्बन्ध में विवेचन को विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है।

पुण्यराज की सम्पूर्ण कारिकाओं की टीका के अध्ययन से उनकी विद्वत्ता स्पष्ट हो जाती है। टीका करते हुए उनका मीमांसा दर्शन के लक्षणों से सम्बन्धित ज्ञान स्पष्ट होता है। व्याकरण शास्त्र के सूत्रों प्रक्रियाओं इत्यादि का ज्ञान भी उनकी टीका में स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने पाणिनीय सूत्रों में मीमांसादर्शन के लक्षणों की प्रवृत्ति उदाहरणों द्वारा दिखाकर व्याकरण एवं मीमांसादर्शन को अपूर्व योगदान दिया है।

पुण्यराज के सम्बन्ध में एक बात कही जा सकती है कि परम्परा, जो उनके समय में कई अंशों में मौलिकता से पर्याप्त दूर जा चुकी थी, पुण्यराज भी उसके प्रभाव से नहीं बच सके, और समर्थ सिद्धान्त, जो पाणिनि की अष्टाध्यायी का मौलिक एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, के विषय में स्पष्ट और निर्दुष्ट मत नहीं दे पाये। जैसा कि हमने पूर्व स्पष्ट कर दिया है।

परन्तु इससे उनकी टीका का महत्व कम नहीं होता क्योंकि पुण्यराज की टीका न केवल कारिकाओं अपितु आचार्य भर्तृहरि की वृत्ति के सम्यक् अध्ययन के लिए भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है क्योंकि आचार्य भर्तृहरि की वाक्यकाण्ड पर लिखी गई वृत्ति खण्डित रूप में ही उपलब्ध होती है तथा जो उपलब्ध है वह भी दुरूह एवं अतिगूढ़ है।

इस प्रकार पुण्यराज ने विशद एवं प्रांजल शैली द्वारा वाक्यकाण्ड को पाठकों के लिए सुग्राह्य बना दिया तथा आचार्य भर्तृहरि के मतों को पाठकों को ग्रहण कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

—o—

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

लेखक का नाम	शीर्षक	प्रकाशन (क)	सन्
अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	ए स्टडी ऑफ वाक्यपदीय इन द लाइट ऑफ एनश्येण्ट कमेन्ट्रीज	पूना	1967
अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड भाग, 1-2, हेलाराज टीका सहित	पूना	1963
अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	वाक्यपदीय सवृत्ति प्रथम-काण्ड	पूना	1965
अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	वाक्यपदीयम्, प्रथम-काण्ड भर्तृहरिवृत्ति तथा वृषभदेव टीका सहित	पूना	1966
अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	वाक्यपदीय, काण्ड 2	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	1975
अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	स्फोटसिद्धि (मण्डन मिश्र)	डेकन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट	1966
आप्टे	संस्कृत हिन्दीकोश		
अभ्यंकर के०वी० एवं लिमये वी०पी०	वाक्यपदीयम्	पूना	1975
कार्डोना (जार्ज)	पाणिनि, सर्वे ऑफ रिसर्च	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	1980
कौण्डभट्ट	वैयाकरण भूषणसार	चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी	1969

गैरोला, वाचस्पति	संस्कृत साहित्य का इतिहास		
चक्रवर्ती प्रभातचन्द्र	दि फिलासफी ऑफ सेण्टेन्स एण्ड इट्स पार्ट्स	कलकत्ता	1930
चक्रवर्ती, प्रभातचन्द्र	लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन्स ऑफ दि हिन्दुस	कलकत्ता	1933
जैमिनि	मीमांसा दर्शन	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली	
त्रिपाठी, राम सुरेश	संस्कृत व्याकरण दर्शन	राजकमल प्रकाशन	1972
द्विवेदी, कपिलदेव	अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन	हिन्दुस्तान एकेडेमी इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश	1951
नागेश	वैयाकरण सिद्धान्त लघु-मञ्जूषा	चौखम्बा संस्कृत संस्थान	1973
पतञ्जलि	महाभाष्य, प्रदीप-उद्योत सहित	हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, रोहतक	1962
पिल्लै, के० राघवन	वाक्यपदीय काण्ड 1, 2	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	1971
मजूमदार, प्रदीप कुमार	दि फिलासफी ऑफ लेंग्वेज	संस्कृत पुस्तक भण्डार कलकत्ता	1977
मम्मट	काव्य प्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि की व्याख्या	वाराणसी	1960
महावीर (डा०)	पाणिनि एज ग्रमेरियन	भारतीय विद्या प्रकाशन	1978
	समर्थ थोरी ऑफ पाणिनि एण्ड सेण्टेन्स डेरिवेशन	मुंशीराम मनोहरलाल	1984

मिश्र, श्री नारायण	काशिका सटिप्पण (प्रकाश, हिन्दी व्याख्या सहित)	चौखम्बा संस्कृत सिरीज	1969
मिश्र, मण्डन	स्फोटवाद		
राजा, के० कुन्जुनी	इण्डियन थ्योरीज ऑफ मीनिंग	आड्यार	1963
वर्मा, सत्यकाम	संस्कृत व्याकरण की दार्शनिक भूमिका	मुंशीराम मनोहरलाल	1971
वर्मा, सत्यकाम	भाषातत्व और वाक्य-पदीय		
वर्मा, सत्यकाम	वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड	मुंशीराम मनोहरलाल नई दिल्ली	1970
व्यास एवं पाण्डेय	संस्कृत साहित्य की रूपरेखा		
शर्मा, रघुनाथ	वाक्यपदीयम्, द्वितीयो भाग: अम्बाकर्त्री व्याख्या समलङ्कृतम्	वारणसेय-संस्कृत विश्वविद्यालयः	1968
शर्मा, रघुनाथ	वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, अम्बाकर्त्री टीका सहित	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय, सरस्वती भवन ग्रन्थ-माला	1976
शास्त्री, गौरीनाथ	फिलासफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग	कलकत्ता	1959
शास्त्री, शिवनाराण	निरुक्तमीमांसा	इण्डोलोजिकल बुक हाउस वाराणसी,	
सुब्बाराव, वेलरी	दि फिलासफी ऑफ सेन्टेन्स एण्ड इट्स पार्ट्स	मुंशीराम मनोहरलाल दिल्ली	1969

लेख सूची

लेखक का नाम	शीर्षक	जर्नल्स	सन्
अक्लूजकर, अशोक	दि ऑथरशिप ऑफ वाक्यकाण्ड टीका	चारुदेव शास्त्री फेलिसिलेशन वाल्यूम	1974

अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	प्रतिभा एज ए मीनिंग आफ सेन्टेन्स	प्रोसीडिंग्स ऑफ ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स वाल्यूम 10	
अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	भर्तृहरि ऑन प्राईमरी एण्ड सेकेन्ड्री मीनिंग्स ऑफ वर्ड्स	एस०एम० कत्रे फेलिसिलेशन वाल्यूम	
अय्यर, के०ए० सुब्रह्मण्या	दि डॉक्ट्रिन आफ स्फोट	जर्नल ऑफ गंगानाथझा रिसर्च इन्स्टीट्यूट	1948
कविराज, गोपीनाथ	दि डॉक्ट्रिन ऑफ प्रतिभा इन इण्डियन फिलॉसफी	एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वाल्यूम 5	1930
देवस्थली, जी०वी०	वाक्य एकॉर्डिंग टू मुनित्रय ऑफ संस्कृत ग्रामर	चारुदेव शास्त्री फेलिसिलेशन वाल्यूम	1974
मतिलाल, बी०के०	इण्डियन थ्योरीज ऑन दि नेचर ऑफ सेन्टेन्स	फाउन्डेशन ऑफ लैंग्वेज वाल्यूम 2	1966
डा० महावीर	अनभिहिते इन पाणिनि ए की नोट टू सिन्टेक्स		
डा० महावीर	वाक्य इन पाणिनि ?		
डा० महावीर	कान्सेप्ट ऑफ शब्द इन पाणिनि	विश्वेश्वरानन्द भारत-भारती लेखमाला	1982
डा० महावीर	वाक्य इन पाणिनि ?		
डा० महावीर	पाणिनि का शब्द, एक महत्वपूर्ण भाषिक तत्व	केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय शिक्षा विभाग, मानव संस्थान मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'भाषा'	1986
राजा, सी० कुन्हन	इण्डियन थ्योरीज ऑफ होमोफोन्स एण्ड होमोनिम्स	आड्यार लायब्रेरी बुलेटिन वाल्यूम 14	

शर्मा, के०ए०	ग्लीनिंग्ज़ फ्राम दि कमेन्ट्रीस ऑफ वाक्य-पदीय	एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट वॉल्यूम 23	
शास्त्री, चारुदेव	भर्तृहरि, ए क्रिटिकल-स्टडी विद स्पेशल रेफरेन्स टू इट्स कमेन्ट्रीस	प्रोसीडिंग्स ऑफ ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स वॉल्यूम 5	1930
शास्त्री, बी०ए० रामस्वामी	मुख्य और गौण वर्ड्स इन लैंग्वेज	बुलेटिन डेकन कालिज रिसर्च इन्स्टीट्यूट वॉल्यूम 14	

—०—